

काव्यशास्त्र

डॉ० यतीन्द्र तिवारी
प्राचार्य
आर्मापुर स्नातकोत्तर महाविद्यालय
आर्मापुर (कानपुर)



सरस्वती प्रकाशन
बौद्धनगर, नौबस्ता, कानपुर

मूल्य : १७५.००

पुस्तक
काव्यशास्त्र
लेखक
डॉ० यतीन्द्र तिवारी
प्रकाशक
सरस्वती प्रकाशन
बौद्धनगर, नौबस्ता, कानपुर
मुद्रक
मधुर प्रिण्टर्स किदवई नगर, कानपुर
प्रकाशन वर्ष
जनवरी, 1992

आमुख

काव्यशास्त्र का सामान्य अर्थ 'काव्य का शासन' किन्तु यह अर्थ अधिक उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि विधि-निषेध की सीमाओं में काव्य को बांधा नहीं जा सकता है। इसलिये काव्यशास्त्र का उपयुक्त अर्थ 'काव्य-विषय का प्रतिपादन' करना ही सार्थक है। क्योंकि काव्य का विषय क्षेत्र व्यापक है विविध विषयों का उसमें समावेश है। अत: विवेच्य विषयों का शास्त्र सम्मत अनुशीलन और उनमें निहित सौन्दर्य का संधान करना ही काव्यशास्त्र का ध्येय निर्धारित होता है।

संस्कृत वाङ्मय में काव्यशास्त्र के विविध शब्दों का प्रयोग हुआ है। यथा–काव्यशास्त्र, काव्यालंकार, अलंकार शास्त्र, साहित्य शास्त्र और क्रियाकल्प आदि। इन सभी में आचार्यों ने अलंकार को व्यापक परिधि में रखकर उसे गरिमा प्रदान की, यहाँ तक कि 'वक्रोक्ति जीवितम्' के रचयिता आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ का नाम तो 'वक्रोति' के आधार पर ही रक्खा है किन्तु ग्रन्थ के मूल कारिका भाग को काव्यालंकार कहा है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में अलकार-चिन्तन का प्रभाव स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में पाँच काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा हुई है। जो इस प्रकार है–अलंकार-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय और वक्रोति-सम्प्रदाय इनमें प्रथम चार का परवर्ती समीक्षा पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। वैसे संस्कृत के इन काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का जिस शैली से अध्ययन होता रहा है, उसमें परम्परानुगत विमर्श ही प्रधान रहा है किन्तु हिन्दी काव्यशास्त्रीय परम्परा का परम्परा-गत अनुसरण न करके उसे अपने मूल में प्रतिष्ठित करते हुए पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन परम्पराओं से भी चिन्तन सूत्र ग्रहण कर काव्य के लिये एक विस्तृत विवेचन फलक प्रदान किया है।

संक्षेप में डॉ० तिवारी ने 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र' पुस्तक में भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का विवेचन करने के साथ-साथ हिन्दी काव्यशास्त्र को भारतेन्दु युग से अद्यतन युग की देन पर भी विचार किया है। मुझे विश्वास है कि यह कृति सहजरूप में काव्यशास्त्र परम्परा को पूरे विस्तृत आयोग में समझने में सहायक होगा।

कुलपति
कानपुर विश्वविद्यालय
कानपुर

डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

दो शब्द

भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा है जिसका विश्व के सभी प्राचीन साहित्य के समीक्षा शास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र पर समीक्षाशास्त्र के सम्बन्ध में यह निर्णय अभी तक नहीं किया जा सका कि यथार्थत: उसका विकास कब से और कैसे हुआ है किन्तु यह अवश्य है कि भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट देखी जा सकती है। छन्द शास्त्र का पुष्ट रूप तो वेद के गायत्री, त्रिष्टुप, जगती तथा उनके विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता है इसी प्रकार अलंकार शास्त्र भी उसमें पूर्णरूप से विद्यमान है तदुपरान्त आचार्य भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के साथ तो काव्यशास्त्र अपने समृद्ध रूप में व्यक्त हुआ है। जहाँ तक प्राचीन पाश्चात्य समीक्षा का प्रश्न है उसका भी स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हुआ। ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व तक इसके संकेत अवश्य मिलते हैं। यद्यपि ये संकेत समीक्षा का सम्यक् निदर्शन तो नहीं करते किन्तु परवर्ती युग में इनकी विविध रूपों में व्याख्या की गई है और सिद्धान्तों तथा विचारों के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा परम्पराओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि दोनों का प्रचार हजारों वर्ष पूर्व से रहा है। जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा में संस्कृत तथा हिन्दी की रीतिकालीन परम्पराओं की चर्चा की जाती है तथा भरत मुनि के नाट्यशास्त्र' को शीर्ष ग्रन्थ का प्रदान किया जाता है ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य समीक्षा में यूनानी परम्परा की समाप्ति के पश्चात् रोमी तथा अंग्रेजी परम्पराओं का विकास माना गया है तथा अरस्तु की कृति 'पोइटिक्स' को शीर्ष ग्रन्थ का स्थान प्रदान किया गया है।

सामान्य रूप से दोनों ही समीक्षा पद्धतियों की विकास परम्परा ने समानता होते हुए भी दृष्टिकोणगत अन्तर है पाश्चात्य समीक्षा में मूल रूप से काव्य अथवा साहित्य के भेदों का स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं के बराबर हुआ है, जबकि भारतीय समीक्षा में उनका स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण

विवेचन हुआ है। जिसका मुख्य कारण यह है कि पाश्चात्य-साहित्य में काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र आदि को परस्पर भिन्न समझकर उन पर स्फुट रूप से अलग-अलग विचार किया गया है जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप, काव्य की आत्मा, काव्य के हेतु, काव्य के उद्देश्य, काव्य-गुण, दोष, अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, तथा काव्यभाषा आदि का सम्यक् विवेचन किया गया है तथा काव्यशास्त्र को सर्वथा स्वतन्त्र विषय मानकर शास्त्रीय दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की गई है। यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र कहीं अधिक समृद्ध, तर्कसंगत और सुसंगठित रूप में विकसित हुआ है। प्रस्तुत कृति में इसी दृष्टि से काव्य एवं काव्यागों के शास्त्रीय विवेचन को प्रस्तुत किया गया है।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक साहित्य एवं साहित्य शास्त्र के जिज्ञासुओं को साहित्य के शास्त्रीय पक्ष से परिचय करा सकेगी।

डॉ० यतीन्द्र तिवारी

अनुक्रमणी

काव्यशास्त्र एक परिचय

भारतीय काव्यशास्त्र की संक्षिप्त रूप-रेखा

भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ सामान्यत: भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' (लगभग प्रथम शती ई०) से माना जाता है। आचार्य भरत से लेकर अब तक के साहित्य-शास्त्र के इतिहास को हम सामान्यत: 5 कालों में विभक्त कर सकते हैं।

1. **स्थापना काल**–पहली शताब्दी से 5वीं शताब्दी के अन्त तक।
2. **नव-अन्वेषण काल**–6वीं शताब्दी से 11वीं शताब्दी के अन्त तक।
3. **संशोधनकाल**–12वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के अन्त तक।
4. **पद्यानुवाद काल**–17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के अन्त तक।
5. **नवोत्थान काल**–19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से अब तक।

1. स्थापना काल (पहली शती से 5वीं शती तक)

यद्यपि आचार्य 'भरत' से भी पूर्व अनेक काव्यशास्त्री हो गये होंगे, किन्तु इस काल के उपलब्ध ग्रन्थों में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का नाम प्रथम आता है, अत: आचार्य भरत को ही भारतीय काव्यशास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने नाट्यकला का सर्वांगीण विवेचन करने के साथ-साथ नाटक से सम्बन्धित अन्य कलाओं तथा काव्य के भी विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डाला। उनकी सबसे बड़ी देन रस-सिद्धान्त है। उन्होंने कहा—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति:"

अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव (संचारीभाव) के संयोग से रस-निष्पति होती है। इस रस सिद्धान्त के अनुसार काव्य (साहित्य) का लक्ष्य पाठक या श्रोता की भावनाओं को उद्वेलित करके उसे आनन्द प्रदान करना है इसी आनन्द को साहित्य-शास्त्रीय-शब्दावली में 'रस' कहते हैं। यह उद्देश्यपूर्ति तभी सम्भव है, जब सारी-रचना के केन्द्र में एक स्थायीभाव स्थित रहे तथा उसके विभिन्न अंश उसी स्थायी भाव के विभिन्न अवयवों के रूप में स्थित रहें। वे अवश्य तीन हैं–विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। ये तीनों स्थायीभाव के घटक तत्व हैं। इन्हीं के माध्यम से स्थायी भाव प्रस्तुत होता है। इस प्रकार 'रस-निष्पत्ति'-सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव किया,

उनके परवर्ती व्याख्यताओं ने । उन्होंने इस सूत्र की अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए 'रस-सिद्धान्त' का विकास कई रूपों में किया । आचार्य भरत ने 'रस-सिद्धान्त' के रूप में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जो आज भी प्रचलित एवं मान्य है ।

2. नव-अन्वेषण काल (6वीं शती से 11वीं शती तक)

भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वतोन्मुखी विकास इस काल में हुआ । इसी काल में एक ओर भामह (6वीं शती) दन्डी (सातवीं शती) वामन (8वीं शती) आनन्दवर्द्धनाचार्य (10वीं शती) एवं क्षेमेन्द्र (11वीं शती) जैसे मौलिक चिन्तक उत्पन्न हुए, जिन्होंने साहित्य के नये-नये तत्वों का अन्वेषण करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की । इधर दूसरी ओर भट्टलोल्लट (8-9वीं शती) शंकुक (9वीं शती) भट्टनायक (9–10 वीं शती) अभिनवगुप्त (10–11वीं शती) राजशेखर (10वीं शती) धनंजय (10 वीं शती) महिम्भट्ट (10–11वीं शती) आदि प्रतिभाओं ने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण एवं तीक्ष्ण खण्डन-मण्डन करते हुए भारतीय साहित्य-शास्त्र को व्यापक एवं गम्भीर रूप प्रदान किया । इस युग की देन को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. नवीन सिद्धान्तों की स्थापना । 2. नवीन व्याख्याएँ ।

नवीन सिद्धान्तों की स्थापना—इस युग में साहित्य-सम्बन्धी 5 नये महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की स्थापना हुई–

1. अलंकार-सिद्धान्त
2. ध्वनि-सिद्धान्त
3. रीति-सिद्धान्त
4. वक्रोक्ति-सिद्धान्त
5. औचित्य-सिद्धान्त

ये सिद्धान्त पर्याप्त मौलिक हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश का प्रेरणा-स्रोत भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र हैं । उपर्युक्त पाँचों सिद्धान्तों में क्रमश: काव्य के पाँच पक्षों पर बल दिया गया है अलंकार में काव्य शैली की वाह्य साज-सज्जा पर, रीति में स्वाभाविक गुणों जैसे (शुद्धता, संक्षिप्तता, स्पष्टता, नाद-सौन्दर्य आदि पर) ध्वनि में उसके अर्थ की व्यंग्यात्मकता पर, वक्रोक्ति में अर्थ की लाक्षणिकता पर और औचित्य में विषय और शैली के पारस्परिक संतुलन पर सर्वाधिक बल दिया गया । इस दृष्टि से प्रथम चार सिद्धान्तों को रूपवादी (Formalist) तथा अन्तिम को वस्तुवादी कहा जा सकता है । रूपवादी सिद्धान्तों में काव्य के रूप को आकर्षक बनाने के लिये क्रमश: चार विधियों पर प्रकाश डाला गया है—1. वाह्य तत्वों द्वारा अलंकरण 2. नाद-सौन्दर्य 3. अर्थ की व्यंग्यात्मकता 4. अर्थ का वैचित्र्य ।

इस काल में एक ओर अलंकारवादियों ने रस को एक अलंकार मात्र मान लिया, तो वक्रोक्तिवादी ने सारे अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता में स्थान देकर अलंकार का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने अलंकार-ध्वनि भेद की कल्पना करके अलंकार सिद्धान्त के सारे वैभव को हस्तगत कर लेना चाहा। दूसरी ओर अलंकारवादियों ने ध्वनि के ही विभिन्न रूपों को 'गूढार्थ-प्रतीतिमूलक' अलंकारों की संज्ञा दे दी। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं क्षेत्र-विस्तार की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ये सिद्धान्त अनिश्चित अमर्यादित एवं अप्रमाणिक हो गये, दूसरी ओर इससे साहित्य-शास्त्र भी अव्यवस्थित एवं असंतुलित हो गया।

नवीन व्याख्यायें—इस युग में नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार के साथ-साथ परम्परागत–मतों की नवीन व्याख्याएँ भी हुईं। इस क्षेत्र में महत्व-पूर्ण कार्य भट्टलोल्लट ने रस सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत कर 'उत्पत्तिवाद' की स्थापना की। आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट की व्याख्या का खण्डन करके 'अनुमितिवाद' की स्थापना की। उन्होंने न्याय-शास्त्र के आधार पर 'अनुमानवाद' को आधार बनाते हुए रस की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्थान पर उनकी अप्रत्यक्ष अनुमिति की सम्भावना को सिद्ध किया। सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भाववादी चिन्तकों ने इम्पैथी (EMPATHY) सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, जिसे भट्टनायक के शब्दों में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त कह सकते हैं 'इम्पैथी' का अर्थ समानुभूति या साधरणीकरण' ही होता है। अस्तु भट्टनायक की देन आधुनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अब तक सभी व्याख्याताओं द्वारा काव्य के पाठक या श्रोता के व्यक्तित्व की उपेक्षा होती रही, अभिनवगुप्त ने इस ओर ध्यान देकर 'अभिव्यक्तिवाद' की प्रतिष्ठा की। उन्होंने कहा काव्यास्वादन से पाठक के हृदय में जन्मजात वासनायें उद्वेलित हो उठती हैं। इन्हीं वासनाओं को आधुनिक मनोविज्ञान में (INSTINCTS) कहते हैं। इस दृष्टि से अभि-नवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त, फ्रायड के वासना-वाद' तथा क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' के अधिक समीप है। अरस्तू और अभिनवगुप्त ने माध्यम के रूप में वासनाओं के विरेचना या अभिव्यक्ति को माना। एक ने केवल दूषित वासनाओं को स्थान दिया, एक ने नहीं। फ्रायड ने कामवासना को महत्व दिया, परन्तु अभिनवगुप्त ने ऐसा नहीं किया। क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध मुख्यतः काव्य-रचयिता की सहजानु-भूति से माना, परन्तु अभिनवगुप्त ने पाठक की सहजप्रवृत्ति से। इस प्रकार अन्तर होते हुए भी अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद अत्यन्तमहत्वपूर्ण रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में सिद्धान्तों एवं व्याख्याओं दोनों के ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य हुए। वस्तुत: इस युग को भारतीय काव्यशास्त्र के लिए स्वर्णयुग कह सकते हैं।

3. संशोधन-काल (12वीं शती से 17वीं शती तक)

इस काल में मम्मट (11वीं 12वीं) रुय्यक (12वीं) हेमचन्द्र (12वीं) जयदेव (13वीं) विश्वनाथ (13वीं 14वीं) जगन्नाथ (17वीं) प्रभृत्ति आदि आचार्य हुए, जिन्होंने किसी नये सिद्धान्त की स्थापना न करके पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों में किंचित् संशोधन एवं समन्वय प्रस्तुत किया। इस युग के आचार्यों में पूर्ववर्ती आचार्यों जैसी कट्टरवादिता का अभाव मिलता है। वे किसी एक ही सिद्धान्त से न बँधकर विभिन्न सिद्धान्तों की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि इनके ग्रन्थों में रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि सभी को थोड़ा-थोड़ा स्थान प्राप्त हुआ। यह दूसरी बात है कि वे किसी को कम महत्व देते हैं और किसी को अधिक, किन्तु उनकी यह समन्वयवादिता किन्हीं प्रौढ़, व्यापक एवं मौलिक दृष्टिकोणों की सूचक नहीं; अपितु सारसंकलन की प्रवृत्ति की द्योतक है। कुछ आचार्यों को छोड़ कर शेष में विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं निष्कर्षों की मौलिकता का प्राय: अभाव है। इस दृष्टि से यह युग भारतीय साहित्य-शास्त्र की जरा-अवस्था का सूचक है।

4. पद्यानुवाद-काल (17वीं से 19वीं शती तक)

इस काल में संस्कृत का स्थान आधुनिक भाषाओं ने ले लिया था, अत: भारतीय साहित्य-शास्त्र अनेक प्रादेशिक-भाषाओं में विभक्त हो गया था। इस युग में हिन्दी में केशव, चिन्तामणि कुलपति, सोमनाथ आदि ने पद्यबद्ध रीति-ग्रन्थ लिखे। एताधिक कवि तो अवतरित हुए, परन्तु शास्त्रीय-विवेचन-कार्य इन कवियों के वश में नहीं था। यही कारण है कि डॉ० भागीरथ मिश्र ने लिखा "हिन्दी के अधिकांश लेखकों (कवियों) का लक्षण भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है··· वे आचार्यत्व के अयोग्य हैं, वे कवि ही प्रधान हैं; उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय-विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं।" अत: चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में कोई योगदान नहीं दिया। हिन्दी के वर्तमान काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योगदान नहीं है।

5. नवोत्थान काल (19वीं शती के अन्तिम से अब तक)

इस काल को भी हम मुख्यत: तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—

1. भारतेन्दु द्विवेदी-युग—1857 ई० से 1925 ई० तक
2. रामचन्द्र शुक्ल-युग—1926 ई० से 1940 ई० तक
3. शुक्लोत्तर-युग—1941 ई० से अब तक ।

प्रथम युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्र बन्धु, श्यामसुन्दरदास आदि विद्वान थे, जिन्होंने अपने कुछ लेखों एवं पुस्तकों में साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' ग्रन्थ में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए प्राचीन-सिद्धान्तों के नवीकरण या प्राचीन और नवीन के समन्वय पर बल दिया। अपने भारतीय एवं पाश्चात्य-साहित्य-शास्त्र के समन्वय की ओर संकेत दिया। आगे चलकर अन्य विद्वानों ने भी भारतीय एवं पाश्चात्य-काव्यशास्त्र की सामग्री को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया। यद्यपि इनमें मौलिकता का अभाव है, किन्तु इन्होंने रीति-कालीन दृष्टिकोण, परम्परा, और शैली को त्यागकर नये दृष्टिकोण और नयी-शैली (गद्य-विवेचन करने की शैली) का प्रवर्तन करके स्तुत्य कार्य किया। शुक्ल युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा परम्परागत साहित्य शास्त्र को नया रूप प्राप्त हुआ। उन्होंने युग की परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्राचीन सिद्धान्तों की निजी दृष्टि से व्याख्या की। विशेषत: 'रस-सिद्धान्त' रसानुभूति एवं रस के विभिन्न स्थायी भावों की भी उन्होंने विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। अस्तु आचार्य शुक्ल की देन महत्वपूर्ण है।

शुक्लोत्तर युग के साहित्य-शास्त्रीय विद्वानों में डॉ० गुलाबराय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र आदि हैं। इन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य-सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध-शैली में प्रस्तुत करके परवर्ती अनुसंधान-कर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य द्विवेदी का मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक-समीक्षा का है, किन्तु उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। आचार्य बाजपेयी का क्षेत्र भी व्यावहारिक समीक्षा का है, परन्तु उनका पाश्चात्य एवं भारतीय शास्त्रों को निकट लाने का स्तुत्य प्रयास है। नगेन्द्र का क्षेत्र साहित्य-शास्त्र है। इस क्षेत्र में उनकी देन तीन रूपों में विभक्त की जा सकती है–1. आधुनिकता, मौलिकता से युक्त परम्परागत भारतीय रस सिद्धान्त की नवीन व्याख्या 2. पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय व्याख्याओं को हिन्दी में प्रस्तुत करना 3. प्राचीन एवं नवीन, भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्वों की पारस्परिक तुलना के द्वारा उनके सापेक्ष महत्व का दिग्दर्शन कराया है इस प्रकार इस काल

में काव्यशास्त्र का सर्वांगीण विकास हुआ है।

पाश्चात्य काव्य की संक्षिप्त रूप-रेखा

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास को सामान्यत: तीन कालों में विभक्त किया जाता है –

1. प्राचीनकाल–(5वीं शती ई० पू० से 4 शती ई० पू०)
2. मध्यकाल–(5वीं शती से 15वीं शती तक)
3. आधुनिक काल–(16वीं शती से अब तक)

प्राचीन काल–इस काल के आचार्यों में प्लेटो (427 ई० पू०–347 ई०) अरस्तू (384 ई० पू०–322 ई० पू०) लोंजाइनस (पहली शती) होरेस (65 ई० पूर्व 8 ई० पू०) सिसरो (106–43 ई०) डिमैट्रियस (प्रथम शती) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्लेटो

प्लेटो मूलत: साहित्य-शास्त्री नहीं थे। उन्होंने 'गणतन्त्र' में राजनीति के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए काव्य के सम्बन्ध में भी चर्चा की। उन्होंने दो तथ्यों पर प्रकाश डाला–

(1) काव्य प्रकृति की अनुकृति है (2) काव्य हमारी भावनाओं को उद्वेलित करता है। उसने एक स्थल पर लिखा है–"अत: अब हमारे लिए यह न्याय होगा कि हमें जिस देश को सुशासित रखना है, उनमें कवि का प्रवेश निसिद्ध कर दें, क्योंकि वह आत्मा के इस दुर्बल अंश को जागृत, पोषित और परिपुष्ट करता है तथा विवेक अंश का क्षय करता है।"

अरस्तू

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने उपर्युक्त दोनों तथ्यों को स्वीकार करते हुए कविता को महत्वपूर्ण स्थान दिया उन्होंने दो सिद्धान्तों को रूप दिया– 1–अनुकृति सिद्धान्त 2–विरेचन सिद्धान्त, जहाँ प्लेटो ने अनुकृतिजन्य आदन्द को मिथ्या वस्तु पर आधारित आनन्द घोषित किया था, वहाँ अरस्तू ने इसे ज्ञानार्जनजन्य आनन्द माना। ज्ञान के अर्जन में अत्यन्त प्रबल-आनन्द प्राप्त होता है। अरस्तू ने प्लेटो के इस आक्षेप का निराकरण करने का प्रयास किया कि काव्य अनुकरण-मूलक होने के कारण अज्ञान या मिथ्या का प्रचार करता है या काव्यजन्य आनन्द मिथ्या आनन्द है। अवश्य ही उन्हें सफलता मिल गई हो, किन्तु प्रतिपादन में कुछ असंगतियाँ अवश्य आ गईं।

'अरस्तू' ने काव्य के सम्बन्ध में विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन

किया। उन्होंने विरेचन पर विवेचन करते हुए 'त्रासदी' के बारे में लिखा "त्रासदी किसी गम्भीर स्वत:पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसमें करुण तथा 'त्रास' के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" वस्तुत: अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त केवल त्रासदी पर ही आधारित होने के कारण एकांगी एवं अपूर्ण है। वासनाओं की अभिव्यक्ति भारतीय आचार्य अभिनवगुप्त ने भी मानी है, किन्तु उनका 'अभिव्यक्तिवाद' केवल 'त्रासदी' पर ही आधारित नहीं, सभी प्रकार के कार्यों पर लागू होता है। अत: वह अधिक व्यापक एवं संगत है। इस दृष्टि से 'विरेचन' का भी अर्थ अभिव्यक्ति' करते हुए, उसे अधिक व्यापक एवं संगत रूप दिया जा सकता है। त्रुटियों के होते हुए भी अरस्तू का काव्य-विवेचन बहुत प्रौढ़ है। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों एवं उसके तत्वों की बहुत स्पष्ट रूप में व्याख्या की है। इसीलिए वे समस्त पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं।

लोंजाइनस

लोंजाइनस ने काव्य में उदात्त-तत्त्व का विवेचन किया। उन्होंने उदात्तता या औदात्य को ही काव्य के आत्म-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—"सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठ कर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानों जो कुछ हमने सुना है, वह स्वयं अपनी की कृति हो।" अस्तु उनके विचार से काव्यजन्य आनन्द का मूल-कारण काव्यगत औदात्य की ही हैं। जिसके उन्होंने पाँच उद्गम श्रोत बताये हैं—

1. विचारों की महानता।
2. भावों का उद्दाम एवं शक्तिशाली प्रतिपादन।
3. अलंकारों की समुचित योजना।
4. उत्कृष्ट अभिव्यक्ति।
5. गरिमामय रचना विधान।

इन सभी स्रोतों के पीछे वस्तुत: लेखक या कवि के व्यक्तित्व की महानता निहित होती है, क्योंकि उनके विचारों से महान आत्माओं की वाणी से ही औदात्य की झंकृति होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने साहित्य के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसीलिए उन्हें प्रथम स्वच्छन्तावादी या व्यक्तिवादी आलोचक होने का गौरव प्राप्त है।

इस काल के सभी आचार्यों में 'होरेस' का स्थान महत्वपूर्ण है।

उन्होंने काव्य के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालते हुए 'औचित्य' पर विशेष बल दिया है। उनके शब्दों में "यदि वक्ता के शब्द परिस्थिति के अनुकूल नहीं, तो सम्पूर्ण भूमिवासी उच्च-वर्ग के हों या निम्नवर्ग के–"उस पर जी खोलकर हँसेंगे।" वस्तुत: उनका 'औचित्य-तत्त्व' संगति, सामञ्जस्य आदि गुणों को ही समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। आगे चलकर सिसरो, क्विण्टिलियन, डिमैट्रियस आदि आचार्यों ने शैली पक्ष पर अधिक बल देते हुए अलंकार एवं गुण-दोषों की विवेचना विस्तार से की है। अलंकारों के सूक्ष्म-विश्लेषण की दृष्टि से समस्त पाश्चात्य-काव्य-शास्त्र में क्विण्टिलियन एवं डिमैट्रियस का सर्वोच्च स्थान है।

अस्तु, इस काल में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का सर्वांगीण विकास परिलक्षित होता है। प्लेटो से डिमैट्रियस तक विभिन्न आचार्यों ने काव्य की सर्जन-प्रक्रिया, उसकी आस्वादन-प्रक्रिया, उसके भाव-पक्ष, विचार-पक्ष, शैली-पक्ष आदि विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए अनेक नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जो पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं।

मध्यकाल–इस काल में बौद्धिक चिन्तन को महत्त्व दिया गया।

दान्ते

इस युग के साहित्य-चिन्तकों में मुख्यत: इटैलियन साहित्यकार दान्ते का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने एक ओर अपने 'डिवाइन कामेडी' में अन्योक्ति पद्धति की सम्यक् रूप में प्रतिष्ठा की, तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये। उन्होंने परम्परागत मृत-भाषा के स्थान पर जीवित जनभाषा का प्रयोग उचित समझा। काव्य के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए तीन विषयों को युद्ध प्रेम और नैतिक-सौन्दर्य को उत्तम घोषित किया। काव्य-शैली का भी उन्होंने निजी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये। अस्तु, दान्ते ने काव्य-शास्त्र के कई पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक युग–पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक युग का सूत्रपात करने का श्रेय अधोलिखित विद्वानों को प्राप्त है–

फिलिप सिडनी

फिलिप सिडनी ने Defence of Poest में सुधारवादियों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए कहा कि कविता अनाचार और अनैतिकता का प्रचार करती है। आप ने नीतिवादियों के आक्षेपों का खण्डन करते हुए कहा कि काव्य मनुष्य को सभ्य और सुसंस्कृत बनाता है। वह नैतिकता की

शिक्षा, प्रभावशाली ढंग से दे सकता है तथा वह आदर्श एवं श्रेष्ठ जगत कल्पना प्रस्तुत करता है। इस प्रकार 'सिडनी' ने अपने लेख के माध्यम से काव्य सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोणों को बदलने का स्तुत्य प्रयास किया।

ड्राइडन

सत्रहवीं शताब्दी के आलोचकों में 'ड्राइडन' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में अनेक नूतन स्थापनायें प्रस्तुत कीं, जो इस प्रकार हैं–

1. कवि का कार्य जीवन को स्वाभाविक रूप में चित्रित करना है।
2. कविता का मुख्य लक्ष्य आनन्द देना, शिक्षा देना गौण है।
3. कवि बिम्बों के माध्यम से भावनाओं का चित्रण करता है।
4. कवि कल्पना-शक्ति के आधार पर काव्य रचना करता है।
5. अरस्तू के "संकलन-त्रय" का निर्वाह आवश्यक नहीं है।

ड्राइडन की इन नई मान्यताओं के कारण परम्परागत धारणाओं पर तीखा-प्रहार हुआ। विशेषत: कवि-कल्पना-सम्बन्धी मत से अरस्तू का अनुकृति सिद्धान्त निराधार सिद्ध हो जाता है।

पोप

अठारहवीं शती के साहित्य-चिन्तकों में पोप, जानसन, लेसिंग, शिलर और गेटे का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पोप ने कविता में स्वाभाविकता एवं भावात्मकता को प्रमुखता प्रदान की–"प्रकृति की भाँति कविता भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है, उसके पृथक्-पृथक् अंग प्रत्यंगों की सुडौलता ही नहीं होती, वरन् सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पक्ष परिणाम की संज्ञा है।" पोप ने स्वाभाविकता एवं सहजता का अनुमोदन करते हुए भी काव्याभ्यास का समर्थन किया। इस प्रकार साहित्य की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

डॉ० जानसन

डॉ० जानसन अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली आलोचक माने गये हैं। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को नये रूप में प्रस्तुत करते हुए उनका दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। उन्होंने कहा, "काव्य न केवल आनन्द प्रदान करता है, वह हमें शिक्षा भी प्रदान करता है।" प्राचीन और नवीन के बीच उन्होंने समन्वयवादी मार्ग अपनाया "लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परम्परा में भेद करना होना चाहिए–इन दोनों का भेद उसे हृदयंगम कर लेना चाहिए, जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य

सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे।"......अपनी नीतियों के कारण उन्होंने 'त्रासदी' और 'कामदी' आदि के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का बहिष्कार निर्ममतापूर्वक किया।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक मूलत: साहित्य-सर्जन थे, किन्तु उन्होंने साहित्य की समस्याओं पर भी गौणरूप से विचार किया है।

लेसिंग

लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर अधिक बल दिया। गेटे ने काव्य के विभिन्न रूप-भेदों और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हुए क्लासिक काव्य को स्वस्थ प्राणवान एवं आनन्दमयी तथा रोमांटिक काव्य को रुग्शा, दुर्बल एवं विकृत सिद्ध किया। कविता की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भी उन्होंने मौलिक सामग्री की अपेक्षा परम्परागत वस्तु को ही अपनाने की सलाह देते हुए नये कवियों को बताया कि उन्हें अपने आत्मतत्त्व के अनुकूल ही विषय-वस्तु का चयन करना चाहिए। उन्होंने अरस्तू के काव्यशास्त्र में नयामोड़ या परिशिष्ट जोड़कर अरस्तू के अनेक संदिग्ध मतों की व्याख्या करने का भी प्रयास किया।

'शिलर' मूलत: नाटककार था। उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेखों में सौन्दर्य सिद्धान्तों के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। इन जर्मन साहित्यकारों ने साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं को युग परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर विचार किया।

उन्नीसवीं शती में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का प्रवर्तन एवं विस्तार हुआ, जिसके अग्रगामी नेताओं में वर्ड्सवर्थ, कालरिज और 'शैली' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में रूढ़िवादिता, शास्त्रवादिता, नियमबद्धता, विचारात्मकता एवं पूर्वाभ्यास की पद्धति का विरोध करते हुए नवीनता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सहजता की प्रतिष्ठा की।

वर्ड्सवर्थ

वर्ड्सवर्थ ने लोकभाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार किये जाने का समर्थन किया और उन्होंने काव्य को अभ्यास एवं कौशल द्वारा रचित न मानकर शान्त-क्षणों के सहज भावोद्रेक के रूप में रचित स्वीकार किया। कवि के लिए शिक्षा, नैतिकता एवं उपदेश देने के बन्धन को उन्होंने अनुचित बताते हुए आनन्द को ही काव्य का मूल लक्ष्य स्वीकार किया।

कालरिज

इसी प्रकार कॉलरिज ने कविता का विरोध गद्य से न मानकर विज्ञान से माना। काव्य मौलिक रचना नहीं, अपितु अनुकृति है। इस स्थान पर कुठाराघात करते हुए उन्होंने कल्पना सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जिससे प्रमाणित हो जाता है कि कल्पनाजन्य कृति होने के कारण काव्य को नूतन सृष्टि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। शैली ने भी वर्ड्सवर्थ एवं कॉलरिज के सिद्धान्तों का समर्थन पूरी शक्ति से किया। अस्तु परम्परागत मान्यताओं में परिवर्तन एवं संशोधन करने की दृष्टि से स्वच्छन्तावादी काव्य चिन्तकों का बहुत महत्त्व है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे विचारकों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करते हुए स्वच्छन्दता वैयक्तिता एवं आनन्दवादिता के स्थान पर पुन: मर्यादा, सामाजिकता एवं उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया–इनमें मैथ्यू आर्नाल्ड, रस्किन, टॉलस्टॉय आदि प्रमुख थे।

आर्नाल्ड

आर्नाल्ड ने साहित्य को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकार करते हुए नैतिक मूल्यों एवं मानवहित को काव्य के लिए श्रेयस्कर सिद्ध किया। उन्होंने काव्य की विषय वस्तु के रूप में भी उदात्त-कार्यों एवं चिरन्तन भावनाओं को अपनाए जाने का समर्थन किया।

आर्नाल्ड की ही भाँति रस्किन और टॉलस्टॉय ने भी कला और साहित्य को जीवन के उच्च आदर्शों से सम्बन्धित किया। जहाँ रस्किन ने कला को आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्वों की अभिव्यक्ति के एक पवित्र माध्यम का रूप दिया, वहाँ टॉलस्टॉय ने उसे हमारी उदात्त भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति से 'युक्त' सिद्ध किया। अस्तु, इन आचार्यों ने काव्य की लोकहितवादी दृष्टिकोण से व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

बीसवीं शताब्दी का काव्यशास्त्र विभिन्न वादों एवं बहुमुखी प्रवृत्तियों से ग्रस्त रहा है। इनमें मुख्यत: कलावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्लेषणवाद, समाजवादी या प्रगतिवादी-विचारधाराएँ विशेष उल्लेखनीय हैं, इन वादों एवं प्रवृत्तियों के उन्नायकों ने एकांगी-दृष्टिकोण से साहित्य की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, जो परस्पर विरोधी हैं। इनसे साहित्य का स्वरूप स्पष्ट कम हुआ है, उसके सम्बन्ध में मिथ्या धारणाओं एवं भ्रान्तियों का प्रचार अधिक हुआ है। इन मतान्तरों के कारण आज समीक्षा के क्षेत्र में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गई

थी। जिस तत्त्व को एक आचार्य गुण मानता था, उसी को दूसरा आचार्य दोष मानता था। ऐसी परिस्थिति में आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट रीड, एफ० एल० ल्यूक्स जैसे विद्वानों ने साहित्यशास्त्र को विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। किन्तु इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य बाकी है। श्री हरबर्ट डिगले तथा अन्य कई साथियों ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का आन्दोलन चलाया, जो वर्तमान परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल है। वस्तुत: आज साहित्यशास्त्र को देशकाल की संकीर्ण सीमाओं से युक्त करके व्यापक वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर भी साहित्य-मूल्यों की पुन: स्थापना एवं साहित्यिक एवं असाहित्यिक तत्त्वों का निर्णय सम्यक् रूप से किया जा सकेगा। □

आलोचना की परिभाषा

'आलोचना' शब्द 'लुच' धातु से बना है (आ+लुच्+युच्+टाप्)। लुच् का अर्थ है 'देखना'। इसे इस रूप में ग्रहण किया जाता है कि किसी कृति को देखना। देखना से अभिप्राय है कि उसकी व्याख्या करना एवं सम्यक् मूल्यांकन करना।

आलोचना के प्रारम्भिक काल में 'आलोचना' का अर्थ केवल छिद्रान्वेषण ही समझा जाता रहा है, अर्थात् किसी कृति के दोष एवं न्यूनता मात्र को स्पष्ट कर लेखक से एक सर्वथा विरोधी दृष्टिकोण रखते हुए उसकी कृति पर आहार-प्रहार करना था। छिद्रान्वेषण का यह संकुचित अर्थ आलोचना के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित एवं उसके स्वरूप को अत्यन्त विकृत बना देता था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नवीन विचारधारा के अनुसार आलोचना का अर्थ किसी रचना विशेष की विशेषताओं की ओर संकेत करके न्यूनताओं की ओर आँखें फेरना ही नहीं, उस पर आवरण डालना ही आलोचना का धर्म समझा गया; पर इन चरमपन्थियों का मत भी सर्वमान्य न हो सका।

एक वर्ग के विद्वानों द्वारा किसी रचना की मात्र विशेषताओं को स्पष्ट करना हितप्रद नहीं समझा गया, क्योंकि न्यूनताओं के प्रकाशन न होने से रचनाओं को श्रेष्ठता की सीमा में ही रखना माना जाता है। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थकों का कहना था कि यदि मात्र न्यूनताओं की ओर ही संकेत किया गया तो श्रेष्ठ साहित्य की रचना युग में कभी नहीं हो सकेगी और लेखको का दल अपनी रचना के पर्याप्त स्वागत न होने एवं उचित मूल्यांकन के अभाव में निराशा एवं कटुता के वातावरण में लेखन-कार्य से विमुख हो जायेगा। इस विरोधाभास की स्थिति में एक समन्वित-विचारधारा का प्रतिपादन किया गया, जिसके अनुसार किसी कृति की विशेषताओं एवं न्यूनताओं दोनों की ओर संकेत करना आलोचना का अर्थ समझा जाने लगा।

कुछ समय पश्चात् आलोचना के अर्थ में परिवर्तन हुआ और यह मत निश्चित किया गया कि आलोचना को तुलनात्मक पद्धति अपनानी चाहिए अर्थात् आलोचना का वास्तविक अर्थ यह होना चाहिए कि—

"आलोचना सिद्धान्तों के आधार पर, प्रचलित मान्यताओं के आधार पर और उसी क्षेत्र एवं स्तर की दूसरी पुस्तक से किसी रचना विशेष की तुलना करके अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में अपना निर्णय मात्र दे दे।"

परन्तु कुछ आलोचकों ने आलोचना का अर्थ यह भी लगाया कि किसी कृति की परख ज्यों की त्यों करने में ही आलोचना के अर्थ की चरम अभिव्यक्ति होती है। इसके साथ ही यह प्रश्न उठाया गया कि इस परख की कसौटी क्या होनी चाहिए? फिर इस प्रश्न का समुचित उत्तर न मिल सकने के कारण जिस तीव्र-गति से यह प्रश्न उठाया गया था उसी गति से यह विवाद-ग्रस्त वातावरण में समाप्त हो गया।

उपर्युक्त विचारधाराओं के अलावा अन्य विचारधारा भी प्रचलित हुई–

"But criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality curiosity and disinterested lone of a free play of mind it obeys an instinct prompting to try know the best is known and thought in the World."

–"Mathue Arnold"

"वास्तविक आलोचना इस सृष्टि के सोच और ज्ञातव्य के सर्वोत्तम स्वरूप का अन्वेषण करने का साधन है।"

वस्तुत: विभिन्न-विचारधाराओं के मध्य प्रश्न उठता है कि आलोचना का वास्तविक अर्थ क्या होना चाहिए? आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अराजकता का प्रसार दृष्टिगोचर होता है। आलोचकों की अपनी-अपनी विचारधाराओं को लेकर विभिन्न वर्ग बन गए हैं। इस प्रकार गद्दीधारी आलोचकों के वर्ग बने हुए हैं, जिसके फलस्वरूप आलोचना हिन्दी के विकास-पथ में सबसे बड़ी अवरोधक शक्ति के रूप में प्रसारित हो रही है। किसी लेखक की अच्छाई-बुराई और उसकी श्रेष्ठता का निर्णय आज इस आधार पर किया जाता है कि अमुक लेखक किस वर्ग अथवा स्कूल से सम्बन्ध रखता है और उस वर्ग अथवा स्कूल की सक्षमता कितनी है? प्रचार एवं प्रसार कितना है?

हमारा आधुनिक साहित्य अधिक पुराना नहीं, मात्र अस्सी-नब्बे वर्ष पुराना है, जब कि विश्व तथा विशेषतया पाश्चात्य साहित्य में जिन प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं की स्थापना हो चुकी थी, उनका उत्थान और पतन वहाँ का साहित्य देख चुका था और आवश्यकतानुसार संशोधन-परिशोधन कर अथवा समयानुकूल न होने पर सर्वथा नवीन धारणाओं को

जन्म दे चुका था, वैसी स्थिति आज हमारे साहित्य की है।

अत: आलोचना का ऐसी स्थिति में यह प्रमुख कार्य होना चाहिए कि प्रगतिशील जीवन मूल्यों को पूर्ण लेखकीय ईमानदारी के साथ मूर्त कलात्मकता से परिपूर्ण अभिव्यक्ति एवं प्राण प्रदान किये जायें।

"The criticism to direct and dumbe and efficacious. The valuation of the poet is expressed by the place he has voluntarily accoroded in tribal society, the valuation of the poems by their redetition and survival."

—"Gr stopher Cdowell"

साहित्य निर्माण का महान उत्तरदायित्व आलोचक एवं साहित्यकार दोनों पर है। अत: आलोचना का वास्तविक अर्थ होना चाहिए वह मूल्य-मर्यादा रहित साहित्य की उपेक्षा कर (चाहे वह जिस किसी भी द्वारा लिखा गया हो) श्रेष्ठ निर्माणोन्मुख एवं प्रगतिशील तत्वों को आत्मसात् करने वाले साहित्य का उचित मूल्यांकन कर उसके रचनाकारों को उचित दिशा निर्देशन करे कला का सत्य लेखक कहाँ तक प्राप्त कर सका है और पाठक के ऊपर कहाँ तक प्रभाव डाल सका है, इसे स्पष्ट करना ही आलोचना है।

आलोचना का अर्थ आलोचक की अपनी रुचि नहीं, साहित्य की श्रेष्ठता एवं प्रगतिशील मानदण्ड होना चाहिए। श्रेष्ठ आलोचक श्रेष्ठकृतियों को श्रेष्ठ घोषित करने में कभी संकोच नहीं करते और न सीमित परिवेश में ही उसकी समीक्षा करते, चाहे वह उन्हें रुचिकर प्रतीत हो या न हो।

आलोचना के प्रकार

साधारणतया कहा जा सकता है कि जितने प्रकार के साहित्यिक विषय होंगे उतने ही प्रकार की आलोचना पद्धति भी होगी। किसी कृति की आलोचना करते समय आलोचक किन बातों का विशेष ध्यान रखता है, उस रचना की उसके मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है और किस सीमा तक वह उससे प्रभावित होता है; आलोचना का स्वरूप बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर करता है। ये सभी प्रश्न आलोचक के दृष्टि से सम्बन्धित होते हैं और आलोचना के प्रकार आलोचक के इसी दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण निर्मित होते जाते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियों का जन्म होता है, अत: आलोचना के वर्गीकरण की समस्या इसी दृष्टिकोण से सम्बन्धित है और यह दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक, काल्पनिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक: रचनात्मक,

प्रभावाभिव्यंजक, समाजवादी या कलावादी कुछ भी हो सकता है। आज हिन्दी में अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियों का प्रयोग हो रहा है जो इस प्रकार है—

1. ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली
2. व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली
4. निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली
4. नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली
5. परिचयात्मक आलोचना-प्रणाली
6. तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली
7. जीवन वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली
8. गवेषणात्मक आलोचना-प्रणाली
9. शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली
10. सिद्धान्त प्रधान आलोचना-प्रणाली
11. अनुभावात्मक आलोचना-प्रणाली
12. रचनात्मक आलोचना-प्रणाली
13. वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली
14. प्रभावाभिव्यजक आलोचना-प्रणाली
15. अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणाली
16. मनोविश्लेषणात्मक आलोचना-प्रणाली
17. प्रगतिवादी आलोचना-प्रणाली

1. ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति

इस आलोचना-प्रणाली का आधुनिक युग में अधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ है। साहित्य वस्तुत: जीवन की आलोचना करने के साथ ही समकालीन युग की परिस्थितियों से भी घनिष्ठ-रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति भी इन युगीन परिस्थितियों से अपने को पूर्णतया अलग-स्थिति में नहीं कर पाता। वह एक प्रकार से युग-सापेक्ष्य ही होता है और उस पर समकालीन परिस्थितियों का ही साहित्य की भाँति गहन प्रभाव पड़ता है। साहित्य और युग के मध्य परस्पर इन सम्बन्धों के स्पष्टीकरण करने का कार्य ऐतिहासिक आलोचना करती है।

ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली वातावरण तथा देशकाल का पूर्ण विवरण अपने सामने रखकर आलोचना प्रक्रिया में संलग्न होती है। इस आलोचना-प्रणाली का प्रयोग प्रमुख रूप से अंग्रेजी-साहित्य के प्रमुख इतिहासकार विद्वान 'टेन Tenn ने किया है इन्होंने साहित्य के अध्ययन के

लिए तीन तत्वों का विवेचन अवश्य माना है ।

1. Race जाति
2. Milieu परिवेश
3. Moment समय-बिन्दु

'टेन' के इस सिद्धान्त के फलस्वरूप साहित्यालोचन की नवीन भाव-भूमियाँ प्राप्त हुई और युगीन परिस्थितियों में जातीय चेतना की पृष्ठ-भूमि में साहित्य का संतुलित अध्ययन करने की प्रेरणा प्राप्त हुई । इस समीक्षा प्रणाली में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि किसी रचना ने युग के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान पर अपना प्रभाव किन अंशों में डाला है । यदि यह प्रभाव अधिक मात्रा में है, तो निश्चय ही वह कृति श्रेष्ठ है और यदि नहीं, तो वह कृति निम्न श्रेणी की है ।

यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के आलोचक का इतिहासकार होना भी आवश्यक है ।

इतिहासकार और आलोचक का क्षेत्र वास्तव में अलग-अलग है और यह आवश्यक नहीं कि श्रेष्ठ इतिहासकार आलोचक भी हो ।

"The historian of a literature muost be distinguished from the critic of literature."

इस आलोचना-प्रणाली का आश्रय ग्रहण करने वाले को इतिहास का यथेष्ट अंशों में आश्रय ग्रहण करना पड़ता है । अर्थात् इस पद्धति के अन्तर्गत किसी रचना की समीक्षा करते समय रचनाकार को पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहास का प्रमुख रूप से ध्यान रखना पड़ता है ।

इस प्रणाली की भी आलोचना की गई, क्योंकि किसी साहित्य का मेरुदण्ड केवल वातावरण अथवा देशकाल ही नहीं होता । यदि ऐसा हो तो साहित्य की शास्वत विशेषता समाप्त हो जाय और भी श्रेष्ठ साहित्य अमरत्व पद नहीं प्राप्त कर सकेगा ।

अन्य दोष यह भी है कि रचना को उसके वास्तविक स्वरूप में न परख कर लेखन कार्य तथा कारण का सम्बन्ध निश्चित किया जाता है, जिसमें स्वयं रचना का महत्व शून्य हो जाता है ।

अन्य दोष यह भी है कि रचना प्रक्रिया को युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में मूल्यांकित किये जाने के परिणामस्वरूप व्यक्ति की भी पूर्ण उपेक्षा होती है । अत: जाति, परिवेश और समय-बिन्दु के साथ लेखकीय व्यक्तित्व को स्वीकार करने के उपरान्त ही इस समीक्षा का तर्क संगत रूप सामने आ सकता है ।

इस प्रणाली का जन्म मध्ययुग में भारतेन्दु के नेतृत्व में हुआ और समृद्धता आचार्य शुक्ल के संरक्षण में प्राप्त हुई।

2. व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली

व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली (Interrpretative criticims) का जन्म जर्मनी के विचारकों के कारण हुआ। उन्होंने कला की अत्यन्त विषद एवं सूक्ष्म व्याख्या कर इस आलोचना की उपयोगिता सिद्ध की और शीघ्र ही इसकी ओर साहित्य विचारकों एवं चिन्तकों का ध्यान जाने लगा और इसके फलस्वप प्रचार एवं प्रसार तीव्रता में हुआ। इंग्लैण्ड में इसका प्रचार कॉर्लाइल ने और ऑर्नल्ड ने किया तथा लोकप्रिय बनाने में पेन्टर का प्रमुख हाथ रहा।

इस आलोचना-प्रणाली ने आलोचकों को इस बात का निर्देश दिया कि वे किसी रचना की आलोचना करने के पूर्व उनकी अन्तरात्मा में गहरे और तल्लीनतापूर्वक बैठने का प्रयत्न करें और उस वातावरण एवं अनुभवों का उद्घाटन करें; जिनकी छाया में कलाकार ने उस रचना-विशेष का सृजन किया होगा और तभी वे आलोचना का मुख्य उद्देश्य पूर्ण कर सकेंगे।

यह आलोचना-प्रणाली समीक्षा के व्यक्तिगत मानदण्डों की स्थापना पर बल देती है। यह रचनाओं में निर्णयात्मक आलोचना की भाँति ऊँच-नीच का भेद नहीं मानती। यह साहित्यकार या कलाकार की अपनी सृष्टि की विशेषताओं को अस्वीकार न कर उन्हें प्रोत्साहन देती है। यह नियमों को प्रगति-शील और परिवर्तनशी ता के नियमों से प्रभावित स्वीकार करती है। गोल्टन के अनुसार—

"व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली में साहित्य की परीक्षा शुद्ध अन्वेषण के वातावरण में होती है इस आलोचना-प्रणाली का जन्म तभी होता है, जब किसी रचना की आलोचना करने के समय इतिहास का तथा उससे भी पूर्व इतिहास का आश्रय ग्रहण कर उसकी रचना का मूल्यांकन किया जाता है।"

यह प्रणाली प्रत्येक रचना को आलोचना के लिये स्वतंत्र इकाई स्वीकार करती है। इस प्रणाली के दो मुख्य तत्व हैं–

1. वैज्ञानिक यथातथ्य भाव
2. वैज्ञानिक तटस्थता

इस प्रणाली में आलोचक एक मनोवैज्ञानिक की भाँति किसी रचना की आलोचना करता है और नि:संग भाव से उसकी समीक्षा करता है। इसका कारण यह है कि कला की मूल प्रेरणा, उद्देश्य प्राप्ति तथा उसकी श्रेष्ठता एवं उपयोगिता का निर्णय केवल व्याख्या द्वारा ही सम्भव हो सकता

है। अतः आलोचक जिस कृति को आलोचना के लिए उठाए पहले उसे उस रचना के मूलभावों तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए; जो स्वयं कलाकार की मानसिक स्थिति से पूर्ण-तादात्म्य रखता हो और जिससे प्रेरणा ग्रहण करके कलाकार ने अपनी कला का सृजन किया हो। आलोचक में यह सामर्थ्य तभी सम्भव है, जब उसमें प्रेषणीयता के भावों के साथ उदारता एवं भावनात्मकता अनिवार्य रूप से विद्यमान हो। उसके व्यक्तित्व में उदात्तीकरण की अनुपम प्रवृत्ति होनी चाहिए तथा दूसरे के भावों एवं प्रेरणाशक्ति के स्रोतों को ग्रहण करने करने की शक्ति होनी चाहिए। व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक अन्वेषक के रूप में होता है।

हिन्दी में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात करने का श्रेय प्राप्त है। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी गई उनकी आलोचनायें इसी प्रकार की है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' आधुनिक युग में काव्यात्मक आलोचना-प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

3. निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली

सुनिश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन करना निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली कहलाती है। एक लेखक के लिए निर्धारित नियमों का पालन करना उसी प्रकार अनिवार्य होता है। जिस प्रकार साधारण नागरिकों को शासकीय विधानों का पालन करना होता है। प्रणाली का मुख्य उद्देश्य निर्णय करना है।

इस आलोचना-प्रणाली को स्वीकार करने वाले आलोचकों के दो वर्ग हैं—एक वर्ग परम्परागत आलोचकों का है, जो इस बात में विश्वास रखता है कि जो कुछ प्राचीन साहित्य में रचा गया है और प्राचीन साहित्यकार हुए हैं, वही श्रेष्ठ हैं अद्वतीय हैं, भविष्य में अथवा वर्तमान काल में न तो उतने श्रेष्ठ साहित्य की रचना ही हो सकती है और न उतने अद्वतीय साहित्यकार ही हो सकते हैं। ऐसे आलोचकों के अनुसार अब पुनः 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की रचना नहीं हो सकती और न उतनी अद्वतीय रचनाएँ रची जा सकती हैं। प्रश्न यहाँ स्वभावतः यह उठता है कि फिर क्या वर्तमान-काल अथवा भविष्य में ऐसी श्रेष्ठ रचनाएँ नहीं रची जा सकेंगी ? यदि रची जा सकेंगी तो उनकी रचना का आधार क्या होगा ? इस वर्ग के आलोचकों ने इसका उत्तर अत्यन्त विचित्र ढग से दिया है। उनके अनुसार वर्तमान काल अथवा भविष्य के साहित्यकारों को इन प्राचीन साहित्यकारों का अनुसरण करना पड़ेगा। उनके द्वारा अपनाये गये मार्ग

के अवलम्बन से ही श्रेष्ठ साहित्य की रचना सम्भव हो सकती है। पर दूसरा वर्ग इस रूढ़िगत, परम्परागत आलोचकों की मान्यताओं से सहमत नहीं हुआ। इस वर्ग के अनुसार प्राचीन साहित्यकारों का स्थान अद्वतीय तो है, साथ ही उनके द्वारा रचा गया साहित्य भी श्रेष्ठ है, पर यह अभिप्राय नहीं है कि भविष्य में ऐसे श्रेष्ठ-साहित्य, की रचना नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में यह वर्ग निराशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाता। यह वर्ग तो स्वीकार करता है कि इन श्रेष्ठ साहित्यकारों के मार्गों का अनुसरण करना चाहिए; पर यह नहीं स्वीकार करता कि बिना उसके श्रेष्ठ साहित्य की रचना सम्भव ही नहीं है, इस अनुसरण के साथ यह वर्ग यह भी मानता है कि सौन्दर्यपूर्ण सिद्धान्तों का भी समन्वय किया जाना चाहिए, तभी श्रेष्ठ आलोचना सम्भव हो सकती है।

दोष

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली का बड़ा दोष तो यह हुआ कि उनमें साहित्यालोचन के श्रेत्र में जीवन, युग, वातावरण एवं समकालीन परिस्थितियों के परीक्षण आदि की ओर से आलोचकों का ध्यान हटा दिया और उन्हें साहित्य के कलापक्ष तक ही सीमित रहने के लिए बाध्य किया। जिसके फलस्वरूप साहित्य के कलापक्ष की ओर ही ध्यान देने के कारण यह आलोचना-प्रणाली एकांगी हो गई। इन आलोचकों ने कलापक्ष की ओर ध्यान दिए जाने के कारण यह बताया कि युगीन-परिस्थितियाँ और युग-सत्य तथा चेतना निरन्तर परिवर्तनशील हैं। भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक-काल में क्रम से निरन्तर युगीन-परिस्थितियाँ विभिन्न स्वरूप ग्रहण करती रही हैं। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण उन्हें साहित्य का स्थायी मानदण्ड नहीं स्वीकार किया जा सकता और इसीलिए इन अधरों पर साहित्यालोचन भी नहीं किया जाना चाहिए।

आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं की इस आलोचना का वास्तविक रूप प्रस्तुत किया था और आधुनिक काल में तो निर्णय देने की जैसे एक सामान्य सी प्रवृत्ति ही आलोचकों में बन गई है। अतः कोई भी आलोचक जब तक निर्णय नहीं देता, तब तक वह अपने आलोचक धर्म को अपूर्ण समझता है। आधुनिककाल में निर्णयात्मक आलोचना का प्रयत्न अधिक हुआ है।

4. नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली में आलोचक को नियमों अथवा विधानों का पालन नहीं करना पड़ता और उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है एक प्रकार से

यह अपनी व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि पर ही किसी कृति की समीक्षा करता है। कोई कृति उसे बहुत अच्छी लगती है इतना ही यथेष्ट है और इसीलिए वह रचना आलोचना कसौटी पर श्रेष्ठ ठहराई जाती है वह रचना आलोचक को क्यों अच्छी लगती है और उसकी तुलना में दूसरी रचनायें क्यों बुरी लगती हैं; इसका उत्तर देने के लिए आलोचक बाध्य नहीं होता है। वह तो बस इतना कहकर बात समाप्त कर देता है कि अमुक रचना ने उस पर गहरा प्रभाव डाला है और उनकी मन:स्थिति को झकझोर दिया है। इसीलिए वह उस रचना को अन्य रचनाओं से श्रेष्ठ ठहरता है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत साहित्यकार का भावपक्ष किस प्रकार का है, रचनाकार ने कौन सा सन्देश अपने पाठकों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है, उस संदेश की क्या उपयोगिता है युगीन-जीवन, परिस्थितियों एवं वातावरण का चित्रण उसकी रचना में किस स्तर पर हुआ है और इन सबके प्रति कलाकार की ईमानदारी और सत्यता कितनी रही है अथवा साहित्य का कलापक्ष किस स्तर का है, भाषा-शैली और कलात्मकता का निर्वाह किस प्रकार हुआ है, यदि काव्य पुस्तक है तो अलंकार रस, छन्द और पिंगल आदि के प्रयोग से सौन्दर्य बोध की वृद्धि किस स्तर पर हुई है, यदि उपन्यास, नाटक आदि की पुस्तक है तो पात्र किस प्रकार के हैं; उनका चरित्र-चित्रण किस प्रकार का है। कथानक शिल्प आदि का निर्वाह किस प्रकार हुआ है; आदि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न हैं जिनकी ओर आलोचकों का ध्यान बिल्कुल नहीं जाता। इनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह अपनी रुचि की ओर रचना के पड़ने वाले प्रभाव की माप करता है। यही नैसर्गिक आलोचना प्रणाली है।

5. परिचय-प्रधान आलोचना प्रणाली

पत्र-पत्रिकाओं में प्राय: पुस्तक समीक्षा का एक स्तम्भ होता है। जिसमें कृति की विशेषताओं एवं अभावों का विवरण दिया जाता है। यह परिचय प्रधान आलोचना कहलाती है। 'समालोचक', सुदर्शन, 'सरस्वती' आदि पात्रों के माध्यम से इस प्ररिचय प्रधान आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात हुआ।

यह आलोचना का श्रेष्ठ रूप नहीं है। इसमें गम्भीरता की ही प्रधानता रहती है इसका सम्बन्ध पत्रकारिता से अधिक होने के कारण इस प्रकार की आलोचना-पद्धति पर पत्रकारिता शैली का अधिक प्रभाव पड़ा है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें परिचय की ही प्रधानता रहती है; आलोचना तो नाम मात्र की होती है आलोचक किसी भी कृति का परिचय

पाठकों को और साहित्य क्षेत्र को करा देता है। आज का परिचय प्रधान आलोचना-प्रणाली का रूप अत्यन्त दूषित हो गया है।

पत्र-पत्रिकाओं में उन्हीं पुस्तकों की 'समीक्षा' की जाती है, जो उस पत्र के सम्पादक के मित्रों या हितैषियों का उसके वर्ग के लेखकों द्वारा लिखी जाती हैं। इस प्रणाली में प्रशंसा पक्ष अत्यन्त प्रबल होता है, बेसिर-पैर की बातें की जाती हैं और विश्व की श्रेष्ठ कृतियों के समान स्तर पर रखकर उसके रचनाकार को महान् ठहराने का प्रयत्न किया जाता है। इसका दूसरा रूप भी तब प्रचारित होता है जब सम्पादक महोदय को अपने विरोधी वर्ग के लेखक को गालियाँ सुननी होती हैं।

इस प्रणाली में तर्क-बुद्धि का कोई स्थान नहीं होता है और जो मन में आता है कह दिया जाता है। इस दृष्टि से यह नैसर्गिक-आलोचना-प्रणाली के निकट ठहरती है एक प्रकार से किसी रचना के सामान्य-परिचय के लिए यह प्रणाली यथेष्ट है।

6. तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली

इस प्रणाली में कवियों और लेखकों की रचनाओं की तुलना अन्य भाषा और साहित्य के दूसरे कवियों एवं लेखकों से की जाती है और उनकी विशेषताओं एवं अभावों की समीक्षा की जाती है। दो कवियों अथवा लेखकों की परस्पर तुलना से पाठकों के मन में किसी कवि अथवा लेखक की श्रेष्ठता एवं महानता का स्पष्टीकरण किया जाता है। इससे श्रेष्ठता सम्बन्धी प्रचलित भ्रान्तियों के निराकरण में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रणाली में तुलना के आधार पर एक कवि अथवा लेखक को न्यून महत्व का और दूसरे को उससे श्रेष्ठ महत्व का सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

इस आलोचना-प्रणाली में यदि आलोचक अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं कर पाता, तो कभी आलोचाना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। यही प्रवृत्ति इस आलोचना के न्याय-संगत एवं तर्क-संगत रूप को कलुषित कर देती है, क्योंकि यह तो निश्चित है कि यदि आलोचक के मन में किसी कवि अथवा लेखक को श्रेष्ठ सिद्ध करने की भावना पहले से ही बनी हुई है तो वह कला एवं रचना-प्रक्रिया को गौण स्थान प्रदान करेगा।

इस प्रणाली में व्युत्पति पर विशेष ध्यान किया जाता। इसके लिए आलोचक को विभिन्न कालों की युगीन-चेतना, साहित्यिक-प्रवृत्तियों, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास सूत्रों का आकलन एवं चिन्तन करना पड़ता है। जब तक आलोचक का ज्ञान विशद एवं व्यापक धरातल पर निर्मित नहीं होगा, वह इस प्रकार की आलोचना करने में सफल नहीं हो सकेगा

और न आलोच्य कृति के साथ न्याय कर सकेगा।

यह आलोचना-प्रणाली यह स्वीकार करती है कि हिन्दी में इस प्रणाली का प्रारम्भ श्रेष्ठ ढंग से आचार्य पद्मसिंह शर्मा कृत 'बिहारी सतसई' की आलोचना से प्रारम्भ हुआ और आज तो इसका प्रयोग खूब होता है, पर तुलना करते समय जो बात सबसे अधिक ध्यान में रखने की है, वह यह तुलना के लिए चुने हुए या चुने गए दोनों लेखकों और रचनाओं का क्षेत्र एक ही हो, प्रवृत्तियाँ एक हों और विषयवस्तु में मूल-भूत समानता हो, इसकी प्राय: उपेक्षा कर दी जाती है; इसलिए आज होने वाली तुलनात्मक-आलोचना बड़ी हल्की और हास्यास्पद प्रतीत होती हैं।

7. जीवन वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली में लेखकीय व्यक्तित्व का प्रमुख ध्यान रक्खा जाता है। इसके प्रर्वतक अंग्रेजी कवि और लेखक जॉन ड्राइजेन माने जाते हैं। इस आलोचना-प्रणाली में समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कलाकार के व्यक्तित्व की माप की जाती है। इसका प्रारम्भ कवियों की जीवनी एवं आलोचना लिखने के सन्दर्भ में हुआ। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली के मुख्य दोष का परिहार कर कुछ अंशों में समाहार हो गया, जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा की जाती थी। इन आलोचकों ने यह प्रतिपादित किया कि जब तक किसी कवि या लेखक के जीवन वृतान्तों से हम पूर्णतया परिचित न हों तब तक आलोच्य कृति के साथ पूर्ण-रूप से न्याय नहीं किया जा सकता; क्योंकि कवि या लेखक जो जीवन जीता है उसका प्रभाव उसकी रचनाओं पर गहनतम रूपों में पड़ता है प्रेमचन्द के जीवन की कथा, उनकी आर्थिक विषमतायें, उन्होंने जिस शोषण वृत्ति एवं अभिशाप को सहन किया था और अनमेल विवाह की जिस विभीषिका से गुजरे थे, उनका साहित्य इन तथ्यों से अछूता न रह सका।

अत: जीवनवृत्तान्तीय आलोचकों के अनुसार जब तक इस जीवन से सम्बद्ध परिस्थितियों एवं वातावरण का प्रामाणिक अध्ययन नहीं किया जाता; तब तक उसकी की गई आलोचना एकांगी एवं दोषपूर्ण होती है। इस प्रकार इस आलोचना-प्रणाली में कला तथा कलाकार की विषमतापूर्ण परिस्थितियों का समाहार होता है। और उनका समाधान समन्वयात्मक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया जाता है। इस आलोचना-प्रणाली के माध्यम से कलाकार और पाठक के बीच का व्यवधान समाप्त हो जाता है और कलाकार का वास्तविक स्वरूप उपयोगी ढंग से प्रस्तुत हो पाता है।

प्राय: लेखक सिद्ध करना चाहते हैं कि जो कुछ वे जीते हैं, भोगते हैं, कुण्ठा अवसाद, हर्ष एवं उल्लास की जिन परिस्थितियों में वे बनते-बिगड़ते हैं, टूटते-बिखरते हैं, उनके साहित्य का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। यह आलोचना-प्रणाली लेखकों के इस दावे और घोषणा की परीक्षा कर उसका पर्दाफाश करती है। वह कलाकार व्यक्तिगत जीवन की यथार्थता से पाठक वर्ग को परिचित कराकर इस बात का निर्णय करती है कि रचा गया साहित्य कुछ और नहीं है; उनके द्वारा जीये जाने वाले जीवन से घनिष्ठतम रूप में प्रभावित है और उसके संस्पर्श से अपने को बचा सकने में वह नितान्त रूप से असमर्थ रहा है। इस प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है।

इस आलोचना-प्रणाली के तीन प्रमुख सोपान होते हैं—रचनाकार का जीवन और उसकी रचना प्रक्रिया दोनों परोक्ष रूप से अथवा अपरोक्ष रूप से एक दूसरे को व्यक्त करते हैं। रचनाकार जिस देश-काल में जीता है, उस देश-काल से निरपेक्ष साहित्य-सृजन सम्भव नहीं है। पाठक रचनाकार के व्यक्तिगत-जीवन में भाग लेकर उसकी अनुभूतियों को आत्मसात् कर उसकी रचना को अधिक निकटता, सहजता एवं सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण से समझ सकता है।

इस आलोचना-प्रणाली की कुछ सीमायें भी वैज्ञानिक स्तर पर हैं: यदि रचनाकार या व्यक्तिगत-जीवन विशेषताओं से सम्पन्न और स्पष्ट तथा प्रशंसनीय होगा, तब तो वह पाठकों की सहानुभूति सहज ही प्राप्त कर लेगा और उसकी रचना की श्रेष्ठता भी सिद्ध हो जायेगी; पर यदि लेखक का व्यक्तिगत जीवन ऐसा न हुआ तो सम्भव है कि वह पाठकों की सहानुभूति न प्राप्त कर सके और उसकी रचना की श्रेष्ठता न सिद्ध हो सके—चाहे वह कितनी ही कलात्मकतापूर्ण और अत्युत्तम क्यों न हो।

इस प्रकार इस आलोचना-प्रणाली में साहित्यिक तथ्यों पर कम, परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों पर अधिक बल दिया जाता है। इससे किसी रचना का वास्तविक मूल्यांकन संदिग्ध हो जाता है, इसीलिए यह आलोचना-प्रणाली एकांगी एवं अपूर्ण है।

8 गवेषणात्मक आलोचना-प्रणाली

हिन्दी में आलोचना के प्रारम्भ होने के पश्चात् इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि प्राचीन कवियों के जन्म स्थान, समय, जीवन-चरित्रों, उनकी रचनाओं के प्रकाशन समय एवं रचना तिथियों तथा उन पर तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रभावों की सम्यक्

परीक्षा एवं अन्वेषण कर उनकी प्रामाणिकता निर्धारित की जाय—यह गवेषणात्मक या अनुसंधानात्मक कार्य गवेषणाप्रधान आलोचना प्रणाली के अन्तर्गत ही आता है।

इस आलोचना-पद्धति का प्रारम्भ पाश्चात्य-प्रभाव एवं पश्चिमी साहित्य के संस्पर्श से ही माना जाना चाहिए। अनेक अनुसंधान केन्द्रों एवं विश्वविद्यालयों में होने वाले शोधकार्य इसी प्रणाली (गवेषणाप्रधान आलोचना-प्रणाली) के वास्तविक स्वरूप हैं।

इस प्रणाली में अन्वेषण को बड़ा महत्व दिया जाता है। अर्थात् नये तत्वों, तथ्यों की खोज करना, जिनसे अभी तक साहित्य संसार अपरिचित था, और जिनके अभाव में अभी तक सम्बन्धित कवि अथवा लेखक की समीक्षा एकांगी थी, इस पद्धति के मुख्य कार्य हैं। इनमें वैज्ञानिकता का बड़ा प्रभाव पड़ता है और प्राप्त तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है इस प्रणाली की सफलता इसी में अन्तर्निहित रहती है।

9. शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली

संस्कृत अलंकार शास्त्र के आदर्शों के अनुसार शास्त्रीय-पद्धति पर किसी कृति की आलोचना करना शास्त्रप्रधान-आलोचना कहलाती है। पुनरुत्थान काल में ही शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली की स्थापना हुई। उस काल में ग्रीस और रोम में काव्यात्मक प्रतिभा अपने सर्वोच्चशिखर पर थी और उनका अनुकरण कर काव्य-रचना करने की प्रवृत्ति सामान्य रूप से कवियों में प्रचलित हो रही थी। इस काल में मध्ययुगीन काव्य, नाटक आदि की अवहेलना की गई और अरस्तू, होरेस, क्विन्टीलियन आदि को महत्व प्रदान कर उनके द्वारा स्थापित किए गये शास्त्रीय नियमों से प्रेरणा ग्रहण की गई। इस दृष्टि से अरस्तू के ग्रन्थ 'PCETICS' का उल्लेखनीय स्थान है।

इस प्रकार प्राचीन रचनाओं से प्रेरणा एवं आदर्श का अनुकरण कर काव्य-मीमांसा-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई, जिसके फलस्वरूप शास्त्रीय परम्पराओं का अनुगमन करने और उसी के आधार पर रचनाओं के मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। काव्य में इस प्रवृत्ति के अनुसार कला-पक्ष पर विशेष जोर दिया जाने लगा और उक्ति-वैचित्र्य, रस, अलंकार, छन्द, पिंगल, शब्द, चमत्कार, वाक्य-योजना आदि वाह्य पक्षों को ही काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी स्वीकार कर लिया गया और उन्हीं के आधार पर रचनाओं की श्रेष्ठता का निर्धारण किया जाने लगा। इस प्रणाली का आलोचक काव्यात्मक मूल्यों को वाह्य पक्षों पर आधारित करके ग्रहण करता है।

भारतवर्ष में शास्त्रीय आलोचना पद्धति का प्रचार एवं प्रसार अत्यन्त प्राचीन है। उस समय स्थापित किए गये साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी नियमों के अनुसार उनसे प्रेरणा प्राप्त करके ही कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। हिन्दी में इस आलोचना पद्धति के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा मिश्र बन्धुओं को है। इस प्रणाली के अन्तर्गत 'विक्रमांकदेवचरित', 'नैषधचरित,'हम्मीर हठ' की आलोचना का प्रमुख स्थान है।

पश्चिम में इस आलोचना-पद्धति को 'क्लासिकल आलोचना पद्धति' भी कहा गया है। वहाँ श्रेष्ठ लेखक को नि:संकोच क्लासिकल लेखक और उनकी रचनाओं को क्लासिकल रचनायें कहा गया। बाद में इस अर्थ का और प्रसार हुआ और उन लेखकों को भी इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाने लगा, जिनमें प्राचीन-गौरव, मर्यादा एवं संस्कृति का चित्रण होता था। इस प्रकार के लेखकों में मन, बुद्धि, भाषा और शैली का श्रेष्ठ एवं प्रौढ़ रूप होना अनिवार्य माना गया। —"टी० एस० इलियट"

इस आलोचना प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि पहले ही यह स्वीकार कर लिया जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने साहित्य के सम्बन्ध में जो मान्यतायें निर्धारित कर दी थीं वे एक प्रकार से अन्तिम हैं। उनसे श्रेष्ठ कोई और मान्यता नहीं हो सकती। श्रेष्ठ-साहित्य का सृजन इन्हीं मान्यताओं के आधार पर होना चाहिए पर प्राय: ये नियम रूढ़िता एवं संकीर्णता का परिवेश अपने चारों ओर निर्मित कर लेते हैं और इन दोषों के अतिरिक्त उनका अंधानुकरण साहित्य-प्रवाह की गतिशीलता एवं प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। यह साहित्य के गौरव एवं विकास के लिए हानिप्रद एवं दोषपूर्ण होता है।

10. सिद्धान्तप्रधान आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली में पाश्चात्य-साहित्य-सिद्धान्तों एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों के परस्पर समन्वय के आधार पर किसी कृति की आलोचना की जाती है। इन दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों की प्रमुख-विशेषताओं एवं मान्यताओं के आधार पर ही किसी रचना की परख की जाती है। इस दृष्टि से 'नवरस', 'अलंकार प्रकाश', काव्य कल्पद्रुम' आदि महत्वपूर्ण हैं। ये ग्रन्थ भरत के रसवाद, भामह, दण्डी–उद्भट और रुद्रट के अलंकारवाद वामन के रीतिवाद, कुन्तक के वक्रोक्तिवाद तथा आनन्दवर्द्धन के ध्वनिवाद के सिद्धान्तों के अनुसार रचे गये हैं। पश्चिमी सिद्धान्तों

के आधार पर समालोचना करने की प्रवृत्ति जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' कृत 'समालोचनादर्श' में दृष्टव्य है। यह उसका मौलिक ग्रन्थ न होकर पोप के प्रसिद्ध ग्रन्थ ऐसे, आनक्रिटिसिज्म' का पद्यात्मक अनुवाद है। 'पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी' की पुस्तक 'विश्व-साहित्य' भी इसी प्रकार की पुस्तक है। जिनमें पश्चिमी समालोचनादर्श पर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने कई निबन्ध इसी आधार पर लिखे हैं।

11. अनुभावात्मक आलोचना-प्रणाली

निरीक्षण, विश्लेषण एवं वर्गीकरण के आधार पर की गई किसी रचना की आलोचना को अनुभावात्मक आलोचना-प्रणाली कहते हैं। यह आलोचना की सबसे पुरानी प्रणाली है। इस प्रणाली के अनुसार यह सिद्ध किया जाता है कि प्रत्येक रचना का वैज्ञानिक मुल्यांकन सम्भव है, जिसका अनुगमन कर आलोचना साहित्यिक-नियम-विधानों का निर्माण कर सकती है।

इस प्रणाली के अनुकरण में सबसे प्रमुख कठिनाई यह अनुभव की गई कि वैज्ञानिक प्रयोगों में तो स्थायित्व हो सकता है, पर साहित्य के क्षेत्र में यह स्थायित्व सम्भव नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में किसी को बहकाने या बहकने की गुंजाइश नहीं होती है। वहाँ दो और दो मिलकर हमेशा चार ही होंगे, तीन नहीं। पर साहित्य के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी धारणायें एवं मान्यतायें होती हैं, जिनके आधार पर ही व्यक्तियों के मध्य परस्पर भिन्नता प्रतिपादित की जाती है। अपनी इन्हीं भिन्न मान्यताओं एवं धारणाओं के आधार पर किसी रचना के सम्बन्ध में कोई आलोचक अपना निर्णय देगा।

12. रचनात्मक आलोचना-प्रणाली

जब आलोचक किसी रचना विशेष को अपनी अनुभूति के स्तर पर लाकर एक सर्वथा भिन्न और नवीन रचनात्मक कृति की सृष्टि करता है, जिसमें आलोचक का व्यक्तित्व आलोचना के साथ प्रतिविम्बित होता है, तो उसे रचनात्मक आलोचना कहते हैं।

रचनात्मक-साहित्य ही वस्तुत: जीवन की आलोचना है। आलोचक को अपने अध्ययन एवं वस्तुओं को यथार्थ रूप से परखने की दृष्टि की क्षमता से ऐसी विचारधारा को जन्म देना चाहिए और उसका इतना प्रसार करना चाहिए की रचनात्मक प्रतिभा को उत्तेजना, साथ ही नवीन जीवन तत्व प्राप्त हों— 'मैथ्यू'

आलोचना और रचना में कोई मौलिक भेद नहीं है और साहित्य के क्षेत्र में वे एक दूसरे के पूरक हैं। एक ही व्यक्ति के व्यक्तित्व में उसने रचना और आलोचना दोनों की ही सम्भावनायें परिलक्षित कीं। किसी कलात्मक कृति की रूप सम्बन्धी व्यवस्था तभी सम्भव है, जब कलाकार में रचनात्मक प्रतिभा भी हो।

'टी० एस० एलियट'

"इस आलोचना-प्रणाली की मान्यता है कि कोई भी कवि या लेखक तभी महान बन सकता है जब वह महान आलोचक भी हो। "कला" रचनात्मक प्रक्रिया में आलोचनात्मक होती है और आलोचना कृति के पुनर्निर्माण में रचनात्मक होती है।"

रचनात्मक आलोचना-प्रणाली के अनुसार आलोचक वाह्यजगत और अन्तर्जगत का निरीक्षण करता है। कवि में भाव ग्रहण करने की अनुपम शक्ति होती है और वह इस सृष्टि में प्रत्येक बात का अनुभव वासना रहित मन से करता है। वह पूर्वग्रहों अथवा दुराग्रहों से पूर्णतया मुक्त होता है। वाह्यजगत तथा अन्तर्जगत के निरीक्षणोपरान्त वह जो भी अनुभव प्राप्त करता है उनका चिन्तन एवं मनन करता है, इससे कवि में अन्तर्वर्गीय उत्कर्षण की अनुभूति होती है। यह स्थिति रचना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण होती है। इसी स्थिति में रचना के विभिन्न-स्वरूप प्रस्फुटित होते हैं। दूसरे शब्दों में इसे आन्तरिक अभिव्यक्ति कहा जाता है, जिससे रचनात्मक क्रिया सम्भव होती है। फ्रायड के अनुसार मन के तीन स्तर हैं—अचेतन, अहंकार और आदर्शाहंकार। पाश्चात्य-कला-मीमांसकों के अनुसार रचनात्मक-प्रक्रिया चेतन और अचेतन क्रियाओं का समन्वित रूप है; जिस पर मनोविश्लेषण का गहन प्रभाव पड़ता है।

रचनात्मक आलोचना के अन्तर्गत आलोचक किसी रचना की आलोचना करते समय पहले यह जानने का प्रयत्न करता है कि लेखक ने अपनी रचना-प्रक्रिया का आधार-स्वरूप कहाँ से प्राप्त किया है इस निष्कर्ष को निकालकर वह अपनी चेतना में उसे बिठाता है और उस पर मनन एवं चिन्तन करता है। तब जो निष्कर्ष अन्तिम रूप से निकलता है, उसे अपने सामने रखता है और अब वह विचार करता है कि इस रचना में ऐसा और क्या संयुक्त कर दिया जाय कि इसकी विशेषतायें और भी बढ़ जायें, साथ ही साथ उसकी न्यूनताओं का परिहार हो सके। दूसरे शब्दों में वह उस रचना का स्वरूप और भी सन्तोषजनक बनाने और उसे श्रेष्ठ साहित्य के रूप में परिवर्तित करने के लिए प्रयत्नशील होता है वह उस रचना को एक सर्वथा नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न करता है। अर्थात् वह रचना का

एक प्रकार से पुनर्निर्माण करता है। वही वस्तुत: रचनात्मक आलोचना-प्रणाली कहलाती है।

रचनात्मक आलोचना में विश्वास रखने वाला आलोचक भी वस्तुत: कलाकार होता है और रचनात्मक कलाकार से मात्र चयन की ही दृष्टि से भिन्न होता है। रचनात्मक कलाकार जीवन और प्रकृति से सम्बन्धित दृश्यों का मनन, चिन्तन करके अपनी रचना प्रक्रिया में दत्तचित्त होता है। आलोचक उस रचनात्मक-कलाकार की प्रक्रिया का मनन एवं चिन्तन करता है। दोनों के ही मनन एवं चिन्तन काल्पनिक पृष्ठभूमि पर होते हैं। इस आलोचनात्मक-प्रणाली में वैसे ही मूल्यांकन किया जाता है जैसे किसी कलाकार के जीवन का।

रचनात्मक आलोचना-प्रणाली में किसी कृति का स्वतन्त्र रूप से अवलोकन होता है। इसमें आलोचक की दृष्टि मुख्यतया कृति के पुनर्निर्माण की ओर होती है। निर्णय, रूढ़ि, अलंकार, नैतिकता विषयों की सीमितता आदि को कोई महत्व नहीं दिया जाता है; क्योंकि आलोचक का ध्यान रचना के पुनर्निर्माण की ओर होता है।

इस प्रकार रचनात्मक आलोचना-प्रणाली का प्रधान उद्देश्य कलाकार के मानसिक विश्व और उसके कार्य में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना तथा जिस मूलचेतना ने कवि की भावनाओं को प्रेरणा प्रदान की, वह कहाँ तक मुखरित हो पायी है उसे स्पष्ट करना है। यह प्रणाली केवल प्राचीन सरल कवियों के आदर्शों का मूल्यांकन करने में सफलता प्राप्त कर सकती है।

13. वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना का जन्मदाता फ्रांसीसी आलोचक ब्रनेतियर माना जाता है। उसने विज्ञान के निश्चित एवं अपरिवर्तित नियमों की भाँति आलोचना के नियमों को भी निर्धारित किया। इस आलोचना-प्रणाली के समर्थकों ने दवाइयों के एक मिक्सचर की भाँति साहित्यिक मिक्सचर तैयार कर दिया, जिसके आधार पर आलोचकों के सम्बन्ध में निर्णय कर देने का निर्देश दिया गया।

इस प्रणाली के अनुयायियों का कथन है कि किसी कृति के जितने ही अधिक संस्करण होंगे वह कृति उतनी ही श्रेष्ठ होगी। उदाहरणार्थ अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' के उतने संस्करण नहीं हुए हैं जितने आजकल सेक्स प्रधान उपन्यासों के हुए हैं तो क्या इन उपन्यासों को संस्करणों के आधार पर 'शेखर : एक जीवनी' से श्रेष्ठ 'कलाकृतियाँ' स्वीकार कर लिया जाय ? आजकल काव्य ग्रन्थों को पढ़ने का प्रचलन कम हो गया है।

इस प्रणाली को स्वीकार करने के पश्चात आज फिर कोई काव्य-ग्रन्थ श्रेष्ठता के पद का अधिकारी नहीं बन सकेगा। यह इस पद्धति का प्रमुख दोष है।

एक अन्य मत के अनुसार जो साहित्यकार युगीन-जीवन, सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का जितना ही यथार्थ चित्रण करता है, वह उतना ही श्रेष्ठ लेखक माना जाता है, पर यह मत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह बुद्धि के दिवालियापन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्लेटो के समय से ही यह प्रश्न अत्यन्त विवाद-ग्रस्त रहा है कि साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक-प्रणाली का प्रयोग सम्भव है कि नहीं। विज्ञान तथा साहित्य एवं कला में अन्तर है। रिचर्ड्स ने भी इस सम्बन्ध में काफी विचार किया है। बहुत पहले वैज्ञानिक आलोचना का अविर्भाव हो चुका था, पर वह बहुत प्रचलित नहीं हो सकी। वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली का प्रधान उद्देश्य यह था कि आलोचक द्वारा किया जाने वाला निर्णय व्यवस्थित-ज्ञान द्वारा समर्थित हो। यह प्रणाली अनर्थक एवं आवेग-पूर्ण बातों की अभिव्यक्ति के विरुद्ध है, पर कोई वैज्ञानिक-प्रणाली साहित्य पर ज्यों-की-त्यों आरोपित नहीं की जा सकती। इससे सबसे बड़ी हानि तो यह होगी कि साहित्य का स्थान गौण हो जायेगा और विज्ञान प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेगा।

14. प्रभावाभिव्यंजक आलोचना-प्रणाली

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना-प्रणाली (Impressionist Criticism) में आत्मप्रधान-समीक्षा को महत्व प्रदान किया गया है। यह स्वच्छन्द-व्यक्तिवाद और आत्मचेतना पर आधारित आलोचना-प्रणाली है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी रचना के प्रति आलोचक की व्यक्तिगत प्रक्रिया क्या होती है, यह आलोचना उसे स्पष्ट करती है। सहज आन्तरिक प्रतिक्रिया कृति का स्वेक्षापूर्वक ज्ञान और अन्त में उसका मूल्यांकन करना ही इस आलोचना-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य होता है।

इस प्रणाली में आलोचना की किन्हीं प्रचलित मान्यताओं को नहीं स्वीकार किया जाता। इसमें आलोचक अपनी व्यक्तिगत रुचि को अत्यधिक आश्रय देता है। किसी रचना का जितना ही प्रभाव आलोचक पर अधिक पड़ता है, वह उसी के आधार पर किसी रचना की श्रेष्ठता का मूल्यांकन करता है। अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव की वह माप करता है और माप के उस आधार पर अपनी आलोचना का स्वरूप निश्चित करता है इस प्रकार इस आलोचना-प्रणाली में साहित्य की प्रेषणीयता को अत्यधिक महत्व दिया जाता है।

इस प्रणाली में आलोचक के दो प्रधान कर्त्तव्य माने जाते हैं–

1. किसी रचना की प्रेषणीयता ग्रहण करने की पूर्ण समर्थता।
2. गृहीत प्रेषणीयता की उचित ढंग से माप एवं अभिव्यक्ति।

अर्थात् किसी रचना के प्रभाव को ग्रहण करने, अभिव्यक्ति करने एवं दूसरों तक उस प्रभाव को पहुँचाने की शक्ति की श्रेष्ठता पर ही आलोचक की श्रेष्ठता निर्भर करती है।

"इस प्रणाली में पुस्तक की साहित्यिक-विशेषताओं, उसकी कलात्मकता एवं गुणों की अपेक्षा आलोचक के ऊपर पड़े हुए प्रभावों एवं उसकी आत्मानुभूतियों को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। —'स्पिनगार्न'

इस आलोचना-प्रणाली की अनेक सीमायें भी हैं। इस प्रवृत्ति का आलोचक कला-समीक्षा में स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाता है और किसी नियंत्रण को नहीं स्वीकार करता। प्रत्येक आलोचक अपनी-अपनी दृष्टि अपनाने के लिए स्वच्छन्दता का अनुभव करता है; क्योंकि किसी मान्यता अथवा परम्परा या नियमों का बन्धन स्वीकार करने के लिए वह बाध्य नहीं है।

इससे एक ही कृति के सम्बन्ध में अनेकानेक मत उपस्थित हो जाते हैं, जिससे अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे समालोचक कोई निर्णय नहीं दे पाता वरन् आलोच्य कृति के मन पर लड़ने वाले प्रभाव को बुद्धिवादी रसानुभूति की प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। यही अनुचित है–और इस प्रणाली का दोष है; क्योंकि इसमें तर्क संगत या न्यायपूर्ण समीक्षा का स्वरूप नहीं उपस्थित हो पाता है।

हिन्दी-साहित्य में प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण डा० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा गुरुभक्त सिंह कृत 'नूरजहाँ' की समीक्षा में प्राप्त होता है।

15. अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणाली

अभिव्यंजनावाद के जन्मदाता इटली के सौन्दर्यवादी चिन्तक "वेनेडेटो क्रोचे" हैं। उनकी धारणानुसार चरम सत्य मानस है। सृष्टि की जो शक्तियाँ विभिन्न रूप ग्रहण करती हैं, उनकी आधार-शिला मानस ही है। मन की दो मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं–

1. सैद्धान्तिक मूल प्रवृत्ति
2. व्यावहारिक मूल प्रवृत्ति

सैद्धान्तिक रूप का क्षेत्र ज्ञान है, व्यवहारिक रूप का क्षेत्र क्रिया है। ज्ञान का आधार बुद्धि-तत्त्व नहीं वरन् वह स्वतः उत्पन्न है। यही स्वतः उत्पन्न ज्ञान वस्तु-जगत् की शक्तियों को रूप प्रदान करता है। यह मानस

में मूर्ति की कल्पना करता है जो सौन्दर्य-बोध का मूल तत्त्व है। यह आन्तरिक अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य ही अभिव्यंजना है। क्रोचे ने अभिव्यंजना है को काव्य अथवा कला के रूप में स्वीकार किया गया है।

'अभिव्यक्ति आन्तरिक होती है एवं मानस में होती है। सौन्दर्य का आधार रूप Form है। काव्य का एक मात्र उद्देश्य होता है कि वह–सौन्दर्य की अभिव्यक्ति खड़ी करे। उसके सम्बन्ध में नीति अथवा उपयोगिता की बातें निरन्तर सार्थक होती हैं।''

—वेनेडेटो क्रोचे

क्रोचे यद्यपि वस्तु की पूर्ण उपेक्षा नहीं करता, पर उसने अपेक्षाकृत अभिव्यंजना को ही महत्व प्रदान किया है। अभिव्यंजना के निम्नलिखित चार क्रम क्रोचे ने स्वीकार किए हैं—

1. मन: संवेदना
2. मन: संवेदनों के उद्‌बोधन से हमारी आत्मिक अभिव्यक्ति।
3. सुन्दर वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न आनन्दभाव।
4. सौन्दर्य बोध के तत्त्वों का भौतिक तथ्यों से अवतरण।

स्पष्ट है, क्रोचे की समस्त मान्यतायें कलामात्र से सम्बन्धित हैं; कलाकृति से नहीं। उसने कला और संस्कृति में अन्तर स्वीकार किया है। उसने सहजानुभूति और अभिव्यंजना का मूलस्वरूप एक ही माना है, क्योंकि सौन्दर्य-भावना आकृति प्रधान है; इसमें आध्यात्मिक-सत्ता के तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। कोचे ने मात्र वस्तु में रस-निष्पत्ति और सौन्दर्य-बोध की सत्ता स्वीकार की है। आकृति सौन्दर्य-बोध का आधार तत्त्व है; पर वस्तु की सत्ता की पूर्ण उपेक्षा भी उसने नहीं की है।

क्रोचे के अनुसार सत्य तथा यथार्थ का केवल एक ही केन्द्र है—'मानस' मानस में ही सत्य एव यथार्थ निहित रहता है। वाह्य आकृतियाँ सत्य एवं यथार्थ नहीं हैं; क्योंकि उनका केन्द्र हमारे मानस में नहीं है। कला सहज-ज्ञान है और मानस के अन्तर्गत प्राप्त प्रभावों की अभिव्यंजना ही मनोभाव का प्राण है।

इस प्रणाली के अनुसार किसी रचना की समीक्षा करते समय इस बात की परख की जाती है कि वह रचना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कितने अंशों में करती है, यदि कोई रचना सौन्दर्याभिव्यक्ति में असफल है, तो उस रचना को किसी भी दृष्टि से श्रेष्ठ रचना के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस प्रक्रिया में सौन्दर्य-तत्त्वों की भी समीक्षा की जाती है।

हिन्दी में अभिव्यंजनावाद का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह पूर्णतया

पाश्चात्य-मान्यता से प्रभावित नहीं है—उस पर भारतीयता का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। भारतीय सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा अत्यन्त व्यापक है कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने में हमें आनन्द प्राप्त होता है; पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रायोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्ज्वलता और संध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है; पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है। विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। इसके भीतर नीति-तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके माया चक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है। यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

इस प्रकार भारतीय सौन्दर्य में सत्य एवं मंगल का समन्वय होता है, वासना वहिष्कृत होती है। वस्तुत: काव्य का उद्देश्य ही होता है कि वह नीति और उपयोगिता के निरपेक्ष सौन्दर्य की सिद्धि करे। वस्तु के सौन्दर्य को उपेक्षणीय स्थान प्रदान कर किसी रचना प्रक्रिया में अभिव्यक्ति की सुन्दरता मात्र की परख जिस आलोचना-प्रणाली के माध्यम से की जाती है वह अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणाली के उद्देश्यों को पूर्ण करती है। स्पष्ट है, इस प्रणाली में आलोचक वस्तु की सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त करने में, कलाकार की सफलता असफलता का मूल्यांकन करने के साथ उसके सौन्दर्य-तत्वों की भी समीक्षा करता है।

16. मनोविश्लेषणवादी आलोचना-प्रणाली

फ्रायड, एडलर और जुंग के मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों का जितना प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओं पर पड़ा, उतना ही प्रभाव आलोचना के स्वरूप पर भी पड़ा और उसी के परिणामस्वरूप मनोविश्लेषणवादी आलोचना प्रणाली का जन्म और विकास हुआ।

फ्रायड के अनुसार कला सम्बन्धी मान्यताओं के तीन तत्व हैं—मनुष्य अपनी समस्त इच्छाओं, कामनाओं एवं भावनाओं को पूर्ण नहीं कर पाता और उसका मन एक प्रकार से अतृप्त रह जाता है। चूँकि मनुष्य उनकी पूर्ति नहीं कर पाता है, इसलिए वह इनके दमन करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य के चेतन मन द्वारा दमित-शमित ये अतृप्त भावनाएँ इच्छाएँ एवं वासनाएँ दमित न होकर अवचेतन मन में एकत्र होती रहती हैं और मनुष्य को भिन्न-भिन्न पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती हैं, जिससे मनुष्य

विभिन्न प्रकार के व्यवहार अपने जीवन में करने लगता है।

फ्रायड के अनुसार मनुष्य जो कुछ करता है, कहता है और सोचता है उसके मूल में उसकी वासनात्मक-प्रवृत्ति होती है। मनुष्य द्वारा इन अतृप्त आकांक्षाओं का कठोर सामाजिक सम्बन्धों के कारण उदात्तीकरण हो जाता है। मनुष्य में कामवासना की प्रवृत्ति बाल्यावस्था से ही विद्यमान रहती है। उसकी यह प्रवृत्ति सभ्यता एवं संस्कृति तथा सामाजिक विकास की भी मूल प्रेरक है। साहित्य में इन प्रवृत्तियों का स्वस्थ दृष्टिकोण ही अपनाने का प्रयत्न किया जाता है। अवचेतन में संग्रहीत अतृप्त वासनाओं एवं कामनाओं के उदात्तीकरण के उपरान्त निर्मित स्वरूप के कल्याणकारी पक्ष की प्रक्रिया ही साहित्य एवं कला है।

'जुंग' के अनुसार अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी मानवीय प्रवृत्तियों का कला सृजन पर गहन प्रभाव पड़ता है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले कलाकार की रचना-प्रक्रिया में और बहिर्मुखी-व्यक्तित्व वाले कलाकार की रचना-प्रक्रिया में अन्तर होंगे। उदाहरणार्थ, यह अन्तर प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की रचनाओं में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व बहिर्मुखी था, जबकि जैनेन्द्र का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी है। कलाकार की सृजनात्मक-प्रतिभा को उसके व्यक्तित्व की ये दो विशेषतायें घनिष्ठ रूप से प्रभावित करती हैं।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना-प्रणाली का प्रथम प्रयोग जेम्स ने 'हैमलेट' की आलोचना के माध्यम से किया था। इस आलोचना का मुख्य उद्देश्य रचना के पात्रों की मन:स्थितियों एवं अन्त:प्रेरणाओं का मनोविश्लेषण करना है। इस आलोचना-प्रणाली में नैतिकता, आदर्श अथवा सुरुचि का महत्व पूर्णतया गौण होता है और वास्तविक महत्व आन्तरिक यथार्थ एवं प्रेरणाओं को प्रदान किया जाता है इसमें कला-सृजन की प्रेरणा का श्रोत अन्तर्मन और मानव अवचेतना को स्वीकार करके समीक्षा का प्रारम्भ होता है।

इस प्रणाली में आलोचक यह स्वीकार करता है कि औपन्यासिक नायक अथवा नायिका के व्यक्तित्व का निर्माण लेखक की अतृप्त आकांक्षाओं एवं अपूर्ण वासनाओं के प्रस्फुटीकरण के रूप में हुआ है। इस प्रकार किसी कलाकृति का सम्बन्ध कलाकार की चेतना और उसके अवचेतन मन से सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया जाने लगा।

कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उनके अन्तस्तल से दबी हुई भावनाओं का प्रतीक होती हैं। समीक्षा में मनोविश्लेषणशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग उद्देश्य-विहीन और केवल पांडित्य प्रदर्शन की आकांक्षा

मात्र नहीं है, ये सिद्धान्त काव्य के वास्तविक स्वरूप-निरूपण में तथा उसे स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करने की प्रेरणा देने में सहायक हैं। काव्य में अस्वस्थ वृत्तियों की प्रेरणा का उद्‌घाटन करके उसे स्वस्थ मार्ग पर लेकर चलाना ही इस समीक्षा की उपयोगिता है।

इस आलोचना-प्रणाली के अन्तर्गत रचना प्रक्रिया का वैयक्तिक दृष्टिकोण, विवशता के परिणामस्वरूप स्वीकार किया जाता है। कलाकार एक वांछित पथ पर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है; किन्तु उसके पथ का स्वरूप-निर्धारण वाह्य प्रक्रियाओं द्वारा निश्चित नहीं होता है। उसका निर्धारण कलाकार के अपने जीवन की परिस्थितियों, आन्तरिक एवं वाह्य वातावरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न विवशता के माध्यम से होता है। कलाकार की प्रेरणा शक्ति एक विमूढ़ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।

17. प्रगतिवादी आलोचना-प्रणाली

प्रगतिवादी आलोचना-प्रणाली 'मार्क्स' के सिद्धान्तों से प्रभावित है और उन्हीं के आदर्शों का पोषण करती है। मार्क्स की विचारधारा के अनु-सार किसी देश के इतिहास में ऐसा भी काल आ सकता है, जिसमें कला अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाती है। कला-प्रक्रिया की यह दिशा सामा-जिक प्रगति की दिशा से भिन्न होती है।

प्रगतिवादी समालोचना इन्हीं तथ्यों को प्रश्रय देती है। इसमें वर्ण्य-विषय की भाँति शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने पर बल दिया जाता है। प्रगतिवादी आलोचना सीधी-सादी अकृत्रिम-भाषा, चमत्कारविहीन शैली तथा अलंकारहीन पर सौन्दर्ययुक्त और प्राणवान् वाक्य प्रयोग आदि पर बल देती है। कलात्मकता के स्थान पर जीवनगत भावनात्मकता को प्रश्रय प्रदान किया जाता है। यदि किसी कृति में इन तत्वों का अभाव है, तो उसे किसी भी रूप में प्रगतिवादी समालोचक श्रेष्ठ नहीं कहेगा।

प्रगतिवादी समालोचक किसी रचना की श्रेष्ठता जीवन शक्तियों के आधार पर स्वीकार करते हैं। जैसा कि स्पष्ट है कि समालोचक जीवन का चतुर्मुखी पक्षों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। तत्पश्चात् इसी संदर्भ में उसका मूल्यांकन करता है, जीवन में न तो स्थिरता ही है और न अपरिवर्तन-शीलता है। वह गतिशील एवं विकसनशील है। किन्तु हम अपनी प्राचीन-परम्पराओं को नहीं भूल पाते। इस प्रकार प्राचीनता और नवीनता के संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी के फलस्वरूप साहित्य में भी द्वन्द्ववादी आलोचना साहित्यकारों को इसी द्वन्द्व की भीषणता के प्रति आगाह कर

उन्हें प्राचीनता का अनुगमन करने की चेतावनी देती है। प्रगतिवादी आलोचना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-वैषम्य के आधार पर साहित्यकार के जीवन और साहित्य की क्रियात्मकता और गतिशीलता को उभारना चाहती है और उसी दिशा में प्रयत्नशील होती है।

आलोचना का विकास

हिन्दी आलोचना का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। सर्वप्रथम इसका स्वरूप सूक्तियों के रूप में प्रचलित रहा। उदाहरणार्थ–सूरदास के विषय में 'सूर-सूर तुलसी-शशी' इसी प्रकार 'नन्ददास' के विषय में 'नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया आदि उक्तियाँ प्रचलित हुईं। इन उक्तियों का महत्व आज के आलोचना-प्रधान-युग में भले ही न हो, किन्तु आलोचना के उद्भव के रूप में इनका ऐतिहासिक महत्व तो मानना ही होगा। इन सूक्तियों में यह एक बहुत बड़ा दोष रहा है कि इनमें आलोचक तटस्थ नहीं रह पाये हैं। उनकी वैयक्तिक श्रद्धा किसी भी कवि को उच्चावच करने में सकोच नहीं करती थी उदाहरणार्थ 'तुलसी गंग दुओ भये कवियन के सरदार' इस उक्ति में तुलसी के साथ गंग कवि की स्थिति कितनी उपहासास्पद प्रतीत होती है? उक्त दोष के अतिरिक्त यह भी दोष है कि इस सूक्ति-पद्धति द्वारा कवि या लेखक की अन्य विशेषताओं पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। केवल गुणात्मक पक्ष तो अपनी अति सूक्ष्म झांकी दिखला देता है, किन्तु दोष पक्ष सर्वथा अछूता रह जाता है।

वास्तव में हिन्दी आलोचना के जन्मदाता भारतेन्दु युगीन लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी माने जाते हैं। इस काल में 'आनन्दकादम्बिनी' नामक आलोचनात्मक-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसमें सूक्ति-पद्धति से आगे चलकर इन आलोचकों ने विचारात्मक-पक्ष प्रारम्भ किया।

जहाँ तक पुस्तकाकार आलोचना का प्रश्न है, इसका श्रीगणेश, "द्विवेदी-युग" से माना जाता है। स्वयं द्विवेदी जी एक उच्चकोटि के आलोचक थे। इसके समय में आलोचना के निर्णयात्मक तथा परिचयात्मक, ये दो रूप विशेष प्रचलित हुए। निणर्यात्मक-आलोचना के रूप में "कालिदास की निरंकुशता" और 'परिचयात्मक-आलोचना' के रूप में "नैषधचर्चा" शीर्षक लेख महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने स्वस्थ एवं वैज्ञानिक आलोचना की परम्परा को जन्म देकर उसका सम्बर्द्धन किया।

द्विवेदी जी के अनन्तर मिश्र बन्धुओं का प्रयास इस दिशा की एक

महत्वपूर्ण कड़ी मानी जाती है। इन्होंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ में हिन्दी के 'लब्धप्रतिष्ठ' नव कवियों की आलोचना निकाली। इसमें इन्होंने कवियों के गुण तथा दोषों के अतिरिक्त अपनी निणर्यात्मक शक्ति का भी परिचय दिया, किन्तु तटस्थता अथवा निरपेक्षिता का गुण इन आलोचकों में भी नहीं प्राप्त होता है।

मिश्र बन्धुओं के पश्चात् पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी-सतसई' की भूमिका में बिहारी को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित कर दिया इसकी प्रतिक्रिया में आलोचक 'कृष्ण-बिहारी' ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखकर 'बिहारी' से 'देव' को ऊँचा उठा दिया। जिसकी प्रतिक्रिया में लालाभगवान दीन ने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक की रचना कर पुनः 'बिहारी' की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर दिया। इस प्रकार यहीं से तुलनात्मक-आलोचना का सूत्रपात हुआ।

वास्तव में व्याख्यात्मक एवं सैद्धान्तिक समीक्षक के रूप में आलोचक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल से वैज्ञानिक-आलोचना का विधिवत् सूत्रपात हुआ। इन्होंने 'तुलसी ग्रन्थावली' 'भ्रमरगीत सार' और 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिकाओं में क्रमशः तुलसी, सूर तथा जायसी की जो विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है, वह आज भी महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" ग्रन्थ में शुक्ल जी की वैज्ञानिक समीक्षा-शैली के दर्शन होते हैं। 'चिन्तामणि' भाग-2 में शुक्ल जी के सैद्धान्तिक-समीक्षा–सम्बन्धी-निबन्ध संगृहीत हैं! प्राच्य एवं पाश्चात्य आलोचना-शैली का जो समन्वय शुक्ल जी में मिलता है, यह अन्य समीक्षकों में नहीं मिलता। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी कबीर की विस्तृत आलोचना लिखकर व्यावहारिक-आलोचना पद्धति का परिचय दिया है।

आधुनिक युग के नवीन आलोचकों में डा० श्यामसुन्दर दास का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने ऐतिहासिक आलोचनाओं की ओर विशेष ध्यान दिया है। इनका 'साहित्यालोचन' समीक्षा शास्त्र में विशेष समादृत है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कबीर, सूर, तुलसी आदि पर व्यापक आलोचनाएँ लिखी हैं और 'हिन्दी भाषा का साहित्य और इतिहास' की रचना कर आलोचना-जगत् का बड़ा उपकार किया है।

वर्तमान समय में आलोचना के विभिन्न–रूप सामने आये हैं, जिनमें बाबू गुलाबराय, रामनाथ 'सुमन', डॉ० पीताम्बर दास बड़थ्वाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० सत्येन्द्र कृष्णशंकर शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र,

डा० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि की रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जहाँ तक पत्रों एवं पत्रिकाओं का प्रश्न है उनमें 'आलोचना' 'कल्पना' 'माध्यम' नागरी प्रचारिणी पत्रिका तथा 'सम्मेलन पत्रिका' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आलोचना का महत्त्व

आलोचना का उद्देश्य कटुता प्रहार, छिद्रन्वेषण एवं आरोपण-प्रत्यारोपण नहीं है, दिशा-निर्माण का है, सौन्दर्य एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा का है। वास्तव में आलोचना किसी कृति में कवि अथवा लेखक के उद्देश्यों का अन्वेषण करती है। आलोचना के तीन प्रमुख उद्देश्य माने गये हैं—

1—**रचना** CREATION

2—**व्याख्या** INTERPRETATION

3—**निर्णय** JUDGEMENT

"The ultimate end of criticism is much more to establish principles of writing then to furnish rules to pass judgement on what has been written by others." –Carllylle

सूर, तुलसी, कबीर, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि ने क्या अपनी रचनाओं के प्रारम्भ करने के पूर्व काव्य, नाटक, उपन्यास, महाकाव्य आदि के रचना-सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया ? कभी नहीं। श्रेष्ठ साहित्यकार स्वयं ही सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं।

आलोचना का सर्वप्रमुख उद्देश्य किसी कृति की विशेषताओं एवं उसके अभावों को संतुलित एवं तटस्थ दृष्टि से स्पष्ट करना तथा ऐसी स्थिति का निर्माण करना है, जिससे पाठकों की रुचि परिष्कृत होकर साहित्य-निर्माण एवं विकास पथ की ओर अग्रसर हो सके।

आलोचना का मुख्य उद्देश्य है कि वह श्रेष्ठतम् रूप में साहित्य द्वारा किये जाने वाले इस जीवन की व्याख्या करे।

सौन्दर्य के माध्यम से अनेकरूपता के वातावरण में एकरूपता की स्थिति उत्पन्न करना आलोचना का उद्देश्य है।

4. आलोचना का उद्देश्य है कि वह किसी रचना में छिपे हुए सौन्दर्य तत्वों का अन्वेषण करे और इन तत्वों को स्पष्ट करे, जो मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं, सहज मानवीय संवेदनाओं को गौरव प्रदान करते हैं और शोषण एवं संहार जैसी प्रकृति की अवरोधक शक्तियों को समूल नष्ट करने के सराहनीय संकल्प से उद्‌भूत होकर गतिशील होते हैं।

5. आलोचना का उद्देश्य ऐसे साहित्य की प्रतिष्ठा करना है जो मनुष्य

जीवन की यथार्थताओं का इमानदारी से चित्रण कर समाजवादी रचना प्रक्रिया में योगदान देता है ।

6. आलोचक समाज का प्रतिनिधि बन कृति को देखता है, समाज को उक्त कृति के मूल्याङ्कित तथ्यों से परिचित कराता है और लोकहित की दृष्टि से उसका मूल्याङ्कन कर लेखक को भी दिशा-निर्देश करता है । आलोक, लेखक और पाठक के बीच दुभाषिये–का-सा काम करता है और समाज तथा कलाकारों को पारस्परिक सम्पर्क में लाकर लेखक के साथ ही नये विचारों और भावों को चलने देने में सहयोग प्रदान करता है ।

राजशेखर–1–"सा च कवे: श्रममभिप्रायं च भावयति । तया खलु फलित: कवेर्व्यापारतरु: ।"

मैथ्यू ऐरनाल्ड–1–Simply to know the best that is known and thought is the world and in its turn making this known to creae a current of true and fresh indeas."

साहित्य के क्षेत्र में आलोचना का विशिष्ट महत्त्व है । आलोचना के द्वारा कोई भी कृति प्रकाश में आती है और पाठक आलोचना पढ़कर ही उसके अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं अथवा निवृत्त होते हैं ।

यदि ग्रन्थ की स्वस्थ आलोचना की जाती है तो निश्चय ही उससे पाठकों का परम उपकार होता है । आलोचना के अभाव में हम किसी भी कृति को पढ़ने में संलग्न हो जाते हैं और कभी-कभी पढ़ने के पश्चात् ऐसा अनुभव होता है कि उक्त पुस्तक दो कौड़ी की है और इसके अध्ययन में हमने अपना अमूल्य समय व्यर्थ कर दिया है । इसके अतिरिक्त यदि वह पुस्तक स्वयं क्रीत की गई है तो आर्थिक हानि का भी पश्चाताप होने लगता है । आलोचना हमें इस आर्थिक अपव्यय एवं सामयिक क्षति से बचाने का काम करती है ।

आलोचना के माध्यम से ऐसी उत्तम-कृतियाँ प्रकाश में आ जाती हैं, जो प्रचार के अभाव में विद्वानों के समक्ष नहीं आ पातीं उदाहरणार्थ यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में जायसी के 'पद्मावत, को इतना न सराहा होता तो क्या जायसी हिन्दी के महाकवियों की श्रेणी में स्थान पा सकते थे और क्या पद्मावत को हिन्दी के महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त हो सकता था ? यह आलोचना की ही महत्ता है कि जिसने ग्रन्थ रत्न "पद्मावत" को अन्धकार के गर्त से निकालकर साहित्य-गगन के जाज्वल्यमान प्रांगण में प्रतिष्ठित कर दिया ।

आलोचना में इतनी महती शक्ति होती है कि वह उत्कृष्ट रचना को

भी एकांगी सिद्ध कर सकती है और कविमूर्धन्य को भी सामान्य कवियों की श्रेणी में बिठा सकती है। उदाहरणार्थ महाकवि केशव की रामचन्द्रिका को आचार्य शुक्ल की आलोचना ने 'छन्दों का अजायब घर' सिद्ध कर दिया और महाकवि केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' बना दिया। सारांश यह कि आलोचना साहित्य जगत् अति आदरास्पद है। उससे कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन मिलता है, दूषित कृतियाँ नहीं पनपने पातीं, सत् साहित्य की सृष्टि होती है। सामयिक माँग के अनुसार साहित्य का सृजन होता है। वह कला और कलाकार दोनों को सजग रखती है। किसी भी कृति के उद्देश्य को स्पष्ट करती है। कवि तथा पाठक के बीच में एक श्रृंखला बनकर दोनों में तादात्म्य स्थापित करती है। पाठक के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करती है। कला में सौन्दर्याभिव्यक्ति को प्राधान्य प्रदान कराती है। इस प्रकार साहित्य के ही क्षेत्र में नहीं वाङ्गमय के प्रत्येक क्षेत्र में आलोचना का विशिष्ट महत्व है।

समालोचना के कर्त्तव्य और गुण

जिस प्रकार 'यशसे' 'अर्थकृते' 'व्यवहारविदे' 'शिवेतरक्षतये' आदि काव्य के उद्देश्य बतलाये गये हैं उसी प्रकार आलोचना के कई उद्देश्य हैं।

समालोचक का मुख्य उद्देश्य तो पुस्तक का विवेचनापूर्ण परिचय कराकर उसके रसास्वादन में पाठकों की सहायता करना है। समालोचक इस कार्य की पूर्ति के लिए कई प्रकार के साधनों का उपयोग करते हैं और काव्य की उत्तमता के निर्णय करने में कई प्रकार की कसौटियों से काम लेते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग तो यश के लिए ही समालोचनायें करते हैं। दूसरों के गुण-दोष निकालने से लोग सहज में जनता का चित्त आकर्षित कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग स्वान्त: सुखाय' के ऊँचे उद्देश्य से भी समालोचना करते हैं।

समालोचना के लिए समालोचक को ऊँचे उद्देश्यों को ही लेकर प्रवृत्त होना चाहिए, किन्तु समालोचक का ऊँचा उद्देश्य होते हुए भी वह अपनी अयोग्यता के कारण लेखक के प्रति अन्याय कर सकता है। इसलिए जब तक अपने कार्य में क्षमता न हो, समालोचक को किसी की समालोचना करने की अनाधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

समालोचक के आवश्यक गुण

समालोचक के कुछ आवश्यक गुणों का वर्णन इस प्रकार है—

1–अन्तर्दृष्टि या पैठ 2–सहानुभूति 3–बहुज्ञता 4–धैर्य और निष्पक्षता की वैज्ञानिक मनोवृत्ति 5–औचित्य का ज्ञान 6–प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति

1–अन्तर्दृष्टि या पैठ (Insight)–यह बहुत अंश में दैवीदेन होती है। जिस प्रकार कविता के लिए शक्ति या 'प्रतिभा' आवश्यक है, उसी प्रकार 'मापक' या समालोचक होने के लिये पैठ का होना आवश्यक है। पैठ वाला मनुष्य सहज ही कवि के अभिप्राय को ग्रहण कर सकता है जिस प्रकार कवि मानव-जीवन की अन्धतम गुफाओं में प्रकाश डालकर "जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि" की लोकोक्ति को सार्थक कर देता है, उसी प्रकार मापक या समालोचक कवि के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसमें रक्खे हुए रत्नों को प्रकाश में लाता है। यह गुण यद्यपि दैवीदेन के रूप में प्राप्त होता है तथापि अध्ययन और सत्संग से भी थोड़ा बहुत मिल सकता है। इस पैठ के लिए प्रकृत संस्कारों के साथ अध्ययन और सत्संग से प्राप्त रसिकता आवश्यक है।

रसिक हुए बिना कविता का रसास्वाद होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसीलिए तो यह कहा है कि "अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मालिख, मालिख, मालिख ॥" ('भर्तृहरि')

रसिकता का अर्थ है–भावतन्मय हो जाने की शक्ति। वह भावतन्मयता इतनी तो न चाहिए कि वह कविता के दोषों को न देख सके, किन्तु इसको इतनी मात्रा में अवश्य होना चाहिए कि पाठक और लेखक का भाव-तादात्म्य हो सके। सूर और तुलसी की आलोचना के लिए नितान्त जड़ और प्रत्यक्षवादी होने से काम न चलेगा, समालोचक को रसिक होना आवश्यक है।

2–सहानुभूति–इस गुण की प्राप्ति के लिए सहृदयता की आवश्यकता है। यदि भावुक सहृदय दृष्टि से किसी रचना को देखता है तो उसके मर्म को वह सहज समझ सकता है, किन्तु जो लोग छिद्रान्वेषण को ही कर्त्तव्य समझते हैं, उनको छिद्र तो अवश्य मिल जाते हैं; किन्तु वे रत्नों के स्थान पर शून्यता को ही अपनाते हैं। सुधार के लिए छिद्रान्वेषण बुरा नहीं, किन्तु गुणों को छोड़ देना, लेखक को निरुत्साहित कर देना है और भविष्य में उसके द्वारा होने वाली साहित्य-सेवा में बाधक बनना है। इसीलिए भावुक लोग गुणों की खोज करते हैं, दोषों की नहीं, अर्थात् शिव जी की भाँति बुधजन गुण और अवगुण दोनों को ग्रहण करते हैं, किन्तु चन्द्रमा की भाँति गुणों को शिर पर रख प्रकाशित करते हैं, दोषों को विष की भाँति गले के भीतर रखते हैं, दोषों को दबाना तो उचित नहीं है किन्तु उसको उसी अनुपात में रखना चाहिये जिसमें वे पुस्तक में हों। दोषों को बढ़ाकर लिखना और गुणों को दबा रखना लेखक के साथ अन्याय है यदि पुस्तक में दोषों का अनुपात अधिक है, तो उसको उसी अनुपात में रख देना चाहिए। संसार में ऐसे

लोगों की भी कमी नहीं है, जो कि जोंक की भाँति केवल दोषों को ही ग्रहण करते हैं। ऐसे लोग जलौकाकृति के कहलाते हैं।

3–**बहुज्ञता**–बहुज्ञता समालोचक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिसको साहित्य शास्त्र का ज्ञान होता है वह कवि के अभिप्राय को भली-भाँति समझ सकता है, वह साहित्य के संकेतों, रूढ़ियों और कवि-संयमों को भली-भाँति जानता है। वह जान लेता है कि कवि कहाँ पर परम्परा का अनुकरण कर रहा है। वह यदि उसमें दोष देखेगा तो कवि के व्यक्तित्व का नहीं, वरन् उस परम्परा का, जिसका उसने अनुकरण किया है। यह सब शृंगारी कवियों के चरित्र पर लांछन लगाने के लिए पत्युंत्सुक न होगा। यह कवि को समझने में भूल न करेगा। दूसरे के रत्नों का मूल्यांकन करने के लिए कुछ घर की पूँजी भी आवश्यक है।

बहुज्ञ समालोचक किसी कवि या लेखक की कृति पर विचार करते हुये यह भी जान लेगा कि उसने कहाँ तक परम्परा का अनुकरण किया है और कहाँ तक किसी विशेष कवि की विशेष बात की चोरी की है, जो बातें साहित्य ससार की सम्पत्ति हैं, उनका लिखना चाहे चमत्कार का अभाव समझ लिया जाए, किन्तु चोरी नहीं कहला सकता। वह अन्य की चोरी नहीं करता, निजी सम्पत्ति की ही चोरी करता है।

बहुज्ञ समालोचक न तो किसी कवि से सहज में प्रभावित होगा और न वह सहज में ही किसी की चोरी करेगा। ज्ञानी समालोचक छिपे हुए रत्नों की खोज करेगा, उत्तम रत्नों पर मुग्ध हो जायेगा; किन्तु वह साधारण रत्नों के प्रभाव से प्रभावित नहीं होगा। जिसने बहुत नहीं पढ़ा है, वह साधारण से साधारण बात को अनूठी कहने को तैयार हो जायेगा। समालोचक की बहुज्ञता 'अप्रशंसनशीलता' (Niladmirari) अर्थात् किसी की प्रशंसा न करने की मनोवृत्ति में परिवर्तन न होनी चाहिए। आलोचक को उस सम्बन्ध में बहुत सन्तुलित रहना चाहिए। आलोचक जहाँ तक हो सृष्टा न हो, नहीं तो वह अपनी कृति के आगे अन्य की कृति को महत्व नहीं देगा। समालोचक के लिए बहुज्ञता के अतिरिक्त विशेषज्ञता की भी आवश्यकता है। प्रत्येक समालोचक प्रत्येक कृति की समालोचना नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक की समालोचना के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक है।

4–**धैर्य और निष्पक्षता की वैज्ञानिक मनोवृत्ति**–यह समालोचक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये समालोचक को वैज्ञानिक और दार्शनिक की मनोवृत्ति रखनी चाहिये। वैज्ञानिक हमेशा यह देखता है कि वह

अपने उत्साह में भूल तो नहीं कर रहा है, वह अपनी रुचि का बिल्कुल निराकरण कर देता है। वह अपने पक्ष के विपरीत उदाहरणों को उसी तत्परता से देखता है, जिससे अनुकूल उदाहरणों को। समालोचक को न्यायाधीश की भाँति पक्षपात रहित होना चाहिए समालोचक को वकील बनने की आवश्यकता नहीं। यदि वकालत भी करे, तो अपनी वकालत न करे। लेखक की वकालत करने में इतना दोष नहीं। समालोचक के लिये दलबन्दी तथा व्यक्तिगत राग-द्वेष के भावों को अपने से दूर रखना वांछनीय है।

उसको मेढक की भाँति न होना चाहिये, जो अपनी रुचि और कीचड़ के साथ सम्बन्ध के कारण चन्दन और कीचड़ के झगड़े में कीचड़ को चन्दन की अपेक्षा श्रेष्ठ बतला दे।

5–**औचित्य का ज्ञान**–बहुज्ञता और विशेषता के साथ समालोचक को औचित्य का ज्ञान होना आवश्यक है। उसको गति (Movement) अनुपात (Proportion) और (Unity) अन्विति की जाँच करने का अभ्यास होना आवश्यक है, जिससे वह यह कह सके कि अमुक स्थान में अमुक आवश्यक बात के लिये कम स्थान दिया गया है और अनावश्यक बातों को आवश्यक विस्तार दे दिया गया है। अन्विति, संगति या निर्वाह का गुण तो सभी रचनाओं में होना चाहिये। विवेचनात्मक ग्रन्थों के लिये तो समालोचक को तर्क-शास्त्र का ज्ञान होना भी आवश्यक है। काव्य के समालोचक को काव्य नियम तथा गुण-दोषों और पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है तभी वह समालोचक सफल समालोचना कर सकेगा।

6–**प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति**–समालोचक स्वयं एक प्रकार का सृष्टा और कलाकार होता है। वह कृति का स्वयं ही अध्ययन नहीं करता, वरन् दूसरों को भी कराता है। कवि के हृदयगत रस को दूसरे के आस्वाद का विषय बनाना सहज कार्य नहीं अपने हृदय के रस को दूसरों तक पहुँचाना भी तो एक कला है, किन्तु दूसरे के हृदय के रस को तीसरे तक पहुँचाना और भी ऊँचे दर्जे की कला है।

अन्त में सबसे बड़ी बात जो आलोचक में होनी चाहिये वह है 'निःसंगता'। विषय की विवेचना में उसे अपने व्यक्तिगत विशेषत्व को नहीं लादना चाहिये। उसे इस बात की पूरी तत्परता बनाए रखनी चाहिए कि वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों और मान्यताओं को अपनी विवेचना की आधार शिला न स्वीकार करे। जो जीवन और जगत् साहित्यकार द्वारा निर्मित है उसके भीतर वह इस प्रकार प्रवेश करे कि अपनी भावनाओं और अपनी सम्पूर्ण बनावट के कुम्भकर्णत्व से कवि कृति की कोमलता छिन्न-भिन्न

न कर डाले। उसे तो मसक समान रूप धारण कर अपनी सीता खोजनी चाहिये। व्यावहारिक विचार से इस कोटि की योग्यता बड़ी कठिन है और इसके बिना काम नहीं चल सकता। इसके अभाव में काव्य निर्माता पीछे छिप जायेगा और आलोचक ऊपर उभर आयेगा। इस प्रकार सारा प्रयास ही विकृत हो उठेगा। पाश्चात्य विवेचकों ने इस योग्यता की बड़ी महिमा बताई है और है भी बड़े मर्म की बात, पर इसके विषय में तात्त्विक-मत-भेद के लिये बड़ी गुंजाइश दिखाई पड़ती है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी भी समर्थ और योग्य समीक्षक में प्रतिभा और सहृदयता के अतिरिक्त व्युत्पत्ति एवं दार्शनिकता-पूर्ण निःसंगता का होना अति आवश्यक है। □

साहित्य

परिभाषा

सामान्यतया 'साहित्य' शब्द की व्याख्या करने में 'साहित्य' शब्द का आश्रय लिया जाता है, किन्तु इससे भी सूक्ष्म-उपाय क्या हो सकता है; इस ओर साहित्यचिन्तकों का ध्यान नहीं गया। वास्तव में 'सहित' शब्द भी व्याख्येय है। यह शब्द 'स + हित' इन दो अवयवों से निष्पन्न प्रतीत होता है। 'हित' शब्द संस्कृत की 'धा, धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर निर्मित होता है। इस प्रकार 'हित' का व्युत्पत्तिलभ्य-अर्थ 'दधाति इति हितम्' अर्थात् जो धारण करता है, उसे 'हित' कहते हैं, यह सिद्ध होता है। 'सहित' शब्द में 'हित' को पूर्ववर्ती 'सकार' का 'सह' या साथ अर्थ होता है। इस प्रकार 'सहित' शब्द का समुदित अर्थ हुआ—"साथ धारण करने वाला।" अब यहाँ पुन: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'किसका साथ धारण करने वाला' उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रसंगवशाद् 'शब्द और अर्थ" का ही साथ धारण करने वाला, 'सहित' पदावाच्य होना चाहिए, क्योंकि 'प्रकरण' या 'प्रसंग' भी अर्थ निर्णायक तत्त्वों में माना जाता है। यथा—"अर्थ प्रकरणं लिङ्ग" (मम्मट-काव्य-प्रकाश) 'सहित' शब्द की इतनी व्युत्पत्ति कर लेने के पश्चात् 'सहितस्य भाव: कर्मवा = 'साहित्यम्' अर्थात् 'सहित' के भाव अथवा कर्म का नाम 'साहित्य' है, यह व्युत्पत्ति पूर्ण होती है। इस प्रकार जब 'साहित्य' की प्रथम-व्याख्या की जायगी, तब उसका यह रूप होगा—"शब्द और अर्थ का साथ धारण करने वाला 'भाव' साहित्य है।" इसकी कर्मपरक द्वितीय-व्याख्या का स्वरूप यह होगा—"शब्द और अर्थ का साथ धारण करने वाला कर्म 'साहित्य' है।" प्रथम-व्याख्या एवं द्वितीय-व्याख्या में 'भाव' एवं 'कर्म' को समझने से दोनों में सूक्ष्म-पार्थक्य प्रतीत होता है। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'साहित्य' और 'काव्य' परस्पर पर्याय-वाची होते हैं, क्योंकि 'काव्य' में शब्द और अर्थ का साथ धारण करने वाला भाव विद्यमान रहता है। द्वितीय-व्याख्या के अनुसार 'साहित्य' शब्द 'वाङ्मय' का पर्याय प्रतीत होता है क्योंकि शब्द और अर्थ का साथ धारण

करने वाला कर्म अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत इतिहासादि विषय भी सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे अंग्रेजी का 'लिट्रेचर (Literature) शब्द अपने संकुचित अर्थ में 'काव्यादि का वाचक है और विस्तृत अर्थ में समस्त वाङ्मय का वाचक है, वैसे ही 'साहित्य शब्द भी उभयार्थों में प्रयुक्त होता है।

'वाङ्मय' शब्द तो अतिप्राचीन है, किन्तु 'काव्य' के अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 8वीं शताब्दी के लगभग प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। आचार्य 'कुन्तक' ने 'साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम्' (अर्थात् साहित्यार्थ के सुधासिन्धु का सार उन्मीलित कर रहा है।) की प्रतिज्ञा की थी। उक्त उल्लेख उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवितम्' में प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'राजशेखर' ने शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव की विद्या को 'साहित्य विद्या' की संज्ञा प्रदान की है—

'शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'

कुछ लोग 'साहित्य' शब्द की व्याख्या में 'हित' शब्द का लोक प्रचलित अर्थ 'कल्याण' या 'मंगल' अथवा 'शिव' लेते हैं। तदनुसार "हित के भावों से पूर्ण शब्द और अर्थ को साहित्य कहते हैं।" यह व्युत्पत्ति काव्य के 'शिवं' तत्त्व को प्रश्रय देती है, किन्तु इसके अतिरिक्त समस्त-वाङ्मय भी तो लोकहितकारी है ? इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से भी 'साहित्य' के दोनों अर्थ (काव्य तथा वाङ्मय) निकल आते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'साहित्य' (लिट्रेचर) की अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं, जिनका संक्षिप्त-विवरण इस प्रकार है—

'हेनरी हडसन' नामक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान ने (Study of Literature) नामक पुस्तक में 'साहित्य' की व्याख्या इस प्रकार की है—

"Literature is only one of the many Channels in which the Energy of age discharges itself in its Poltical movement, a religious thought, Philosophical speculation and art. We have the same energy overflowing into other forms expression." अर्थात् विभिन्न साधनों में साहित्य ही केवल ऐसा साधन है, जिससे युग-शक्ति की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। यही शक्ति परिप्लावित होकर राजनीतिक-आन्दोलन, धार्मिक विचार, दार्शनिक विवेचन और कला के रूप में प्रकट होती है। अभिव्यक्ति के अन्य रूपों में हमारे पास वही परिप्लावित शक्ति है।

उक्त परिभाषा के अनुसार 'साहित्य' युगविशेष की स्फूर्ति है, जिससे राजनीति, धर्म दर्शन एवं कला भी स्फूर्ति ग्रहण करती है। इस प्रकार सामाजिक स्फूर्ति एवं प्रेरणाशक्ति को इस परिभाषा में अधिक महत्व प्रदान किया गया है।

प्रो० एम० जी० भाटे ने (लिट्रेचर एण्ड लिट्रेरी क्रिटिसिज्म) Literature and Literary criticism नामक पुस्तक में 'साहित्य' की यह परिभाषा दी है–Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the keyboard of Language. अर्थात् साहित्य वह संगीत है, जो मानव के अन्तस्तल से निःसृत होता है और भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होकर जीवन के साथ सामंजस्य स्थापित करता है।

विचार करने पर उक्त परिभाषा में कलात्मकता और जीवन का समन्वय किया गया प्रतीत होता है यदि पूर्व परिभाषा में जीवनतत्त्व की प्रधानता रखी गई है तो इस परिभाषा में 'कला' तत्त्व की प्रधानता रखी गई है।

इसी प्रकार अन्य परिभाषायें भी हैं, जिनमें किसी में 'कला कला के लिए' और किसी में 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है। यथा 'साहित्य समाज का दर्पण है' (Literature is the mirror of society) 'साहित्य जीवन की आलोचना है' (Literature is a criticsim of life.)

हिन्दी के आचार्यों ने अपने-अपने विचारों के आधार पर 'साहित्य' की परिभाषायें दी हैं।

महाबीरप्रसाद द्विवेदी–"ज्ञानराशि के संचित-कोष का नाम साहित्य है।"

डॉ० श्यामसुन्दर दास–"किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि दे सकते हैं, जब जो कुछ उसमें लिखा गया है, वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है।"

मुंशी प्रेमचन्द–"साहित्य की बहुत-सी परिभाषायें की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है।"

वस्तुत: सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समन्वित रूप ही साहित्य है। यदि हम अपने विचारों के आधार पर 'साहित्य शब्द की परिभाषा करें तो इस प्रकार होगी—'आकर्षक भाषाशैली में सरसभावों की अभिव्यक्ति ही साहित्य'।

साहित्य-निर्माण में हेतु

सभी व्यक्ति चाहें कि वे साहित्य की रचना कर लें, तो ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है। साहित्य-निर्माण एक अद्भुत कौशल है, जिसके लिए 'नैसर्गिक साहित्य-प्रतिभा' आवश्यक होती है। यद्यपि अधिकांश साहित्यकार केवल अध्ययन एवं परिश्रम का आश्रय लेकर ही साहित्यिक बनने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उन्हें प्रातिभ-साहित्यकार का गौरव कभी नहीं प्राप्त हो सकता। यथा–

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं,
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठत: पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पय: पूरं परं पङ्किलं,
कुर्वाण: कमलाकरस्य लभते किं सौरभ: ।।

अर्थात् जिसे 'सारस्वतवैभव' (कवित्व शक्ति) कहते हैं, वह गुरुकृपा-रूपी अमृत के पाक से उत्पन्न होता है। उसे कवि ही प्राप्त कर सकता है, पढ़कर प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले व्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकते। जिस प्रकार भैंसा सरोवर में दिन भर बसता हुआ जलराशि को अधिक मलिन बनाता रहता है, किन्तु क्या कमलाकर की सुगन्धि को प्राप्त कर पाता है ? अर्थात् नहीं। इसी प्रकार नैसर्गिक प्रतिभा के अभाव में कोई व्यक्ति केवल अध्ययन एवं परिश्रम के बल पर सफल-कवि नहीं बन सकता।

आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास, इन तीन कारणों को समुदित रूप में काव्य (साहित्य) के प्रति हेतु स्वीकार किया है–

शक्ति निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यपेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

उक्त तीन कारणों में सर्वप्रथम एव मुख्य कारण 'कवित्वशक्ति' का होना है। यह शक्ति जन्मजात होती है, अध्ययन प्रसूत नहीं। इसकी इसी दुर्लभता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है–

'कवित्वं दुर्लभं लोके शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।'

अर्थात् लोक में 'कवित्व' दुर्लभ है और कवित्व-शक्ति तो और भी दुर्लभ है। उक्त प्रथम कारण के पश्चात् द्वितीय कारण 'निपुणता' है। यह निपुणता या चातुरी लौकिक ज्ञान, अनेक काव्यों तथा शास्त्रादि के अध्ययन से उत्पन्न होती है। इसके अभाव में प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी अपनी रचना में सफल नहीं हो सकता। कवि या साहित्यकार को अनेक विषयों का ज्ञान अपेक्षित होता है। देश, काल तथा परिस्थिति से अपरिचित या स्वल्प परिचित कवि हास्यास्पद बन जाता है।

तृतीय कारण 'अभ्यास' है। इस 'अभ्यास' की प्राप्ति के लिए

साहित्यकार को किसी ऐसे अधिकृत साहित्यमहारथी से शिक्षा लेनी पड़ती है जो स्वयं इस विषय का मर्मज्ञ हो। तत्पश्चात् उसके मार्ग-दर्शन में उसे साहित्य-रचना का अनवरत-अभ्यास करना पड़ता है। अभ्यास के अभाव में प्रतिभा सम्पन्न, लोक काव्यशास्त्रादि ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति भी साहित्य-रचना में पूर्ण सफल नहीं हो सकता, उसे रचनाकाल में पर्याप्त विलम्ब लगेगा और विचारों की अविच्छिन्न शृंखला की स्पष्ट अभिव्यक्ति में भी बाधा प्रतीत होगी।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'शक्ति' 'निपुणता' और 'अभ्यास' ये तीनों कारण सामूहिक रूप से साहित्य रचना के हेतु हैं। इनमें से एक के भी अभाव में प्रभविष्णु एवं सफल-साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता।

साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणायें

साहित्य की गौरव-गरिमा का गायन करते हुए प्रायः लोग कहा करते हैं कि वह पृथ्वी और स्वर्ग के बीच की वस्तु है, किन्तु वास्तव में साहित्यिक की गति त्रिशंकु की-सी नहीं है। विश्वामित्र की भाँति साहित्यकार अपने यजमान को स्नेह से सदेह स्वर्ग पहुँचाने का दावा नहीं करता, वरन् वह अपने योगबल से इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग की प्रतिष्ठा कर देता है। पृथ्वी के ऊपर स्वर्ग तो बिना मरे नहीं प्राप्त होता। किसी वस्तु को स्वर्गिक वस्तु तुल्य कहकर प्रतिष्ठा देना इस लोक का अपमान करना है। साहित्य इसी लोक की किन्तु असाधारण वस्तु है और उसके मूल-तन्तु जीवन से ही रस ग्रहण करते हैं।

'साहित्य' जीवन से भिन्न नहीं है, वरन् वह उसका ही मुखरित-रूप है। वह जीवन के महासागर से उठी हुई उच्चतम तरंग है, मानव-जाति के विचारों और संकल्पों की आत्मकथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। 'साहित्य' जीवन-विटप का मधुमय सुमन है, वह जीवन का चरम-विकास है, किन्तु जोखिम से बाहर उसका अस्तित्व नहीं। उसमें पाचन (Assimilation) वृद्धि (Growth) गति और पुनुरुत्पादन (Reproduction) आदि जीवन की सभी क्रियायें मिलती हैं। 'अंग-अंगी से भिन्न गुणवाला नहीं होता इसलिए जीवन की मूल प्रेरणायें ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। जो वृत्तियाँ जीवन की ओर सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं, वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं।

जीवन की प्रेरणायें या साहित्य की मूलभूत प्रेरणायें—

साहित्य का जीवन से तथा जीवन का साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। 'हडसन' ने साहित्य को जन्म देने वाली चार मूलभूत-प्रेरणाओं को माना है, जो इस प्रकार हैं—

1–Our desire for self-expression अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की कामना।

2–Our interest in people and their doings मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव।

3–Our interest in the world of reality in which we live and in the world of imagination which we conjure in to existance. अर्थात्–जगत के प्रति हमारा आकर्षण और कल्पना जगत् के निर्माण की प्रवृत्ति।

4–Our love of form as form. रूप-विधान की कामना।

उपर्युक्त चार मूल-प्रेरणाओं के अतिरिक्त साहित्य को जन्म देने वाली कुछ और बातें भी हो सकती हैं। हमारी समझ में साहित्य की मूलभूत-प्रवृत्ति अनेकता में एकता उपस्थित करने की ओर एकता में अनेकता देखने की कामना है। संस्कृत में 'साहित्य' शब्द का जो व्युत्पत्तिमूलक विग्रह किया जाता है, उससे भी इस बात की व्यंजना होती है। साहित्य को जन्म देने वाली एक प्रवृत्ति और है। मानव ज्यों-ज्यों सभ्य होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी अभिरुचि भी परिष्कृत होती जाती है। उसकी रुचि जितनी परिष्कृत होती जाती है, उसका साहित्य भी उतना ही उदात्त होता जाता है। रुचि परिष्करण की यह भावना भी सत्साहित्य के निर्माण में वर्तमान रहती है। साहित्य-सर्जना बहुत कुछ मानव की सत्यनिष्ठा से भी प्रणोदित होती है। जीवन सत्यों को सुन्दर से सुन्दर ढंग, सुन्दर से सुन्दर रूप में साहित्य ही प्रस्तुत करता है। इससे यह भी प्रकट है कि मानव की सत्य-निष्ठा ने भी साहित्य-सर्जना में योग दिया है।

साहित्योत्पत्ति का एक कारण तन्मयता भी होती है। जिस प्रकार विज्ञान के मूल में जिगीशा की भावना रहती है, उसी प्रकार साहित्य के मूल में तन्मयता की भावना काम करती है। आदि मानव ने जब सृष्टि के अभिनव पदार्थ पहले-पहल देखे होंगे, तो वह उन्हें देखकर विस्मयाभिभूत हुआ ही होगा। इस विस्मयाभिभूति के पश्चात् रमणीय पदार्थों ने उसकी बुद्धि और चेतना को तन्मय कर लिया होगा। तन्मयता की इसी स्थिति से उठकर (जगकर) वह अपनी अनुभूतियों को काव्य, नाटक, कहानी आदि विविध साहित्य-विधानों में व्यक्त करने के लिए आकुल हो उठा होगा। आज का साहित्य उसकी आकुलता का लिपिबद्ध-इतिहास कहा जा सकता है और चाहे हम ज्ञान-राशि का संचित कोष कहें, चाहे काव्य कहें और चाहे कोई भी अभिधान दें किन्तु तन्मयता की स्थिति में उद्भूत भावनाओं की साकार

अभिव्यक्ति साहित्य ही कहलाएगी।

साहित्य-सर्जना में जीवन और जगत् का द्विमुखी प्रभाव दिखाई पड़ता है। एक समाज का, दूसरे जीवन की प्रेरणाओं का। समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है इस विषय को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत विचार-विमर्श किया है। दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालने का श्रेय ग्रीक विद्वान "हेरीयोडोटस" को दिया जाता है। इसके बाद उन्नसवीं शताब्दी में 'टेन' नामक आचार्य ने भी इस दिशा में अच्छा अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त कौड़वैल नामक विद्वान ने अपने Illusion and Reality. A study of Sources of Poetery नामक रचना में तथा अन्य विद्वानों ने साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की बड़ी सूक्ष्म और अनुसन्धान-पूर्ण व्याख्या की है और यह प्रमाणित कर दिया है कि साहित्य को जीवन और जगत् से निरपेक्ष करके निरूपित नहीं कर सकते। सच तो यह है कि साहित्य जीवन और जगत् से प्रेरणा (चेतना) ग्रहण कर सकता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य की प्रेरणाएँ वे होंगी जो जीवन की प्रेरणाएँ कही जाती हैं।

जीवन की प्रेरणाओं के सम्बन्ध में हमारे यहाँ उपनिषद् ग्रन्थों में सार-पूर्ण बातें कही गई हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् में तो जीवन की उन प्रेरणाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार वे प्रेरणाएँ प्रधान रूप से तीन हैं–

1–पुत्रैषणा। 2–वित्तैषणा। 3–लोकैषणा।

साहित्य की उद्भावना में वह त्रिविध ईषणाएँ भी सहायक होती हैं, किन्तु इन प्रेरणाओं को हम मुख्य न मानकर गौण ही कहेंगे। योरोपीय विद्वानों ने जीवन की प्रेरणाओं पर और भी विस्तार से विचार किया है। इसमें फ्रायड एडलर, युंग आदि आते हैं। फ्रायड ने जीवन की समस्त-क्रियाओं की मूलप्रेरणा 'वासना' ही मानी है। उसका मत है कि साहित्य की आधार-भूमि भी 'वासना' ही है। फ्रायड के समान भारतीयों ने भी साहित्य की अभिव्यक्ति का मूल प्रेरक आदि 'रस' ही माना है। यह आदि-रस और कुछ नहीं 'वासना' ही है।

कालिदास–'क्रियाणाम् खलु धर्माणाम् सत्यतन्यो मूल कारणम्"

यह लिखकर कालिदास ने पूर्ति कर दी।

अन्य विद्वान 'एडलर' ने अभाव क्षति की पूर्ति को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। यह अभाव या क्षति-पूर्ति की भावना साहित्योत्पत्ति में भी गौण रूप से सहायक होती है। इस बात के प्रमाणस्वरूप 'सूरदास'

तथा 'मिल्टन' उद्धृत किये जा सकते हैं। उन्हें दृष्टि का अभाव था। उस अभाव की पूर्ति उन्होंने कल्पनामूलक दृष्टि की सहायता से की। यही बात 'जायसी' जैसे भावुक कवि के सम्बन्ध में लागू हो सकती है।

'एडलर' के इस सिद्धान्त के मूल में हमें प्रभुत्व-कामना की प्रवृत्ति जागरूक दिखाई पड़ती है। जिन लोगों में यह प्रवृत्ति जितनी तीव्र होती है, सम्भवत: उनकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रबल होती है। वे ही साहित्य-क्षेत्र में भी महान् कार्य कर पाते हैं। सम्भवत: यही कारण है कि विश्व के महान् प्रतिभाशाली कवियों और विद्वानों ने अपनी प्रशंसा स्वयं की है। कालिदास, शेक्सपियर, कबीर आदि के उदाहरण हैं। इस प्रकार स्पष्ट है, किसी हीनता-भाव से उत्पन्न होने वाली किसी भी प्रकार के प्रभुत्व की भावना भी साहित्य की एक प्रधान प्रेरिका हो सकती है।

एक दूसरे अंग्रेज 'युंग' ने इन दोनों मतों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। उनका मत है कि साहित्य का जन्म काम-वासना और प्रभुत्व वासना इन दोनों प्रवृत्तियों की प्रेरणा से ही होता है।

बाबू गुलाबराय ने उपर्युक्त मत को ही भारतीय दृष्टिकोण से समझाने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार त्रिविध एषणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरिका होती हैं। उन्होंने कहा—जो भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यदि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, तो यह त्रिविध एषणाएँ भी उसे किसी न किसी रूप में बल अवश्य प्रदान करेंगी।

साहित्य के निर्माण में एक और मनोवैज्ञानिक-प्रवृत्ति कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। सभ्य मानव प्राय: अपने स्वार्थों को परार्थ के आवरण में छिपाकर व्यक्त करना चाहता है। साहित्य की उद्भावना में मानव की यह प्रवृत्ति भी प्रच्छन्न-रूप से क्रियाशील रहती है। इसीलिए उससे स्वार्थ और परार्थ दोनों की सिद्धि होती है।

आचार्य मम्मट ने साहित्य-साधना के उद्देश्य या प्रयोजन बतलाये हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे॥

(1) यशोलिप्सा (2) अर्थलाभ (3) व्यवहार ज्ञानार्थ (4) कल्याण कामना (5) शीघ्र ही आनन्द की अनुभूति कराना (6) मधुर-उपदेश।

उपर्युक्त वर्णित उद्देश्यों में से अधिकांश इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अत: संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साहित्य सृजन में मूल प्रेरणाएँ आत्माभिव्यक्ति, मनुष्य तथा उनके कार्यों के प्रति लगाव, यथार्थ जगत् के प्रति आकर्षण और कल्पना जगत् के प्रति निर्माण, रूप-विधान, अनेकता में

एकता स्थापित करने की प्रवृत्ति, तन्मयता त्रिविध एषणाएँ (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) काम-भावना, प्रभुत्व-भावना तथा स्वार्थ और परार्थ की सिद्धि हैं। साहित्यकार इन्हीं प्रेरणाओं से प्रेरित होकर साहित्य-सृजन करता है।

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का पारस्परिक घनिष्ठ-सम्बन्ध है। साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, अपितु उसका मार्ग निर्देशक भी है। यदि समाज अपनी संचित विशेषताओं को चुन-चुनकर 'साहित्य' का शृंगार करता है, तो साहित्य भी अपनी सरसता द्वारा समाज के अन्त:करण को सरस एवं कोमल बनाता हुआ, उसमें मानवीय विशेषताओं की अभिवृद्धि करता है। इस प्रकार कवि और समाज दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यथा—

'Poet avol age react upon each other' कोई भी 'साहित्य' समाज की उपेक्षा करके चिरञ्जीवी नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि कुछ उच्चकोटि के साहित्यकार देश-काल की सीमा से ऊँचे उठकर चिरन्तन अथवा 'शाश्वत-सत्य' का चित्रण करते हैं और उनका वह दिव्य-संदेश प्रत्येक समय और परिस्थिति में नवीन प्रतीत होता है, किन्तु सभी साहित्यकार ऐसे नहीं हो सकते।

साहित्य का समाज के साथ दो रूपों में सम्बन्ध होता है—प्रथम प्रकार का साहित्य सामयिक लोक-प्रियता प्राप्त कर जनता का मनोरंजन करता है और द्वितीय प्रकार यह है कि वह समाज की वर्तमान मान्यताओं एवं गति-विधियों की उपेक्षा करता हुआ स्वच्छन्द रीति से गतिशील रहता है। इस प्रकार साहित्य की उभयधारायें समाजकल्याण में ही तत्पर रहती हैं। यदि एक से समाज की वर्तमान स्थिति का पोषण होता है, तो द्वितीय से भावी-समाज की रूपरेखा तैयार होती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के साथ समाज का सम्बन्ध होना चाहिए या नहीं, इस प्रश्न पर बहुत विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं। 'मैथ्यू आर्नाल्ड' के मत से 'साहित्य जीवन की आलोचना है।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार आलोचना में किसी कृति के गुण-दोषों का संतुलित-विवेचन होता है, उसी प्रकार साहित्य में भी समाज या मानवजीवन के गुण-दोषों का विवेचन होना चाहिए। ऐसा करने से साहित्य में 'आदर्श' और 'यथार्थ' दोनों का चित्रण सम्भव हो सकेगा। 'वड्सवर्थ' ने भी इस विषय का प्रतिपादन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"केवल जीवन की यथार्थ भावनाओं का निरूपण ही साहित्य नहीं है,

इसके साथ ही भावनाओं का परिष्कार तथा अक्षय-प्रकृति का जीवन के साथ सामंजस्य भी है।"

उपर्युक्त मत के विपरीत 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त मानने वाले विद्वानों ने साहित्य को 'आत्माभिव्यक्ति' का साधन माना है। वे साहित्य का समाज या जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मानते। 'आस्कर वाइल्ड' ने स्पष्ट कहा है–Emotion for the sake of emotion is the aim of art. अर्थात् 'कला का लक्ष्य अनुभूति, अनुभूति के लिए' है।

संतुलित दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि कवि अपनी अनुभूतियों को समाज से ही ग्रहण करता है, क्योंकि सभी मनुष्यों की भाँति वह भी एक सामाजिक प्राणी है। अत: सामाजिक अनुभूतियों से बहिर्भूत जो भी रचना होगी, कोरी काल्पनिक होगी। साहित्यकार का यह दायित्व है कि वह 'साहित्य' में समाज का इतना ही चित्रण करे, जिससे उसकी रसात्मकता में व्याघात न उपस्थित हो और इसी प्रकार कलात्मकता का पोषण इस मात्रा तक करे कि समाज उपेक्षित न रह जाय। तात्पर्य यह कि साहित्यकार का यह कार्य है कि वह कला और जीवन में सामंजस्य स्थापित करे।

साहित्य की उपयोगिता

'साहित्य' सामाजिक-संगठन की अद्भुत शक्ति रखता है। जो कार्य तीरों और तलवारों से भी साध्य नहीं होता, वह साहित्य से साध्य होता है। इसका महत्त्व किसी देश के इतिहास से भी अधिक होता है क्योंकि साहित्य किसी देश की सीमा से परिछिन्न नहीं होता, वह विश्व की विभूति है। यदि ऐसा न होता सो कविवर कालिदास, टैगोर, शेक्सपियर आदि कवियों का साहित्य इतना लोकप्रिय न हो सकता। साहित्य द्वारा समाज-सुधार, जागरण, राष्ट्रीयता आदि के महत्वपूर्ण-कार्य सम्पन्न होते हैं। हिन्दी के वीरगाथाकालीन कवियों ने अपने साहित्य द्वारा वीरों में जिस शौर्य्य और ओज का संचार किया था, वह आज भी स्पृहणीय बना हुआ है। महाकवि तुलसी ने अपनी सामयिक परिस्थितियों में सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में जितना समन्वय कर दिखलाया, आज तक कोई भी राजनीतिक वैसा स्तुत्य कार्य नहीं कर सका।

इस प्रकार साहित्यकार सृष्टा एवं युगप्रहरी होता है। वह अपने साहित्य के माध्यम से मानवीय गुणों की सुरक्षा करता है, नवचेतना की ज्योति जलाता है और अपनी सरसता द्वारा भौतिकता के ताप से संतप्त मानव-हृदय में शीतलता का संचार करता है। साहित्य में ही इतनी क्षमता

है कि वह सहस्रों वर्षों तक अतीत के कलात्मक दृश्यों को सुरक्षित रखता है। इतिहास तो केवल मानवता के अस्थि-कंकाल की ही सुरक्षा करता है, किन्तु साहित्य उसकी जीवनी शक्ति को भी बनाये रहता है, जिसके अन्तर्गत तत्कालीन संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, आचार-व्यवहार आदि सभी का लेखा-जोखा रहता है। यदि आज 'ऋग्वेद' उपलब्ध न होता, तो हम अपने प्राचीन ऋषियों की सहगीय-साधना, सूक्ष्मचिन्तन और उनके जीवन का इतना प्रामाणिक-ज्ञान कहाँ से अर्जित करते ? इस प्रकार साहित्य अतीत का दर्शक, वर्तमान का चित्रक और भविष्य का पथ-प्रदर्शक होता है।

साहित्य में आदर्श और यथार्थ

काव्य में आदर्शवाद

मानव के आदर्शवादी विचारों के परिणामस्वरूप ही साहित्य में आदर्शवाद का प्रवर्त्तन हुआ है। आदर्शवादी विचारों का सम्बन्ध धर्म और नीति से अधिक रहता है। जो लोग साहित्य का सम्बन्ध धर्म और सदाचार से स्थापित करते हैं, आदर्शवाद उन्हीं की देन है। भारत सदा से ही आचार-प्रवण और धर्म-प्रधान देश है इसीजिए उसकी सामान्य-प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। साहित्य के आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने भी आदर्शवाद के प्रवर्तन और प्रचार में योगदान दिया है। वृहदारण्य कोपनिषद में।

'अयं पुरुषः वाङ्गमयः' कहकर द्रष्टा ने साहित्य की आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया है। पुरुष आदर्श रूप है। अतएव यहाँ के साहित्य में आदर्शवाद का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। साहित्य में उपदेशात्मकता आते ही उसकी प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर हो जाती है। इसलिए हमारे यहाँ आदर्शवाद का प्रचार बहुत अधिक हुआ।

पाश्चात्य-साहित्य में वादों का स्थान

पाश्चात्य-साहित्य में प्रमुख रूप से दो बातों पर ध्यान दिया गया।

1–कला कला के लिए

2–कला जीवन के लिए

एक सम्प्रदाय तो भारतीय हितवाद का समर्थक कहा जा सकता है और दूसरा सम्प्रदाय कलावाद का अनुयायी है। कलावाद के अनुयायियों में क्रोचे बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने काव्य को मन की 'कल्पना' नामक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति माना है। वे उसे धर्म से भिन्न मानते हैं। पाश्चात्य हितवादी-सम्प्रदाय काव्य-कला को नीति सदाचार से सम्बन्धित सिद्ध करने का प्रयास करता है। इसीलिए उसमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठा स्वतः हो गई है। क्रोचे

की विचारधारा में भी आदर्शवाद का एक रूप मिलता है।

जो कुछ अद्वैत है वही आदर्श है। इस दृष्टि से हम क्रोचे के सिद्धान्त को कलावादी आदर्शवाद का अभिधान दे सकते हैं। पाश्चात्य देशों में एक प्रकार का आदर्शवाद और मिलता है। ग्रीक साहित्य में दुखान्त नाटकों की बहुलता है, इन दु:खान्त नाटकों की रचना अधिकतर आदर्शात्मक सिद्धान्तों पर हुई है। आदर्शात्मक सिद्धान्तों पर जीवन की यथार्थता प्रतिष्ठित की जाने के कारण इसे हम यथार्थवादी आदर्शवाद कह सकते हैं। इस प्रकार हमें भारतीय और पाश्चात्य काव्य क्षेत्र में तीन प्रकार के आदर्शवाद दीख पड़ते हैं–

1. सदाचार और धर्ममूलक आदर्शवाद।
2. कलावादी आदर्शवाद।
3. यथार्थवादी आदर्शवाद।

आदर्शवाद क्या है ?–काव्य या किसी अन्य साहित्यिक-रचना करते समय कवि अथवा लेखक अपनी भावाभिव्यक्ति में दो पद्धतियाँ स्वीकार करता है। प्रथम तो यह है कि वह तत्कालीन-समाज को जिस रूप में देखता है, उसका उसी रूप में चित्रण कर देता है, स्वत: उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करता। इस विधि में वह यथार्थवादी कहलाता है। द्वितीय-पद्धति यह है कि वह (कवि या लेखक) कल्पना का आश्रय लेकर समाज के सुन्दर रूप का चित्रण करता है, जो प्रत्यक्ष जगत् में दृष्टिगोचर नहीं होता। इस विधि में वह आदर्शवादी कहलाता है। आदर्शवाद संसार के कटु-यथार्थ से ऊबे हुए व्यक्तियों के लिए सान्त्वना प्रद होता है। हम ऐहिक-जगत् में अन्याय प्रपीड़न, शोषण, अत्याचार एवं विद्रोह आदि को देखकर ऊब जाते हैं। यदि यही बातें हमें साहित्य में भी मिलेंगी, तो साहित्य के अध्ययन से विरक्ति हो जायेंगी। इस दृष्टि से साहित्य में 'आदर्शवाद' की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसके चित्रण में कवि या लेखक को कल्पना की सहायता लेनी पड़ती है, क्योंकि दृश्य जगत् इतना सुन्दर नहीं है। इस प्रकार कवि या लेखक का अन्त:-करण अपनी कल्पना द्वारा ही उत्तमोत्तम भावों की सृष्टि करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जैसा हो रहा है, वैसा ही चित्रण करना यथार्थ है और वस्तुत: 'जैसा होना चाहिए' यह आदर्श है।

आदर्श का आंशिक प्रत्यक्ष तो हो जाता है, किन्तु सभी आदर्श प्रत्यक्ष होते नहीं दिखलाई पड़ते। उदाहरणार्थ–यदि कोई कवि या लेखक ऐसे समाज का चित्रण करता है, जिसमें सुख ही सुख है, शान्ति ही शान्ति है, तो यह कोरा आदर्शवाद कहलायेगा, क्योंकि दृश्य-जगत् में कहीं पर ऐसा नहीं

दिखलाई पड़ता। इस प्रकार अधिकांश आदश स्वप्नलोक या कल्पनालोक में ही अस्तित्व रखते हैं। इतना होने पर भी 'आदर्शवाद' आवश्यक है, क्योंकि यदि साहित्य के माध्यम से हम उसका अध्ययन करते हैं, तो निश्चित रूप से हमारे मन में उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है और हम कुत्सित कार्यों से दूर रहकर उन आदर्शों की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करते हैं। साहित्य में आदर्शवाद की आवश्यकता के चित्रण पर बल देते हुए हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने लिखा है–

हो रहा है जो वहाँ सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।। 'साकेत' (प्रथम सर्ग)

यह आदर्शवाद हमारे चित्त से निराशावाद की तमिस्रा को हटाकर आशावाद का नव-प्रकाश फैलाता है। वैदिक मन्त्रों में देखिये–"तमसो मा ज्योतिर्गमय", "असतो मा सद् गमय" आदि में इसी आदर्श की ओर जाने का संकेत मिलता है। हमारा प्राचीन-साहित्य आदर्शवाद की आधार-शिलाओं पर ही टिका हुआ है। आदर्श हमें जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर करता है, कर्म की कमनीय प्रेरणा देता है। हमारे साहित्य में राम, कृष्ण और बुद्ध का जो आदर्श रूप चित्रित है, वह आज भी समाज का पथ-प्रदर्शक बना हुआ है। आदर्शवाद के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी का यह कथन विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है–

"आदर्शवादी आदर्शपात्रों का शील और स्वरूप अभिव्यक्त करने के लिए आदर्शोन्मुख-रचनाओं में स्पष्ट ही दो पक्ष रखते हैं। एक होता है 'सत्यपक्ष' और दूसरा 'असत्यपक्ष'। उसी असत्यपक्ष का विस्तार के साथ ऐसा वर्णन किया जाता है कि जिससे उसके प्रति घृणा या विरक्ति उत्पन्न हो जाय। विरक्ति जगाने का प्रयोजन होता है कि सत्पक्ष के प्रति उद्बुद्धश्रद्धा को अधिकाधिक परिपुष्ट करना। अन्त में इन काव्यों का लक्ष्य यही निकलता है कि सज्जनवत् आचरण करना चाहिए, दुर्जनवत् नहीं।"

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि आदर्शवाद हमें जीवन के उज्ज्वल पथ की ओर ले जाता है, अतः इससे सामाजिक हित की सम्भावनायें प्रबल हैं। तुलसी का 'मानस' राम के आदर्श रूप के चित्रण के कारण ही आज विश्व में अमर है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आदर्शवाद की कुछ सीमा भी है, साहित्य में उसका चित्रण किस मात्रा में हो। क्या कवि या लेखक

को अपनी साहित्यिक-रचना में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा हेतु उपदेश देने का भी अधिकार है ? उत्तर में यह कहना होगा कि नहीं, साहित्य में तो आदर्श के माध्यम से उपदेश 'व्यंग्य' होना चाहिए । इसी को मम्मट ने 'कान्ता-सम्मित उपदेश' की संज्ञा प्रदान की है ।

आदर्श की अपनी सीमायें हैं—उसे 'अतिवाद' से बचना चाहिए । जहाँ वह ऊबे हुए जीवन को सुख-वैविध्य प्रदान करता है, वहाँ उसे 'पलायनवाद' से भी दूर रहना चाहिए । आदर्श का चित्रण उसी मात्रा में उचित होता है, जहाँ तक वह जीवन से सम्बन्ध बनाये रहे । कोरा आदर्श तो स्वप्न बन जाता है, उसकी अप्राप्ति देखकर मानव की आस्था जीवन की परिधि से हटने लगती है । मुंशी प्रेमचन्द जी ने लिखा है ।

"यथार्थ यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है । लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धान्तों की मूर्तिमात्र हों, जिनमें जीवन न हो ।"

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि हमारे आदर्शों को सम्भावना की सीमा से वहिभूत नहीं होना चाहिए, तभी 'आदर्शवाद' की यह परिभाषा सार्थक सिद्ध हो सकती है—

"कल्पना के आधार पर जीवन का सुधरा हुआ रूप उपस्थिति करना 'आदर्शवाद' है ।"

भारतीय-साहित्य एवं पाश्चात्य-साहित्य में आदर्शवाद

भारतीय-साहित्य में आदर्शवाद का उदय वैदिक-काल में ही हो गया था । यद्यपि ऋग्वेद संहिता में हमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ की ही प्रतिष्ठा मिलती है । किन्तु उसका मूलस्वर आदर्शवादी है । उपनिषद,साहित्य में हमें उस मूल स्वर का आदर्शवाद के रूप में पूर्ण प्रस्थापन मिलता है । उपनिषद के पश्चात् रामायण और महाभारत काल आता है । रामायण में आदर्शवाद की ही प्रतिष्ठा मिलती है । महाभारत में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से यथार्थवाद की ही झाँकी दिखलाई पड़ती है, किन्तु उसकी भी आधार-भूमि आदर्शवाद है । भारतीय नाटक-साहित्य में हमें सर्वत्र आदर्शवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है । इस प्रकार आदर्शवाद के प्रभाव के कारण ही हमें एकाध को छोड़कर कोई भी दु:खान्त नाटक नहीं मिलता । संस्कृत-साहित्य का रीति-युग भी आदर्शवाद के प्रभाव से न बच सका । इस युग की रचनाओं में सर्वत्र कलावादी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं ।

हिन्दी-साहित्य पर भी आदर्शवाद का बहुत बड़ा प्रभुत्व दिखाई पड़ता

है। मध्यकालीन वैष्णव-साहित्य पर आदर्शवाद की छाया झलकती है। मध्य-युग की सूफी और निर्गुण-काव्य-धाराओं में तो आदर्शवाद मानो मूर्तिमान ही हो उठा है। छायावादी-युग कलात्मक आदर्शवाद के लिए प्रसिद्ध ही है।

पाश्चात्य साहित्य में भी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। प्रारम्भ में उसमें कहीं-कहीं धार्मिक-आदर्शवाद की प्रतिष्ठा दिखलाई पड़ती है, किन्तु परवर्ती साहित्य पर सर्वत्र कलावादी आदर्शवाद की ही झलक मिलेगी। रोमांटिक युग अपने कलावादी-आदर्शवाद के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं भारतीय-साहित्य ही नहीं पाश्चात्य-साहित्य भी आदर्शवाद से अनुप्राणित है।

काव्य में यथार्थवाद

यथार्थवाद की मूल प्रेरिका ऐहिकता है। जब मानव "एकोऽहम् बहुस्याम् की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विकासोन्मुख होने लगता है, तभी से वह यथार्थवादी बन जाता है। यथार्थवाद के मूल में यही भौतिकता और वैज्ञानिकता है। जीवन और जगत् की जैसी अनुभूति हमारी स्थूल इन्द्रियों को हुआ करती है, उनको उसी रूप में चित्रित कर देना 'यथार्थवाद' है। दूसरे शब्दों में यथार्थवाद की प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षीकरण कह सकते हैं। उसे अपरोक्ष की प्रत्यक्ष झांकी मान सकते हैं, इसीलिए उसका दूसरा नाम प्रकृतिवाद भी प्रसिद्ध है।

पाश्चात्य-देशों में 'यथार्थवाद' की बढ़ी धूम रही है। इसका कारण यह है कि उनका दृष्टिकोण भौतिक रहा है। ऐपिक्यूरियन-दर्शन, हेगेल का जड़ाद्वैतवाद, काण्ट का भौतिक-इण्ट्यूशन आदि दार्शनिक तथ्यों ने पाश्चात्य-साहित्य में यथार्थवाद को प्रेरणा प्रदान की है। वर्गसा ने भी 'इण्ट्यूशन' का जो निरूपण किया है, वह बहुत ही भौतिक और स्थूल है। इन भौतिक दर्शनों के प्रभाव से पाश्चात्य-साहित्य में 'यथार्थवाद' का विकास हुआ।

यथार्थवाद का स्वरूप निरूपण और विशेषताएँ

1. यथार्थवाद की सबसे पहली प्रवृत्ति एकत्व से अनेकत्व की ओर जाना है। श्री नन्ददुलारे ने कहा—यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक-पृथक सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है।

2. यथार्थवादी साहित्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तुजगत् से रहता है।

3. नैतिकता और धर्म से यथार्थवाद विशेष सम्बन्धित नहीं है।

4. यथार्थवाद में जीवन की ज्यों की त्यों अभिव्यक्ति मिलती है। जीवन में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों की अभिव्यक्ति मिलती है,

इसीलिए उसमें तीनों का चित्रण किया जाता है ।

5. इसमें मानव की सबलताओं और दुर्बलताओं का सन्तुलित चित्र मिलता है ।

6. यथार्थवाद में जीवन के सापेक्ष सत्य की प्रतिष्ठा मिलती है ।

7. यथार्थवाद में सत् और असत् का द्वन्द्व दिखाते हुए या तो बीच में ही छोड़ देते हैं या असत् की विजय दिखाते हैं ।

8. यथार्थ हमारी वृत्तियों के विस्तार में समर्थ होता है ।

9. यथार्थवाद का सम्बन्ध स्थूल-जगत् और स्थूल-अभिव्यक्ति से अधिक रहता है ।

10. यथार्थवाद में सत्य की प्रतिष्ठा मिलेगी, किन्तु वह सत्य लौकिक-सत्य से अधिक निकट होगा ।

11. काव्य-जगत् के सत्य से थोड़ा दूर उसमें सत्य के साथ 'शिव' तत्व भी पाया जाता है । किन्तु सौन्दर्य-तत्त्व का जो स्वरूप उसमें प्रतिष्ठित रहता है; वह द्वन्द्वात्मक कहा जा सकता है । यथार्थवाद के सौन्दर्य में जीवन के सुन्दर और असुन्दर का सुन्दर-समन्वय देखा जा सकता है । यथार्थवाद की शैलियाँ बोधगम्य और वैज्ञानिक अधिक रहती हैं ।

12. यथार्थवाद में आशा-निराशा का द्वन्द्व दिखाई पड़ता है ।

13. यथार्थवाद में जीवन का सन्तुलित-चित्र चित्रित किया जाता है ।

14. यथार्थवाद का लक्ष्य मानव को मानव बनाना होता है ।

15. यथार्थवाद को महादेवी के शब्दों में "जड़ की सचेतन अभिव्यक्ति कह सकते हैं ।"

16. यथार्थवाद अपूर्णता का प्रतिबिम्ब होता है ।

यथार्थवाद का विकास

भारत में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा न्यून रही है और जब कभी यथार्थ-वाद का चित्रण भी किया गया, तो उसके मूल में 'आदर्शवाद' की भावना अवश्य प्रतिष्ठित की गई । सच तो यह है कि भारत में सदैव आदर्श की भूमिका पर ही यथार्थ का चित्रण किया गया है । केवल कुछ धर्मवादी और भक्तिवादी ही ऐसे थे; जिन्होंने कोरे आदर्शवाद का डंका पीटा । इतना होते हुए भी भारत में यथार्थवादी-साहित्य का अभाव नहीं कहा जा सकता । ऋग्वेद में ही 'यथार्थवाद' का स्वस्थ-चित्रण मिलता है । महाभारत यथार्थ-वाद का प्रामाणिक ग्रन्थ है । संस्कृत के गीत-साहित्य का सम्बन्ध भी यथार्थ-वाद से स्थापित किया जा सकता है । यथार्थवाद का प्रथम संकेत वीरगाथा-काल में मिलता है । आधुनिक प्रगतिवाद भी यथार्थवाद का ही प्रतिरूप

कहा जा सकता है। किन्तु उसे हम यथार्थवाद का स्वस्थ स्वरूप नहीं मान सकते। वर्तमान युगीन 'मार्क्स' और 'लेनिन' के समाज-सम्बन्धी विचार यथार्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक एवं भौतिक-यथार्थ-वाद कहा जाता है मार्क्सवादी-साहित्यिक इस बात का आग्रह करते हैं कि उनके साहित्य का सम्बन्ध कल्पना और आदर्श से नहीं, ठोस व्यावहारिक सत्य से है।

'मार्क्सवाद' के भौतिक-सिद्धान्त के नितान्त विरोधी अन्तश्चेतनावादी लेखक और कवि भी अपने को यथार्थवादी ही कहते हैं। उनका यथार्थवाद अन्तश्चेतना का यथार्थवाद है। इस मत के पोषक भी यही कहते हैं कि काव्य हमारी अन्तश्चेतना की वासनाओं का चित्र होता है। मार्क्सवाद और अन्तश्चेतनावाद दोनों का दृष्टिकोण भौतिक है। अन्तर केवल इतना है कि एक वाह्य भौतिकता को आधार मानकर चलता है दूसरा अन्तर भौतिकता का विश्लेषण करता है। एक का लक्ष्य सामाजिक-विकास का इतिहास कहना है और दूसरे का आन्तर के यथार्थ का सही-चित्र चित्रित करना। एक स्थूल समष्टि को लेकर चलता है दूसरा व्यष्टि के स्थूल अन्तर की व्याख्या करता है।

अन्तश्चेतनावादियों ने काव्य सम्बन्धी धारणा ही पलट दी है। उनका विश्वास है कि कवि अपनी बहुत-सी यथार्थ-अनुभूतियाँ कुछ सामाजिक प्रति-बन्धों के कारण व्यक्त नहीं कर पाता है। अतः उनकी अभिव्यक्ति के लिए वह माध्यम चुनता है। अपनी इन दात्त एवं यथार्थ-अन्तःवृत्तियों के प्रकाशन के लिए वह नये-नये उपमानों और प्रतीकों की योजना करता है। ये उपमान और प्रतीक उसके हृदय के निर्बाध-उद्गार होते हैं इनका महत्व मानस-विश्लेषण के सहारे समझा जा सकता है, काव्यशास्त्र के सहारे नहीं। ये लोग कविता को किसी प्रकार की कला नहीं मानते। इनके मतानुसार वह केवल कवि के 'अन्तरंग संघर्ष' का विस्फोट है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या इस कविता में किस प्रकार का सत्य भी अन्तर्निहित रहता है? इसके उत्तर में वे लोग कहते हैं कि मानव की अन्तश्चेतना के सत्य की प्रतिष्ठा ही हमारे काव्य का प्राण है।

मार्क्सवादी-यथार्थवादी की विचारधारा अन्तश्चेतनावादियों से भिन्न होती है। ये लोग काव्य का सारा महत्त्व वर्ग-संघर्ष के प्रकाश में आंकते हैं। इनकी दृष्टि में काव्य-सत्य कोई महत्व नहीं रखता। वह कवि कल्पना की वस्तु है। काव्य का मूल लक्ष्य उन सामाजिक सत्यखण्डों का उद्घाटन करना है, जो प्रत्यक्ष-जीवन में अनुभूत होते हैं।

यथार्थवाद की इन दोनों आधुनिक-धाराओं का अध्ययन करने से अनुभव होता है कि काव्य-क्षेत्र में आदर्शवाद की प्रतिक्रियायें बड़ा विकृत-रूप धारण कर रही हैं। ये दोनों ही शाखाएँ हिन्दी में योरोप से आई हैं। वे योरोपीय-संस्कृति के लिए चाहे हितकर रही हों, किन्तु भारतीय-संस्कृति के विरोध में होने के कारण वे भारत के लिए कल्याणकर नहीं कही जा सकतीं। इनमें "मार्क्सपद्धतीय-समाजवादी यथार्थवाद को युग-मांग समझकर हम सहन भी कर सकते हैं, किन्तु अन्तश्चेतनावादियों का विकास हमारे जीवन और देश के लिए घातक हो सकता है। दूसरे देशों की नकल करने वाले कवियों के लिए यह अपेक्षित है कि भारतभूमि में विविध प्रकार की नई आदर्शवादी धाराओं का प्रवर्त्तन करें। इनमें इनकी मौलिकता भी होगी और देश के साहित्य का कल्याण भी होगा। इस दृष्टि से 'पन्त' ने अरविन्द-दर्शन की ओर झुककर जो पथ-प्रदर्शन किया, वह सराहनीय और अनुकरणीय है।

आदर्श और यथार्थ में अन्तर

'आदर्श' कल्पना के आधार पर जीवन के सुधरे हुए रूप का चित्रण करता है, किन्तु 'यथार्थ' बिना कल्पना का रंग चढ़ाये हुए जीवन का यथा-तथ्य चित्रण प्रस्तुत करता है। यदि 'यथार्थ' जीवन के नग्न सत्य का उद्-घाटन करता है, तो आदर्श 'स्वप्नलोक' को साकार करने की बात करता है। यदि यथार्थ स्थूल, नग्नसत्य के कुत्सित-चित्र उतारता है, तो आदर्श धरा में ही स्वर्ग उतार लाने की बात करता है। यदि आदर्श समाज-कल्याण की भावना से सत्प्रवृत्तियों का प्रचार करता है, तो यथार्थ जीवन के कुत्सित चित्रों का प्रदर्शन कर समाज को इनसे दूर रहने की प्रेरणा प्रदान करता है। वस्तुत: यथार्थवाद का यह निषेधात्मक रूप अच्छा नहीं प्रतीत होता। यदि साहित्य से कुत्सित पात्रों की भरमार हो जायेगी, तो इसका दुष्प्रभाव समाज पर भी पड़ेगा और कुसचित्रों को पोषण मिलेगा।

इस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द जी के शब्दों में दोनों में समन्वय आवश्यक है—**"आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए।"** इस यथार्थ को आकर्षक बनाने के लिए थोड़े चुनाव की आवश्यकता है। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह केवल बुराइयों का उद्घाटन कर पाठक की मानव-समाज से आस्था न उठा दे और घृणा का प्रचारक न बन जाय। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वही साहित्य जीवन के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, जिसमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय प्रस्तुत किया गया हो।

कला

कला की व्युत्पत्ति

अभिव्यक्ति की व्यग्रता ही कला के जन्म का मूल कारण है। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है, उसमें सदैव आगे बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है। वह आदिम युग से अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए व्यग्र होता आया है, भाषा भी इसी व्यग्रता का परिणाम है। भाषा के माध्यम से जब वह अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त नहीं कर पाता, तो वह अन्य साधनों को अपनाता है। मनोभावों को व्यक्त करने की यही अदम्य और शाश्वत-भावना 'कला' की जननी मानी जाती है। एक भावुक हृदय साधारण सी घटना से व्याकुल हो उठता है। उदाहरणार्थ–'क्रौंचबध' को देखकर आदि कवि के मुख से इसी करुणा के कारण सरस्वती का आदि-रूप प्रस्फुटित हो उठा।

कला की परिभाषा

कला की समन्वित परिभाषा के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों को जान लेना अति आवश्यक है। कला के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों में सैद्धान्तिक विवेचन अधिक हुआ है, जबकि भारतवर्ष में कला के सम्बन्ध में व्यावहारिक विवेचन की ओर अधिक प्रवृत्ति रही है। पाश्चात्य देशों में कला की परिभाषाएँ वाह्य से अन्तर की ओर हैं। अर्थात् उनमें प्राकृतिक अनुकरण के साथ मासिक पक्ष की ओर संकेत भी मिलता है। अरस्तू और दान्ते के मतानुसार–कला का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति में निहित है, और इस अनुकरण का विषय मौलिकता की दृष्टि से प्रकृति है, दान्ते ने अपने महाकाव्य 'डिवाइना कामेडिया' में कला के विषय में इस प्रकार कहा है–"Art, as for as it is able, follows nature, as a pupil imitates his master, thus your art must be, as it were, God's grandchiid." दान्ते कला का सम्बन्ध ईश्वर और प्रकृति से माना है। परन्तु कला-प्रवृत्ति न केवल प्रकृति के अनुकरण में ही है, और न केवल ईश्वर के अनुमोदन में ही। मनुष्य का 'स्व' इन दोनों का स्वागत करते हुए भी इनसे स्वतन्त्र रचना करता है। उसका यही 'स्व' पूर्णता को आत्मसात् कर सर्वोपरि हो उठता है। कला का सृजन इसी 'स्व' के कारण ही होता है।

एक अन्य पाश्चात्य विचारक 'क्रोचे' कला-उद्भावना के सम्बन्ध में कुछ अधिक मानवीय गौरव की रक्षा कर सके हैं और उन्होंने एक अर्थ में 'अनुकृतिवाद' के मनोवैज्ञानिक-पक्ष की विकसित दशा प्रस्तुत की है। वह

'मानसिक अभिव्यक्ति' को कला मानता है। अनुकृतिवाद में मानव-मन की अविकसित अवस्था विस्मय या कौतूहल की प्रेरणा से अनुकरणशील मानी गई है। वही अवस्था एक सतत्-चेतन प्रगति के विकास की विशेषताओं को एकत्र कर, आकर्षण और जिज्ञासा की प्रेरणा से स्वभावत: अभिव्यक्तिशील समझी गई है। यही क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' कहलाता है। इस प्रकार दान्ते की परिभाषा 'आत्म-प्रकाशन' पर तथा क्रोचे की परिभाषा 'अभिव्यक्ति' पर बल देती है। परन्तु भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक अधिक है, भारतीय विद्वानों ने कलाओं की उपविद्याओं के रूप में माना है। भर्तृहरि का सुप्रसिद्ध वाक्यांश इस कथन की पुष्टि करता है–

'साहित्यसंगीतकलाविहीन:'

आचार्य दण्डी ने भी देश-काल-विरोध की भाँति कला-विरोध भी एक दोष माना है। इसी प्रसंग में उन्होंने कला को 'कामार्थसंश्रया:' कहा है और नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं को उसके अन्तर्गत माना है–

"नृत्यगीतप्रभृतय: कला: कामार्थसंश्रया:"

–काव्यादर्श (3।162)

भारतीय विद्वानों ने चौसठ कलायें मानी हैं। उन्होंने कलाओं को एक प्रकार से विदग्ध पुरुषों या स्त्रियों की शिक्षा का अग माना है। जिसके अन्तर्गत नाचना, गाना, तैरना, चित्र बनाना आदि बातें परिगणित हैं।

प्रसाद जी ने अपने 'काव्य और कला' शीर्षक निबन्ध में कला की परिभाषा इस प्रकार की है–"नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेख-शालिनी-संवित वस्तुओं में या प्रमाता में 'स्व' को आत्मा को परिमिति रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।" –काव्य और कला, पृ० 43

प्रसाद जी के मत से ईश्वर की कर्तृत्व-शक्ति का संकुचित रूप जो हमको बोध के लिए मिलता है वही कला है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई कला की परिभाषाओं का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि–मनुष्य ने विश्व-सौन्दर्य के रूप में व्यक्त चिरन्तन आनन्द की आत्मानुभूति को जीवन के प्रति आस्था शक्ति और प्राणवत्ता के प्रसार के लिए व्यक्त कर देने की आवश्यकता पहिचानी। यही आवश्यकता कला की जननी हुई। अत: हम कह सकते हैं–

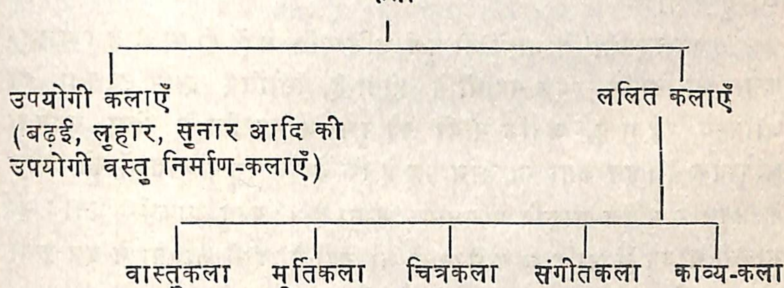
"विश्व-सौन्दर्य द्वारा प्राप्त आनन्द-बोध की स्वानुभूति को मनुष्य ने

सचेष्ट होकर जिस क्षमता के साथ व्यंजित की वही 'कला' है।

निश्चय ही कला के मूल में सौन्दर्य-भावना की प्रधानता है। कला, कला के लिये न होकर, जीवन से पलायन के लिए न होकर–जीवन के लिए ही होती है। इसीलिये मानव जीवन में कला का महत्वपूर्ण स्थान है।

कलाओं का वर्गीकरण

कलाओं का वर्गीकरण प्रधानतया भौतिक तथा मानसिक दो पक्षों के आधार पर किया जा सकता है। कला की उपयोगिता भौतिक पक्ष से सम्बन्धित है, जबकि कला की सौन्दर्य बोधकता मानसिक पक्ष से सम्बन्धित है। इस प्रकार मोटे तौर पर कला के दो मुख्य भेद हुए–एक तो उपयोगी कलाएँ और दूसरी वे कलाएँ जिनका सम्बन्ध मानसिक पक्ष से अधिक है, जिन्हें 'ललित कलाएँ' कहा जा सकता है। इस प्रकार कला के–उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ, दो मुख्य भेद हुए। विद्वानों ने इनके भी कई भेद किये हैं–यह विभाजन पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार किया गया है।



उपयोगी कलाएँ

बढ़ई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि की कलाओं को हम आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं कह सकते हैं। परन्तु उनमें आनन्द की अभिव्यक्ति हो सकती है जब कलाकार वस्तुओं का निर्माण मात्र उपयोग के लिये न कर उनमें कलात्मक चमत्कार लाने का भी प्रयास करें तभी वे कलात्मक कृतियाँ बन सकती हैं। अत: हम संक्षेप में कह सकते हैं कि जो वस्तुएँ साधन-रूप से सुख सम्पादन करें, वे उपयोगी कलाएँ कहलाती हैं, इनके अन्तर्गत बढ़ई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि की वस्तुनिर्माण कलाएँ आती हैं। उपयोगी कलाओं द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसके शारीरिक और आर्थिक विकास में सहायता मिलती है।

ललित कलाएँ

'ललित कला' द्वारा मानसिक विकास और अलौकिक आनन्द की सिद्धि

होती है, जिससे भावों का उदात्तीकरण होता है। भावों का उदात्तीकरण निश्चय ही समाज के लिए शुभ होता है। ललित कलाओं के अन्तर्गत वे कलायें आती हैं, जिनका हमारे मानसिक और लोकोत्तर जीवन से सम्बन्ध है। वे अवकाश के समय हमारे मन में एक अद्‌भुत आनन्द की सृष्टि कर हमें–एक ऐसी लोकोत्तर अवस्था में पहुँचा देती हैं, जो ब्रह्मानन्द सहोदर मानी गयी हैं। क्रोचे के मत से कला का जन्म कलाकार के अन्त:करण में होता है। वहाँ पर बिभाजन का कोई प्रश्न नहीं उठता। विभाजन कला का नहीं, वरन् कलाकृतियों का, जो आन्तरिक कला के वाह्य रूप हैं, उनका होता है। सामग्री और अभिव्यक्ति के माध्यम के भेद से कलाओं में भेद माना गया है। ललित कलाओं के इस वर्गीकरण में पाश्चात्य विद्वानों की विचारधाराओं का गहरा प्रभाव पड़ा है। (1) वास्तुकला (2) मूर्ति-कला (3) चित्रकला (4) संगीतकला (5) काव्य-कला आदि इनका विवरण इस प्रकार है।

वास्तु-कला

'वास्तुकला' में भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। वास्तु-कला का निर्माण स्थूल पदार्थों से होता है, इसीलिए इसमें स्थूलता का आधिक्य रहता है, जबकि भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए सूक्ष्मता आवश्यक है। इस कला का लाभ यह है कि बेडौल स्थूल वस्तुओं को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति में बनाया जाता है। वस्तु आकर्षक बनाने की भावना मानव में आदि काल से चली आ रही है, इसी भावना ने इस कला को जन्म दिया। इसे गृहनिर्माण शिल्प भी कह सकते हैं।

मूर्तिकला

मूर्तिकला वस्तुत: शास्त्रीय कला का प्रमुख उदाहरण है। इस कला के अन्तर्गत स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप ढाला जाता है। अस्तु, अचेतन पर चेतन का आरोप इस कला का आधार है। मूर्तिकार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी के अचेतन स्थूल टुकड़ों को चेतन-मन के कल्पना-नुसार रूप प्रदान करने का प्रयास करता है। इस कला के सृजन में जिन भौतिक उपकरणों का उपयोग किया जाता है उनकी मात्रा वास्तुकला में उपयोग होने वाले भौतिक उपकरणों से बहुत कम होती है। इसीलिए मूर्ति-कार एक वास्तुकार से श्रेष्ठ माना जाता है, और मूर्तिकला भी वास्तुकला से श्रेष्ठ मानी जाती है। मूर्तिकला के द्वारा एक प्रस्तर-खण्ड या धातु-खण्ड में जीवधारियों की प्रतिच्छाया बड़ी ही सुगमता से संगठित की जा सकती है। यही कारण है कि मूर्तिकला का उद्देश्य अचेतन में चेतन की सुन्दरता

प्रदर्शित करना है।

चित्रकला

चित्रकला की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि इसके द्वारा कम-से-कम भौतिक उपकरणों का प्रयोग कर अधिक-से-अधिक गम्भीरतम भावों की अभिव्यक्ति की जा सकती। मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला में मानसिक भावों का अंकन अधिक सफलता और प्रभविष्णुता के साथ किया जा सकता है। यही कारण है कि चित्रकला में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। जिस कला में मूर्त्तता के स्थान पर मानसिकता या सूक्ष्मता का आधिक्य होता है वही कला श्रेष्ठ कला कहलाती है। इस दृष्टि से चित्रकला मूर्तिकला की तुलना में निश्चय ही श्रेष्ठ ठहरती है। चित्रकला की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही उसकी अपनी कुछ सीमायें भी हैं। चित्रकार किसी भाव या वस्तु के केवल एक क्षण का ही चित्रण कर सकता है। उसकी गतिशीलता का चित्रण असम्भव है। परन्तु जितने क्षण का वह चित्रण प्रस्तुत करता है, वह कला और भाव की दृष्टि से अनुपम होता है। ऐतिहासिक गुफाओं में बने हुए चित्र अपने चित्रकार की मूल अनुभूतियों को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम हैं।

संगीतकला

प्रमुख कलाशास्त्री 'हीगेल' ने इस कला को 'रोमानी-कला' के अन्तर्गत रखा है। मनुष्य के कण्ठ से उत्पन्न या वाद्ययंत्रों की सहायता से उत्पन्न 'नाद' इसका भौतिक आधार है। इस कला में स्वरों के आरोह-अवरोह द्वारा भावों को उद्भूत किया जाता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि "संगीत का उद्देश्य–हमारी आत्मा को प्रभावित करना है, इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी और कोई कला नहीं हो पाई है। संगीत हमारे मन को अपनी इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह वास्तु, मूर्ति और चित्रकला से बढ़कर है।" कामसूत्रों में संगीतकला को सबसे पहला स्थान दिया गया है। इस कला में इतनी विशेषताओं के होने पर भी इसकी कुछ सीमायें हैं, जो काव्यकला में ही पायी जाती हैं। यही कारण है कि काव्य-कला संगीत-कला से श्रेष्ठ मानी गई है।

काव्य-कला

काव्य-कला में भौतिक उपकरणों के स्थान पर भावों का आधिक्य है। परन्तु काव्य के लिए भौतिक उपकरण अनिवार्य नहीं हैं। काव्य का वास्तविक आधार शाब्दिक संकेत या अक्षर हैं, मस्तिष्क को इनका ज्ञान

आंखों और कानों द्वारा होता है। इसके माध्यम से प्रत्यक्ष जीवन की घट-नाओं और प्राकृतिक दृश्यों का काल्पनिक रूप मस्तिष्क में सरलता से अंकित किया जा सकता है। ललित-कलाओं में ज्यों-ज्यों हम उच्चता की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों उनका मूर्त-आधार कम होता जाता है। काव्य-कला में मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं है। इसीलिए ललित-कलाओं में काव्य कला सर्व-श्रेष्ठ मानी जाती है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पाँचों ललितकलाओं में काव्य-कला ही सर्वश्रेष्ठ कला है। कलाओं का मनुष्य जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों ही रूपों से मनुष्य जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। कलाएँ हमारे जीवन पर कैसा प्रभाव डालती हैं ? यह प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ने में विद्वानों के दो प्रमुख वर्ग देखे जाते हैं। एक वर्ग के विद्वान ललित कला का मूल उद्देश्य—आनन्द देना मानते हैं। इस वर्ग के विद्वानों को 'आनन्दवादी' भी कह सकते हैं। परन्तु दूसरे वर्ग के विद्वान ललित कलाओं में उपयोगिताओं की खोज करते हैं। इस वर्ग के विद्वानों को 'उपयोगितावादी' भी कहा जा सकता है। इस प्रकार कला के विषय में दो मत बन गये हैं।

1. 'कला कला के लिए'
2. 'कला जीवन के लिए'

कुछ भी सही, किन्तु इतना तो सभी आचार्य स्वीकार करते हैं कि—'ललितकलायें' मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है। जहाँ तक कला की श्रेष्ठता के मापने का प्रश्न है, यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस कला में मूर्त्त आधार जितना ही कम होगा और मन को प्रभावित करने की जितनी अधिक शक्ति होगी, वह कला उतनी ही श्रेष्ठ मानी जायगी।

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर विवेचन करने से ही 'संगीतकला' और 'काव्यकला' अन्य कलाओं से श्रेष्ठ सिद्ध होती है और संगीत में तो कुछ मूर्त्त आधार (सप्त स्वर आदि) होता भी है, किन्तु काव्य में वह भी नहीं होता, अतः काव्यकला को कलाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। काव्य में अभिव्यक्ति के लिए व्यापक स्थान होता है, वह मानव जीवन के भूत और वर्तमान का चित्रण कर भविष्य की झाँकी प्रस्तुत कर देता है। इतना महनीय कार्य और कोई कला नहीं पूर्ण कर पाती, अतः कलाओं में काव्य-कला का स्थान सर्वोच्च है।

कला के प्रयोजन

'मानव द्वारा अपने भावों को स्थिरता देने की भावना ने साहित्य को जन्म दिया'–पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को ललित कलाओं के अन्तर्गत माना है, और उन्होंने कला के विवेचन में साहित्य के प्रयोजनों का विवेचन किया है। इस प्रकार उन्होंने कला के अनेक प्रयोजन माने हैं। उनमें कुछ प्रेरणा-रूप आन्तरिक हैं और कुछ प्रयोजन-रूप वाह्य हैं। भविष्य में स्थित प्रेरणाएँ ही प्रयोजन बना करती हैं। कुछ का सम्बन्ध सृष्टा से होता है और कुछ का सम्बम्ध आस्वादक से होता है। विद्वानों ने कला के 9 प्रमुख प्रयोजन माने हैं–

1. कला कला के लिये–Art for art's sake.
2. कला जीवन के लिये–Art for life's sake.
3. कला जीवन से पलायन के लिये–Art for an escape from life.
4. कला जीवन में प्रवेश के लिये–Art for an escape into life.
5. कला सेवा के लिये–Art for service's sake.
6. कला आत्मानुभूति के लिये–Art for self reeration.
7. कला आनन्द के लिये–Art for Joy.
8. कला मनोरंजन के लिये–Art for realisation.
9. कला सृजन की आवश्यकता पूर्ति के लिये–Art for creatine necessity.

उपर्युक्त वर्णित प्रयोजनों में दृष्टिकोण की भिन्नता तो अवश्य है परन्तु ये सब प्रयोजन एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं है। इन सभी प्रयोजनों को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (1) वह वर्ग, जो कला को जीवन के लिये आवश्यक एवं आचार और नैतिकता का कलात्मक माध्यम नहीं मानता इस वर्ग के अन्तर्गत कला कला के लिये, कला जीवन से पलायन के लिए, कला आनन्द के लिए, कला मनोरंजन के लिए, कला सृजन की आवश्यकता पूर्ति के लिए आदि सभी प्रयोजन आते हैं।

(2) वह वर्ग, जो कला को जीवन की उन्नति और नैतिक सदाचार की स्थापना के हेतु अत्यन्त आवश्यक और प्रधान सहायक मानता है। इसमें लोकहित की भावना प्रधान होती है, इसके अन्तर्गत कला जीवन के लिये, कला जीवन में प्रवेश के लिये, कला सेवा के लिए, कला आत्मानुभूति के लिए आदि सभी प्रयोजन आते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रमुख दो

वर्ग (1) कला कला के लिए (2) कला जीवन के लिए ही विवेच्य हैं, जिनका अलग-अलग विवेचन इस प्रकार है।

कला कला के लिए

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो' ने किया। उन्होंने कला को जीवन की अनुकृति माना, उनके मतानुसार कलाकृतियों में जीवन का 'अनुकरण' ही सम्भव है, जीवन की 'प्रतिकृति' सम्भव नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के पोषक आस्कर वाइल्ड, जे० ई० स्पिनगर्न, टी० एस० इलियट तथा ब्रैडले आदि पाश्चात्य विचारक भी माने जाते हैं।

इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक आस्कर वाइल्ड कला के क्षेत्र में काव्य-कला को सर्वश्रेष्ठ कला मानते हुए, काव्य-कला में शब्द की प्रभावशाली शक्ति को स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में[1] "काव्य सदाचार अथवा दुराचार की प्रतिपादिका कोई पुस्तक नहीं है। जो कुछ है, वह इतना ही कि कोई पुस्तक अच्छे ढंग से लिखी गई है, या बुरे ढंग से लिखी गई है। कलाकार में चारित्रिक सहानुभूति की भावना अक्षम्य है। सम्पूर्ण कला पूर्णत: अनुपयोगी है।" इस प्रकार आस्कर वाइल्ड 'कला' तथा 'आचार' को पृथक-पृथक मानते हैं। इसी प्रकार प्रमुख कलावादी विचारक जे० ई० स्पिन्गर्न के विचार भी उद्धरणीय हैं।[2] "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है, जैसा कि रेखागणित के समबाहु त्रिभुज को सदाचारपूर्ण और विषमबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।" अत: स्पिन्गर्न महोदय कला में नैतिकता का व्यापक विरोध करते हैं। कलावादी दृष्टि के एक अन्य प्रमुख प्रबल समीक्षक एवं अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टी० एस० इलियट के विचार भी उद्धरणीय हैं।[3] शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह कहना असम्भव है कि कविता नीति की शिक्षा, राजनीति मार्ग-दर्शन, धार्मिकता या उनकी समकक्ष कुछ और है।" अत: इलियट महोदय भी नैतिक दृष्टि से कला की परीक्षा करना एक अन्ध परम्परा मानते हैं।

उपर्युक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त पाश्चात्य कुछ अन्य कल्पना-मूलक विचारधाराएँ जैसे फ्रायड का 'स्वप्न-सिद्धान्त', 'यथार्थवाद' तथा क्रोचे का अभिव्यंजनावाद आदि भी कला कला के लिए सिद्धान्त की समर्थक रही हैं।

कलावादी प्रमुख विचारक

1. आस्कर वाइल्ड
1. जे० ई० स्पिन्गर्न
2. टी० एस० इलियट

फ्रायड कल्पना को ही काव्य का मूलाधार मानते हैं, उनका मत है कि मनुष्य जिन अवरुद्ध वासनाओं की पूर्ति जागृत-लोक में नहीं कर पाता उनकी पूर्ति स्वप्न के कल्पना-लोक में करता है। अत: कलाकार अपनी कल्पना द्वारा कलाकृतियों में उन्हीं अवरुद्ध वासनाओं का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु कला के ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर फ्रायड का यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चुका है। क्योंकि विश्व की समस्त श्रेष्ठ कलाकृतियाँ अधिकांशत: विवेकशील-निष्ठावान व्यक्तियों द्वारा ही प्रतिपादित की गई हैं।

यथार्थवादी–आहार, निद्रा, भय और मैथुन को ही मानव की मूल-वृत्तियाँ मानते हैं। मनुष्य की प्राकृतिक वृत्तियाँ ही कृतियों में सजीव होती हैं। अत: आहार, निद्रा, भय और मैथुन ही समस्त कलाकृतियों का मूलाधार है। परन्तु यह सिद्धान्त भी अधिक तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। वह हृदय में अनुभव करता है और मस्तिष्क से मनन। कला सभ्यता की प्रतीक है। अत: उसमें मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के साथ-साथ उदात्त-प्रवृत्तियों का भी अभिव्यक्तीकरण होना नितान्त स्वाभाविक है। हृदय और मस्तिष्क दोनों के ही सहयोग से कला का सृजन होता है।

क्रोचे 'अभिव्यक्ति' को ही कला का मूलाधार मानते हैं। परन्तु वह विचारणीय है कि जब तक अनुभूति ही नहीं होगी तब तक अभिव्यक्ति का क्या महत्व हो सकता है। अभिव्यक्ति की ही अभिव्यक्ति तो केवल साधन मात्र है, वह वस्तु का रूप या गुण नहीं धारण कर सकती है। अत: इस सन्दर्भ में, क्रोचे का मत भी असंगत और अपूर्ण ठहरता है।

समीक्षा

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज का आधार सदाचार है। कलाकार इसी सदाचार का कलात्मकस्वरूप अपनी कलाकृतियों में प्रस्तुत करता है। यदि कला जादू के खेल की भाँति चमत्कार उत्पन्न कर लोगों को आश्चर्य-चकित मात्र ही कर देती, तो वह स्थायी रसात्मकता नहीं उत्पन्न कर सकती, स्थायी रसात्मकता तो अनुभूति की गहराई से उत्पन्न होती है। 'कला-कला के लिये' सिद्धान्त कला में अनुभूति-पक्ष से सर्वथा रहित है, वह अभिव्यक्ति की ही अभिव्यक्ति मात्र है। अत: यह सिद्धान्त एकांगी और अपूर्ण प्रतीत होता है। कला में केवल नग्न सुन्दरम् ही नहीं वरन् शिवं भी अनिवार्य है, कलाकार को सुन्दरम् के साथ-साथ शिवं का भी उपासक होना चाहिये।

कला जीवन के लिए

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने

किया, उनके मतानुसार 'कला जीवन की प्रतिकृति है।' 'कला' और 'जीवन' दो वस्तुएँ हैं जिनका नित्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतवर्ष में भी विद्वानों ने कला के उपयोगितावादी दृष्टि को अपनाया है, उन्होंने कला के सुन्दरम् के साथ-साथ शिवं पर भी विशेष बल दिया है। यहाँ के विद्वानों ने कला का उदय जीवन से माना है, कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या ही नहीं वरन् उसे दिशा भी देना है। कला जीवन को जीवन प्रदान करती है, और जीवन जीवन योग्य बनाकर उसे ऊँचा उठाती है। वह जीवन में नए आदर्शों की स्थापना कर उनका प्रचार करती है। इस मत के समर्थकों में मैथ्यू आर्नोल्ड, आई० ए० रिचर्ड्स, एबर क्राम्बी, कार्लाइल, शैली तथा मिल्टन आदि प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने कला में लोक-पक्ष, धर्ममिश्रित कलावाद, उपयोगितावाद तथा मूल्यनिर्धारणवाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कला में नैतिकता के महत्व को स्पष्ट करते हुए मैथ्यू आर्नोल्ड ने कहा है–

"जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति उपेक्षापूर्ण है।"[1]

इसी प्रकार कार्लाइल ने भी कला में कलाबाजी के प्रति अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की है। "A Pack of lies that fowl creature write for diversion."[2] वड्सवर्थ ने लिखा है–"स्वभावगत् प्रेरणाओं के यान्त्रिक अन्धानुशासन का अर्थ–प्रकृति की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसकी ओर वह दौड़ता ही है, परन्तु कवि का कृतित्व उस प्रवृत्ति को ही पवित्र करता है।"[3] अतः कला वही है जो अपनी कलात्मक निकाई से जन-जीवन को लोकादर्श के अनुकूल बना सके।[4] शैली का मत भी भारतीय रस-दर्शन का समर्थक है।

अधिकांश भारतीय साहित्यकार एवं विचारक भी कला में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने साहित्य को उपयोगी बताते हुये कहा है–"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता

कला में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के पाश्चात्य समर्थक।

1. मैथ्यू आर्नोल्ड
2. कार्लाइल
3. वड्सवर्थ
4. मिल्टन
5. शैली आदि।

है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"[1] वंकिम बाबू कलाकार को मार्ग-दृष्टा मानते हैं, उनका दृष्टिकोण है कि कलाकार कला के माध्यम से समाज की भावनाओं का परिस्कारण कर उन्हें संस्कारित करता है। उनके शब्दों में "कवि संसार के शिक्षक हैं, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार का चित्त-शुद्धि करते हैं। यही सौंदर्य की चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है।"[2] तुलसी ने 'मानस' की रचना स्वान्त: सुखाय की थी, किन्तु तुलसी का सुख उनका अपना व्यक्तिगत सुख नहीं था मानव-मात्र का सुख था। इसीलिए उनकी कृति श्रेष्ठ कलाकृति और वे श्रेष्ठ कलाकार हो गये। कला के वास्तविक रूप की व्याख्या कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस प्रकार की है–

> "हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा;
> यदि यही हमने कहा तो क्या कहा ?
> किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
> व्यक्त करती है कला ही वह यहाँ।"

संसार के प्राय: सभी समाजसुधारकों, नेताओं और महापुरुषों ने कला की उपयोगिता पर सबसे अधिक बल दिया है। महात्मा गांधी, लेनिन, टालसटॉय आदि सभी इसके समर्थक रहे हैं।

समीक्षा

'कला जीवन के लिये' सिद्धांत को मानने वाले कला के माध्यम से विश्व में सर्वत्र व्याप्त सत्य की खोज करते हैं। सत्य ही ईश्वर है। इसीलिये सत्य और शिव में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि ईश्वर ही शिवं है। अत: जो सत्य और शिव है, वह सुन्दर भी स्वत: ही है। इस प्रकार 'कला जीवन के लिये' सिद्धांत में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् तीनों ही निहित हैं, जबकि 'कला कला के लिये' सिद्धान्त में सुन्दरम् की ही प्रधानता है। अत: यह एकांगी दृष्टिकोण ठहरता है।

निष्कर्ष

शाश्वत कला वह कला है जो मनुष्य की सहज भावनाओं और प्रवृत्तियों पर आधारित होती है। जब शाश्वत भावनाएँ कला के अन्तर्गत

कला में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के प्रमुख भारतीय समर्थक–

1. मुंशी प्रेमचन्द
2. वंकिम बाबू
3. आचार्य मम्मट
4. महात्मा गांधी
5. मैथिलीशरण गुप्त आदि।

मूर्त-रूप धारण कर लेती हैं तब कला सार्वकालिक कला बन जाती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ आनन्द, क्रोध, घृणा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति कला में जब सफलतापूर्वक होती है तो वह समय, देश और जाति के बंधन में न बँधकर सार्वदेशीय और सार्वकालिक हो जाती हैं, यही शाश्वत कला है। इसका सृष्टा कलाकार भी अमर हो जाता है। वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी आदि इसी कारण अमर हैं।

संक्षेप में कला न तो एकदम जीवन से पृथक ही हो और न उपदेश या प्रचार का साधन मात्र ही बने। अतः कला को मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिये।



काव्य-सम्प्रदाय

काव्य की आत्मा

भारतीय साहित्य-शास्त्र में लगभग दस या बारह शताब्दियों पूर्व एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया था कि साहित्य या काव्य की आत्मा क्या है ? सामान्यत: 'आत्मा' शब्द का अर्थ है—विश्व का वह सार तत्व जो सभी प्राणियों में निवास करता है, तथा जिसके अभाव में कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यहाँ 'आत्मा' का तात्पर्य है कि जिसके कारण कोई रचना साहित्य की श्रेणी में आती है तथा जिसके अभाव में किसी भी रचना को साहित्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यहाँ 'आत्मा' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ 'मूल-शक्ति'।

प्राचीन दर्शन-शास्त्र में जो स्थान 'आत्मा' का था, वही स्थान लगभग आधुनिक विज्ञान में 'शक्ति' का है। भरतमुनि से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों में इस विषय को लेकर मुख्यत: छ: सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ जो इस प्रकार हैं—

भारतीय मत 1. रस सम्प्रदाय, 2. अलंकार-सम्प्रदाय, 3. रीति-सम्प्रदाय, 4. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, 5. ध्वनि-सम्प्रदाय, 6. औचित्य-सम्प्रदाय।

1. रस काव्यात्मा के रूप में

रस-सम्प्रदाय के कुछ आचार्यों के अनुसार काव्य की आत्मा रस है। रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत मुनि माने जाते हैं। उन्होंने—"आस्वादन आना ही रस है।" यह माना है। भरत परवर्ती आचार्यों—धनंजय, अभिनवगुप्त, मम्मट एवं विश्वनाथ ने भी इसका सम्बन्ध 'आस्वादन' या 'काव्यास्वादन' से स्थापित किया है। अर्थात् काव्य के आस्वादन से पाठक को जिस आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है।

भरत—नहि रसादृत्ते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते।

राजशेखर—शब्दार्थौ ते शरीरं रस आत्मा।

विश्वनाथ—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

जगन्नाथ—रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्।

भारतेन्दु—जामैं कछु रस होत है पढ़त ताहि सबकोय।
बात अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होय।।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने 'रस' ही कविता का प्राण है और जो यथार्थ कवि है उसकी कविता में रस अवश्य होता है, नीरस कविता कविता नहीं। यह मान्यता स्थापित की है।

आक्षेप

रस कोई काव्यगत तत्व नहीं हैं, वह तो काव्यास्वादन की प्रक्रिया से उत्पन्न वाह्य तत्व है जिसकी स्थिति सहृदय पाठक में मानी गई है ऐसी स्थिति में रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करना युक्ति-संगत नहीं है। अत: उस तत्व का अनुसंधान करना है, जो रस उत्पन्न करता है, अर्थात् रसोत्पादक है। इस रस के उत्पादक या आधारभूत कारण के सम्बन्ध मे विभिन्न आचार्यों ने एक मत होकर 'स्थायीभाव' को ही रस का आधारभूत तत्त्व माना है। यह स्थायी भाव अपने व्यंजक तत्त्व-विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि से मिलकर रसोत्पत्ति करते हैं। कुछ आचार्यों ने संचारीभाव को ही काव्य की आत्मा माना है। परन्तु ऐसा उचित नहीं, साधन को साध्य नहीं माना जा सकता है। रस यदि उस आत्मा या शक्ति का कार्य है तो स्थायीभाव उसका साधन है। अत: विभावानुभाव, संचारी या व्यभिचारी भावों आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जो सहृदय पाठक के हृदय को प्रभावित करती है। इसी रस को रसवादियों ने काव्यात्मा माना है।

2. अलंकार काव्यात्मा के रूप में

रस-सम्प्रदाय के पश्चात् अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना हुई। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह, दण्डी और जयदेव हैं। भामह ने कहा जिस प्रकार कोई नारी कितनी ही सौन्दर्ययुक्त क्यों न हो, यदि अलंकार विहीन है, तो शोभा सम्पन्न नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार काव्य में चाहे कितने ही गुण क्यों न हों, यदि उसमें अलंकारों की योजना नहीं है तो वह आल्हादकारी नहीं हो सकता।

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति बनिता मुखम्।"

हिन्दी आचार्यों पर इस सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा रीति-काल में केवल आचार्य केशवदास ही एकमात्र ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने इस मत का समर्थन किया।

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त
भूषन बिनु न विराजई, कविता बनिता मत्ति।"

कुछ आचार्यों ने अलंकारों का आधारभूत तत्व 'वक्रोक्ति' माना है उसका लक्ष्य वाणी में चारुता उत्पन्न करने का है।

आक्षेप

अलंकार और सौन्दर्य की सत्ता अलग-अलग नहीं है या एक है। एक स्थान पर वामन ने कहा "सौन्दर्य अलंकार:" अर्थात् अलंकार ही सौन्दर्य है या सौन्दर्य ही अलंकार है यदि अलंकार और सौन्दर्य एक हैं तो अलंकार-वादियों को कहने की आवश्यकता क्यों हुई कि अलंकारों से काव्य में शोभा उत्पन्न होती है। स्पष्टत: यहाँ 'अलंकार' और 'शोभा' दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं, जिनका परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखें, तो भी सौन्दर्य और अलंकार अभिन्न नहीं होते। सौन्दर्य-रहित अलंकार और अलंकार रहित दोनों के ही अस्तित्व का विरोध नहीं किया जा सकता। अत: ऐसी स्थिति में 'सौन्दर्य' में 'अलंकार' का प्रतिनिधित्व स्वत: ही हो जाता है। इस प्रकार अलंकार काव्यात्मा नहीं है।

3. रीति काव्यात्मा के रूप में

अलकार-सम्प्रदाय के पश्चात् रीति-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य 'वामन' हैं। वामन ने रस और अलं-कारों के स्थान पर 'रीति' की स्थापना करके रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया।

'रीतिरात्मा काव्यस्य'

किसी विशेष प्रकार की पद रचना ही रीति है उनका तात्पर्य 'गुण-सम्पन्नता' से है। इस प्रकार 'गुण' सम्पन्न पद रचना ही रीति सिद्ध होती है अत: वामन ने गुण की परिभाषा करते हुए कहा "काव्यशोभाया: कर्तारी धर्मा गुणा:।"

अर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाला धर्म ही गुण है। यहाँ स्पष्टत: ही गुण को वही महत्व प्रदान किया गया जो कि अलंकारवादियों ने अलंकार को दिया था। अलंकारों की भाँति ही गुण की काव्य शोभा के साधनमात्र हैं अनौसाधक सौन्दर्य है, अत: साधक को आत्मा मानना उचित होगा।

यदि व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो रीति में अनेक असंगतियाँ एवं त्रुटियाँ हैं, जिससे उसे काव्यात्मा नहीं स्वीकार किया जा सकता। प्रथम तो 'रीति' में ऐसे गुणों की चर्चा की गई है जो काव्य से सम्बद्ध नहीं है। जैसे प्रसाद (स्पष्टता) माधुर्य आदि। वामन ने गुणों की संख्या बीस तक पहुँचा दी और उन्हें व्यापक बनाने का प्रयास किया, किन्तु वे अपनी अस्पष्टता एवं अव्यावहारिता के कारण प्रचलित नहीं हो पाये।

अस्तु गुण, अलंकार, दोष-शून्यता आदि शैली के साधनमात्र हैं उनका

साध्य काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति करना है; अतः इन साधनों की अपेक्षा स्वयं साध्य सौन्दर्य को काव्य की आत्मा मानना अधिक उचित होगा।

4. ध्वनि काव्यात्मा के रूप में

ध्वनि-सम्प्रदाय के उन्नायकों ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य हैं।

"काव्यस्यात्मा ध्वनिः।"

—ध्वन्यालोक

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वनि' शब्द के पाँच अर्थ माने हैं—(1) व्यंजक शब्द (2) व्यंजक अर्थ (3) व्यंजना शक्ति (4) व्यंग्यार्थ (5) व्यंग्यार्थ समन्वित काव्य। इस प्रकार व्यंजना शक्ति से सम्बन्धित सभी तत्वों शब्द, अर्थ, काव्य आदि को ध्वनि मान लिया गया है। किन्तु सामान्यतः जहाँ उक्ति में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर हो उसे ही ध्वनि कहा जाता है। इसी प्रकार काव्य के तीन भेद किये गये हैं (1) ध्वनि काव्य (2) गुणीभूत व्यंग्य काव्य (3) चित्र कला। जिस काव्य में अभिधार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ समान होते हैं उसे 'गुणीभूत-व्यग्य-काव्य' कहते हैं और जिस काव्य में वाच्य चित्रों का चमत्कार होता है उसे 'चित्र-काव्य' कहते हैं। उनका अर्थ यह हुआ कि उत्तम काव्य वही होता है जिसमें ध्वनि मुख्य होती है। अर्थ के साथ ध्वनि का साहचर्य उसी महत्ता का द्योतक है, जो सुन्दर रमणियों के सौन्दर्य के लावण्य में होता है।

ध्वनि सिद्धान्त में काव्य के सौन्दर्य के एक विशेष एवं अनिर्वचनीय उपादान की ओर संकेत किया गया है। इसीलिए यह सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा है। यह सच है कि इस सम्प्रदाय के विरोध में भी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, परन्तु विरोधों में पड़कर यह सिद्धान्त और चमकता गया।

हिन्दी में भी इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव पड़ा। आचार्य कुलपति, प्रतापसाहि आदि ने इसकी मान्यता को स्वीकार किया है। रसेतर सम्प्रदायों की भाँति इस सम्प्रदाय के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि यद्यपि काव्य में ध्वनि का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इसे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ध्वनि में भी 'रसध्वनि' सर्वश्रेष्ठ मानी गई है, अतः रस की मुख्यता स्वतः सिद्ध है, यह बात दूसरी है कि ध्वनि का रस के साथ विशिष्ट सम्बन्ध है।

5. वक्रोक्ति काव्यात्मा के रूप में

साहित्य में ध्वनि सिद्धान्त के दृढ़ स्थापन काल में ही वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रस्थापक आचार्य कुन्तक हैं। कुन्तक के समय में आनन्दवर्धनाचार्य के 'ध्वनिसिद्धान्त' की महत्ता प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार कर ली थी। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्थापित अलंकार, रीति रस, औचित्य आदि सम्प्रदायों का अन्तर्भाव ध्वनि-सम्प्रदाय में ही करके आनन्दवर्धनाचार्य ने उन सभी काव्य तत्वों को निश्चित रूपरेखा और महत्व स्थिर कर दिया था। किन्तु आचार्य कुन्तक ने ध्वनि के इस व्यापक सिद्धान्त का विरोध करके 'वक्रोक्तिः काव्यजीवनम्' की उद्घोषणा की। भारतीय-साहित्य में 'वक्रोक्ति' प्राचीनकाल से ही किसी न किसी रूप में प्रयुक्त थी। कुन्तक ने इसे व्यापक रूप देकर सम्प्रदाय विशेष के रूप में प्रतिष्ठित किया।

वक्रोक्तिवादी आचार्य इस उक्ति-वैचित्र्य को शब्द-गत, अर्थगत और शब्दार्थ उभयगत मानते हैं। शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के बिना काव्य के उद्देश्य 'आनन्द' का पूर्ण प्रसार नहीं हो सकता। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के 6 भेद माने हैं।

1. वर्ण-विन्यास वक्रता 2. पद-पूर्वार्द्ध वक्रता 3. पद-परार्द्ध वक्रता
4. वाक्य वक्रता 5. प्रकरण वक्रता 6. प्रबन्ध-वक्रता।

प्रसिद्ध कथन से भिन्न अभिधा, अर्थात् वर्ण-शैली ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति है। 'वैदग्ध्य' का अर्थ है विदग्धता, कविकर्म कौशल, उसकी भंगिमा या शोभा उसके द्वारा उक्ति, विचित्र अभिधा की वर्णन शैली को वक्रोक्ति कहते हैं। वक्रोक्ति को 'काव्यात्मा' स्वीकार करने पर भी कुन्तक रस की उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने रस की महत्ता के साथ साथ वक्रोक्ति को भी महत्व प्रदान किया। वस्तुतः यह काव्य का शरीर पक्ष है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने इसे अलंकार माना है। अस्तु, इसे काव्यात्मा नहीं कह सकते।

6. औचित्य काव्यात्मा के रूप में

आचार्य 'क्षेमेन्द्र' इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उन्होंने इसे काव्य का प्राण घोषित किया है। उन्होंने परिभाषा करते हुए कहा जो जिसके योग्य हो, अनुरूप हो, आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं इस उचित का भाव ही 'औचित्य' है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक वस्तु का उचित रूप में वर्णन ही औचित्य है।

साहित्य के बाहर भी औचित्य की प्रतिष्ठा है। इतिहास, नीति, दर्शन की पुस्तकों में भी औचित्य की प्रतिष्ठा मिलती है, जबकि ये काव्यक्षेत्र

की सीमा के बाहर के हैं। 'औचित्य' काव्य क्षेत्र की सीमा के बाहर पड़ती है। 'औचित्य' काव्य-सौंदर्य के विभिन्न साधनों में से एक है। वह काव्य का एक पूरक तत्त्व तो है किन्तु आधारभूत तत्त्व नहीं। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि औचित्य काव्य की शोभा, चारुता, रुचिरता के साधक तत्वों में से एक है, उसका साध्य सौन्दर्य है।

सम्प्रदायों का समन्वय

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

1. प्राय: प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसका समर्थन किया है।

2. ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय काव्य के बहिरंग पक्ष को मान्यता देते हैं।

3. ध्वनि, रस और औचित्य सम्प्रदाय काव्य के अंतरंग पक्ष को प्रधानता देते हैं।

अत: सम्प्रदायों को दो पक्षों में बाँटा जा सकता है पहला एक बहिरंगवादी या देहवादी और दूसरा अतरंगवादी या आत्मवादी। अलंकार सम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय और वक्रोकि-सम्प्रदाय देहवादी हैं और ध्वनि एवं रस सम्प्रदाय आत्मवादी हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शरीर के सौन्दर्य की अपेक्षा आत्मा का अस्तित्व अनिवार्य है। आत्मा को अनुपस्थिति में शरीर का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अत: आत्मवादी सम्प्रदायों का स्थान श्रेष्ठ है।

अलंकार रीति ध्वनि आदि सभी तत्व काव्य में सौन्दर्य शोभा, चारुता, रमणीयता आदि के उत्पादन के साधनमात्र हैं—उनका साध्य है—सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता आदि; जो वस्तुत: एक ही तत्त्व की विभिन्न विशेषताओं के द्योतक हैं। अत: इन सबके स्थान पर किसी एक सामान्य संज्ञा का प्रयोग करते हुए समन्वय स्थापित किया जा सकता है। विशेषण करने के उपरान्त 'आकर्षण-शक्ति' ही ऐसा शब्द प्रतीत होता है जो साहित्य या काव्यात्मा का स्थान ले सकता है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि उसके सहायक या साधक तत्त्व हैं। अस्तु भारतीय दृष्टिकोण से "आकर्षण-शक्ति" को काव्य की आत्मा माना जा सकता है। यह आकर्षण-शक्ति 'आनन्द' ही है, जिसे 'रस' की संज्ञा प्राप्त है। इस प्रकार 'रस' को ही काव्यात्मा मानना संगत प्रतीत होता है।

विशेष—भारतीय काव्यशास्त्र में सुप्रसिद्ध षट् सम्प्रदायों का संक्षिप्त

परिचय देने के पश्चात् इनका पृथक् विस्तृत-परिचय भी दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है, अत: अगले पृष्ठों में क्रमश: अलंकार, वक्रोक्ति रीति, ध्वनि, रस तथा औचित्य-सम्प्रदाय का विस्तृत-विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य-सम्प्रदाय

काव्य के क्षेत्र में भारतवर्ष अति प्राचीनकाल से ही गौरवास्पद रहा है। इस क्षेत्र में भारतीय आचार्यों ने पर्याप्त चिन्तन एवं मनन किया है। इन मनीषियों के विभिन्न चिन्तन-क्षेत्र रहे हैं। इनके चिन्तन को छ: भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो काव्य-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी सम्प्रदाय काव्य की आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं–

1. अलंकार-सम्प्रदाय 2. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय 3. रीति-सम्प्रदाय 4. ध्वनि सम्प्रदाय 5. रस-सम्प्रदाय 6. औचित्य-सम्प्रदाय।

उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों का विशेष-विवरण अपेक्षित है। यहाँ क्रमवद्धरूप में हम उक्त सभी सम्प्रदायों का समीक्षात्मक-परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकारों का प्रयोग वैदिक-साहित्य से ही देखने को मिलता है, किन्तु जहाँ तक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रश्न है, आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है, जिससे उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख मिलता है। इसके अनन्तर अग्निपुराण में 16 प्रकार के अलंकारों की चर्चा मिलती है, तदनन्तर अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में 38 अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके पश्चात् आचार्य दण्डी ने अपेक्षाकृत अधिक सरल-ढग से 35 अलंकारों का विवेचन किया है। भामह के द्वारा स्वीकृत दो-तीन अलंकार इन्होंने नहीं माने। उदाहरणार्थ इन्होंने प्रतिवस्तूपमा अलंकार को मान्यता नहीं प्रदान की। भामह ने वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल बत या था परन्तु दण्डी ने अतिशयोक्ति को अलंकारों का मूल सिद्ध किया इनके अनन्तर आचार्य उद्भट ने 41 अलंकारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। इनका काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ ''काव्यालंकार सार संग्रह'' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी देन यह है कि इन्होंने अनुप्रास के दो नये भेदों की कल्पना की, श्लेष अलंकार को अर्थालंकार के रूप में मान्यता दी और दृष्टान्त,

काव्यलिंग एवं पुनरुक्तवदाभास, इन तीन अलंकारों की नूतन-उद्‌भावना की। इनके अनन्तर लगभग 9वीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने 50 से भी अधिक अलंकारों का विवेचन 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में किया। इनकी मुख्य देन यह है कि इन्होंने सर्व प्रथम अलंकारों का चतुर्धा वर्गीकरण किया—

1. वास्तव, 2. औपम्य, 3. अतिशय, 4. श्लेष। इन्होंने अलंकारों से वहिर्भूति रस की सत्ता स्वीकार की। इनके पश्चात् लगभग 10वीं शताब्दी में भोजराज ने 24 शब्दालंकार 24 अर्थालंकार और 24 उभयालंकार माने। 'रसवादी आचार्य होने पर भी इन्होंने अलंकारों के महत्व को स्वीकार किया। 'सरस्वतीकंठाभरण' इनका प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ माना जाता है। भोज के अनन्तर आचार्य 'मम्मट' ने आठ शब्दालंकारों और 62 अर्थालंकारों पर विद्वत्तापूर्ण विचार प्रस्तुत किया इनका 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ इस दिशा में अत्यन्त महनीय माना जाता है।

द्वादश शतक में आचार्य रुय्यक ने 10 शब्दालंकारों और 75 अर्थालंकारों का सूक्ष्म विवेचन 'अलंकार-सर्वस्व' नामक ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। ये अलंकारवादी आचार्य थे, इन्होंने अलंकारों का जो वर्गीकरण किया है वह पूर्व आचार्यों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। द्वादश शताब्दी में कविवर जयदेव ने अपने 'चन्द्रलोक' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में 4 शब्दालंकारों तथा 100 अर्थालंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इनकी मान्यता है कि बिना अलंकारों के काव्य की रचना सम्भव ही नहीं है। इनके अनन्तर रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने भी "साहित्य दर्पण" में अलंकारों का सूक्ष्म-विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके अनन्तर आचार्य अप्पय दीक्षित ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' में 198 अर्थालंकारों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। अलंकारशास्त्र की यह परम्परा "पण्डित राज जगन्नाथ" तक प्रचलित रही और उनके सूक्ष्मतम् भेदों उपभेदों का निरूपण किया गया।

अलंकार की परिभाषा

अलंकारों के विवेचन में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'अलंकार' शब्द का क्या अर्थ है। प्रायः विद्वान् इसकी दो प्रकार की व्याख्यायें करते हैं–'अलंकारोतीति अलंकार:' अर्थात् जो अलंकृत करे उसे अलंकार कहते हैं। द्वितीय व्याख्या है, 'अलंक्रियते अनेक इति अलंकार:' अर्थात् जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय, वह अलंकार है। इन दोनों व्याख्याओं में कोई विशेष अन्तर तो नहीं है, किन्तु सूक्ष्म अन्तर यह है कि प्रथम में अलंकार में कर्तृत्व प्रधान है और दूसरे में अलंकार साधन मात्र सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार आभूषण मनुष्य के शरीर को अलंकृत करते हैं

उसी प्रकार अलंकार भी काव्य को अलंकृत करते हैं। अलंकारवादी आचार्यों (भामह, दण्डी, रुद्रट आदि) ने अलंकार को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले सहज धर्म के रूप में मान्यता दी है। इनका कहना है कि कवि अपनी अनुभूतियों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए अलंकारों का आश्रय लेता है। सामान्य कथन से काव्य में प्रभाव नहीं उत्पन्न होता है। किन्तु यदि उसी बात को उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से कहें तो उसी बात में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जायेगा और अर्थरमणीयता में भी वृद्धि होगी। काव्य में अलंकार को अनिवार्य तत्त्व मानते हुए आचार्य 'जयदेव' ने लिखा है "कि जो व्यक्ति काव्य को अलंकार रहित मानता है। वह अग्नि को भी ऊष्मा रहित क्यों नहीं मानता।"

अङ्गीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।। —चन्द्रलोक

अग्निपुराण में भी अलंकार को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया गया है। "यथा अलंकार रहिता विधवैव सरस्वती", अर्थात् अलंकारों से शून्य वाणी विधवा के समान है।

भामह—अलंकार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में भामह का नाम परम प्रसिद्ध है। उनके समय काव्य के शैली तत्त्व की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है यही कारण है कि भामह ने काव्य में अलंकारों का स्थान सर्वोपरि बताया है। जिस प्रकार स्त्री का मुख सुन्दर होने पर भी बिना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार काव्य कितना भी सुन्दर क्यों न हो, किन्तु अलंकारों के अभाव में वह शोभायमान नहीं हो सकता।

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।"

भामह के मत से अलंकार का मूल 'वचन वैचित्र्य' है जो सामान्यतया लोक प्रचलित वचनावली से भिन्न हो इस प्रकार इन्होंने 'वक्र' शब्द और 'वक्र' अर्थ को ही काव्य माना है। भामह की यह देन है कि इन्होंने गुणों की अपेक्षा अर्थवक्रता-युक्त अलंकार को अधिक मान्यता दी है। विचार करने से यह प्रतीत होता है कि भामह की दृष्टि काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष तक ही सीमित रही है। उन्होंने अनुभूति पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया। परिणामत: 'रस' जैसी महत्वपूर्ण वस्तु उपेक्षित ही रह गई है।

दण्डी

इन्होंने 'काव्यादर्श' में अलंकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है।

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।"

अर्थात् काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्मों (आन्तरिक तत्वों) को अलंकार कहते हैं। दण्डी ने भी रस की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की है; अपितु रसवत्, प्रेम और ऊर्जस्वि अलंकारों के रूप में अन्तर्भावित किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने नाटक की सन्धियों और वृत्तियों को भी अलंकार की सीमा में सिमेट लिया है, क्योंकि इन सभी उपकरणों के द्वारा काव्य की शोभा में वृद्धि होती है। इन्होंने भामह के विरुद्ध एक नवीन मान्यता यह स्थापित की है कि अलंकार का मूल वक्रोक्ति (वचन वैचित्र्य) नहीं अपितु अतिशयोक्ति है। इस प्रकार दण्डी ने भी काव्य शरीर तक ही अपनी विचार दृष्टि रक्खी है काव्यात्मा पर उनका ध्यान नहीं गया।

वामन

यद्यपि आचार्य वामन शुद्ध अलंकारवादी नहीं माने जाते, क्योंकि इन्होंने रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है और वे अलंकार को गुण का महत्व-पूर्ण सहायक तत्त्व मानते हैं। इनकी धारणा है कि अलंकार की सहायता से ही काव्य ग्राह्य बनता है।

"काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।"

अन्य स्फुटिक–अलंकार-सम्प्रदाय में आचार्य उद्भट भामह के ही अनुयायी माने जाते हैं। इन्होंने अधिक मौलिकता तो नहीं प्रदर्शित की, किन्तु दृष्टान्त काव्यलिंग आदि कतिपय नवीन अलंकारों की स्थापना अवश्य की है। अलंकार शास्त्रियों में आचार्य रुद्रट का विशेष महत्व माना जाता है। इन्होंने रस को अलंकार की सीमा में परिवद्ध नहीं किया, अपितु उसे स्वतंत्र मान्यता प्रदान की है। इनकी मुख्य देन यह है कि इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष आदि के आधार पर अलंकारों का सूक्ष्म वर्गी-करण प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनके अनन्तर 'रुय्यक, जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि आलंकारिकों ने अलंकार-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, किन्तु रस एवं ध्वनिवादी आचार्यों के समक्ष इनकी मान्यताएँ नहीं टिक सकीं।

अलंकार के विषय में रसवादी आचार्यों की मान्यता

रसवादी आचार्यों ने अलंकार की अभिव्यक्ति की विशेष पद्धति के रूप में मान्यता दी है। वे अलंकार को साध्य नहीं, काव्य का साधन मानते हैं। इन्होंने उचित स्थान एवं उचित कथन के लिए अलंकारों का प्रयोग शोभा सम्बर्धक माना है। इनके मत से अलंकार शब्द और अर्थ के अनित्य धर्म हैं। यदि कहीं अलंकार न भी हो, तब भी काव्यत्व के अस्तित्व में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि काव्य का मुख्य विषय पाठक या श्रोता के हृदय में आनन्दानुभूति कराना तथा नव्य चेतना स्फुरण करना होता है, जो रस

के द्वारा ही सम्भव है। आचार्य मम्मट ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

काव्य में अलंकारों का स्थान और महत्व

अलंकार काव्य में चमत्कार उत्पन्न करते हैं किन्तु उनका उचित विनियोग आवश्यक है, प्राय: इस बात से सभी लोग सहमत हैं। यह सत्य है कि केवल उक्ति चमत्कार ही काव्य नहीं, जैसा कि आचार्य रामचन्द शुक्ल ने अलंकार की परिभाषा देते हुए स्पष्ट किया है–

"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।

उक्त परिभाषा में 'कभी-कभी' शब्द विशेष महत्वपूर्ण है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि शुक्ल जी काव्य में अलंकारों का महत्व बहुत कम स्वीकार करते हैं। अलकार सम्प्रदाय में इनका विशेष महत्व रहा है। भामह आदि आचार्य काव्य में अलंकारों का होना अनिवार्य मानते थे। अर्थात् वे अलंकार युक्त शब्द को ही काव्य मानते थे आधुनिक युग के सबल समीक्षक डा० नगेन्द्र जी कोरे उक्ति चमत्कार को काव्य नहीं मानते। यथा "वही चमत्कारपूर्ण युक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियों के सुलझाने से सम्बन्ध रखता है या केवल कल्पना-विधान के आश्रित है, काव्य पद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती।" इसमें आधुनिक विद्वानों का मत है कि अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व तो नहीं है, किन्तु वह इतना उपेक्षणीय भी नहीं है कि उसका अस्तित्व हार आदि आभूषणों की भाँति केवल वाह्य हो। वास्तविक स्थिति यह है कि अलंकार न तो काव्य के अंतरंग तत्त्व हैं और न केवल वहिरंग। वे काव्य के अखण्ड सौन्दर्य में सम्मिलित रहते हैं, आरोपित नहीं, अत: उन्हें वाह्य कैसे कहा जा सकता है। यही कारण है कि भोजराज ने अलंकारों को वाह्य, आभ्यंतर और वाह्याभ्यंतर इन तीन वर्गों में विभाजित किया है। जिस स्थल में अलंकार भाव पक्ष और शैली पक्ष दोनों के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं, वहाँ उन्हें वहिरंग नहीं कहा जा सकता। कतिपय स्थल तो ऐसे भी होते हैं जहाँ अलंकार भाव अथवा रस के साथ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं वहाँ उनकी आभ्यंतर स्थिति माननी ही पड़ती है। यथा–

"रामहि चितौ भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया।।"

ऐसे स्थलों में अलंकार की आन्तरिक स्थिति मानी जा सकती है। इस प्रकार अलंकार को काव्य के वाह्य एवं आभ्यांतरिक दोनों पक्षों से सम्बद्ध माना जा सकता है।

अलंकार कवि की भावाभिव्यक्ति की स्थिति में स्वत: उत्पन्न हो जाते हैं, जैसा कि आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि "प्रतिभा के अनुग्रह से अलंकार स्वत: नि:सृत हो उठते हैं।" जैसा कि वी० राघवन् ने "सम कन्सेप्ट आफ् अलंकार शास्त्र" नामक पुस्तक में लिखा है–

"As emotion increases, escpression swells and figures
(FOAM) (FORTH)
toam tort"

अर्थात् "भावों की बाढ़ स्वत: ही अलंकार मणियाँ उगलने लगती हैं।

इस प्रकार रसादि के सहायक साधन ही हैं। सामान्यतया अलंकारों को शैली पक्ष में स्थान मिला है। पाश्चात्य विद्वान क्रोचे ने अलंकारों को अंतरंग माना है और अलंकार्य के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया है। वस्तुत: अलकार और अलंकार्य दोनों भिन्न हैं, किन्तु अलंकार अलंकार्य का ऐसा साधन है जो उससे अपना विशिष्ट सम्बन्ध रखता है। अलंकार का कार्य काव्य में प्रेषणीयता लाना है, वह उक्ति चमत्कार द्वारा रसादिक को अधिक स्पष्ट करता है और काव्य की श्री में वृद्धि करता है। उदाहरणार्थ अनुप्रास आदि शब्दालकार अपने नाद सौन्दर्य से श्रोता को काव्य के प्रति आकृष्ट करते हैं। इतना ध्यान अवश्य देना चाहिए कि अलंकार का अनावश्यक बोझ कविता-कामिनी के लिए भार न बन जाय। ऐसी अस्वाभाविक स्थिति औचित्य का उल्लंघन करने वाली होती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी अलंकारों को शैली के अंग के रूप में ही स्वीकार किया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक माने जाते हैं। इनसे भी पूर्व 'भामह' ने अपने 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ में इसे लोक-व्यवहार से भिन्न वक्रोक्ति संज्ञा दी है, और इसे सम्पूर्ण अलंकारों का मूल माना है। इसके अभाव में काव्य में सौन्दर्य-सत्ता आ ही नहीं सकती और न इसके बिना कोई अलंकार हो सकता है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनार्थों विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य: कोऽलंकारोऽनयाविना ।। –काव्यालंकार

भामह के पश्चात् दण्डी ने भी वक्रोक्ति को सम्पूर्ण अलंकारों का मूल स्वीकार किया। इस प्रकार कुन्तक के पूर्व 'वक्रोक्ति' की सीमा अलंकार तक ही सीमित रही। इन पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर कुन्तक ने स्वतन्त्र रूप से वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया।

"वक्रोक्ति: काव्य जीवितम्"

कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलंकार न मानकर उसके स्वरूप को और विस्तृत बनाया। उन्होंने "वैदग्धभंगी भणिति" अर्थात् विद्वतापूर्ण चमत्कारयुक्त कथन को वक्रोक्ति की संज्ञा प्रदान की। इसमें 'विदग्ध' शब्द का अर्थ 'प्रतिभा सम्पन्न कवि का काव्य कौशल' 'भंगी' का अर्थ 'चमत्कार' और 'भणिति' का अर्थ 'कथन शैली' है। इस प्रकार विस्तृत अर्थ यह निकला कि "ऐसी उक्ति वक्रोक्ति कहलाती है, जो शास्त्र एवं लोक व्यवहार के सामान्य अभिधा-प्रधान-रूप से भिन्न हो और प्रतिभाशाली कवि के कला-कौशल से निर्मित वैचित्र्यपूर्ण हो।" कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य-मर्मज्ञ व्यक्तियों को आहार प्रदान करने वाली स्वीकार किया है। काव्यात्मा के रूप में किसी भी आचार्य ने आगे चलकर वक्रोक्ति को मान्यता नहीं प्रदान की। इसे अलंकार की श्रेणी में ही स्थान मिला है।

वक्रोक्ति का सामान्य अर्थ 'टेढ़ी उक्ति' है क्योंकि वक्र शब्द का सामान्य अर्थ 'टेढ़ी' और उक्ति का अर्थ 'कथन' है। कवि बाणभट्ट ने 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग वचन वैचित्र्य अर्थ में किया है।

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति को ध्वनि-सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतिष्ठापित किया था इन्होंने इसको व्यापकता प्रदान करते हुए मुख्य रूप से वक्रोक्ति के 6 भेद माने हैं।

1. **वर्णविन्यास-वक्रता**–अक्षरों का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, जो सहृदयों को आनन्द प्रदान करे। जैसे अनुप्रास, यमक आदि।

2. **पदपूर्वार्द्ध वक्रता**–इसके 9 भेद माने गए हैं। इसमें पद का पूर्वार्द्ध जो शब्द रूप अथवा धातु रूप हो उसके विन्यास में वैचित्र्य होता है। जैसे 'परिकर' अलंकार में विशेषण चमत्कारपूर्ण होता है।

3. **प्रत्यय वक्रता**–जहाँ प्रत्ययों का वैचित्र्य-विन्यास हो, वहाँ 'प्रत्यय-वक्रता-वक्रोक्ति' मानी जाती है। इसके भी अनेक भेद किए गए हैं।

4. **वाक्य वक्रता**–जहाँ पर वाक्यगत वैचित्र्य हो, वहाँ वाक्य वक्रता मानी जाती है। उपमा आदि समस्त अलंकारों में वाक्य वक्रता होती है। इसके सहस्त्रों भेद हो सकते हैं।

5. **प्रकरण वक्रता**-इसमें प्रसंग-विन्यास में विचित्रता उत्पन्न की जाती है। उदाहरणार्थ शाकुन्तल नाटक में कालिदास ने दुर्वासा-शाप का प्रसंग प्रस्तुत किया है। इसमें कथावस्तु में एक वैचित्र्य उत्पन्न हो गया है।

6. **प्रबन्ध वक्रता**–जहाँ पर कवि रचना में प्रबन्ध वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है वहाँ पर प्रबन्ध वक्रता होती है। इसके 6 भेद माने गये हैं।

1. **मूल रस में परिवर्तन**—जैसे रामायण में शान्त रस के स्थान पर भवभूति द्वारा करुण रस का प्राधान्य प्रस्तुत किया जाना।

2. इतिहास प्रसिद्ध कथा के ऐसे प्रसंग पर कथावस्तु को समाप्त करना जहाँ नायक का चारित्रिक उत्कर्ष हो, यह भी प्रबन्धवक्रता का एक भेद है।

3. मध्य में विच्छिन्नता के कारण कथावस्तु की नीरसता को कम करने के लिए औत्सुक्य वर्द्धक आकस्मिक-प्रसंग की सृष्टि करना।

4. मुख्य फल में संलग्न नायक को अन्य गौण फलों की प्राप्ति होना।

5. कथावस्तु के नामकरण की विचित्रता। उदाहरणार्थ–प्रिय प्रवास शीर्षक से ग्रन्थ की कथावस्तु में वेदना का आभास होने लगता है। अतः यह भी प्रबन्धवक्रता का एक भेद हुआ।

6. उद्देश्य की विचित्रता भी इसी श्रेणी में आती है।

इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को व्यापक-परिधि प्रदान की है, जिसके अन्तर्गत काव्य का भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही आ जाते हैं। कुन्तक ने रस की उपेक्षा की है और कवि प्रतिभा की विशेषता मानकर 'व्यक्ति' तत्त्व को विशिष्टता प्रदान की है, जिसका क्षेत्र केवल शैली विधान तक ही सीमित रहा है। अतः यह सिद्धान्त शरीरवादी सिद्धान्त के रूप में मान्यता प्राप्त कर सका है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त अथवा रीति सिद्धान्त का विकसित रूप प्रतीत होता है। कुन्तक ने अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा शब्द और अर्थ के चमत्कार से आगे बढ़कर प्रकरण और प्रबन्ध तत्व पर भी विचार किया है। इसी प्रकार रीति सिद्धान्त में भाषा शैली तक ही विवेचन प्राप्त होता है। किन्तु वक्रोक्ति में रचना विधान पर भी ध्यान दिया जाता है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त ध्वनि सिद्धान्त से कुछ निम्न है, क्योंकि कुन्तक कथन प्रणाली को ही लक्ष्य में रखते हैं और ध्वनिवादी व्यंग्यार्थ में वर्ण्य अर्थ को प्रमुख मानकर लक्षणा व्यंजना को सहायक सौन्दर्य-प्रसाधन मानकर चलते हैं। रस-सिद्धान्त के साथ वक्रोक्ति का सम्बन्ध है। अन्तर यह है कि कुन्तक ने रस भाव को अलंकार्य माना है, किन्तु उसे काव्य शरीर के रूप में ही मान्यता दी है और काव्यात्मा के रूप में वक्रोक्ति को माना है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के विश्लेषण में औचित्य को वक्रता का जीवन माना है। उचित कथन वक्रता का प्राण होने से औचित्य वक्रोक्ति का परम रहस्य है। सम्भवतः औचित्यवादी क्षेमेन्द्र ने कुन्तक के इस कथन से ही इसे स्वतंत्र-सम्प्रदाय बनाने की प्रेरणा प्राप्त की है।

रीति-सम्प्रदाय

'रीति' शब्द का प्रचलन आचार्य 'वामन' के समय से प्रतीत होता है। इनके पूर्व 'भामह' और 'दण्डी' ने 'वैदर्भी' और गौड़ी के लिये 'काव्य मार्ग' या 'गिरामार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। रीति शब्द के लिये 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग होता रहा है। 'रीति' का सामान्य अर्थ है–गति, पथ, मार्ग, चलन आदि। 'रीति' शब्द संस्कृत की 'रीङ्' गतौ, धातु से स्त्रीलिंग अर्थ के बोधक 'क्तिन्'=ति, प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। अत: इसके अर्थ गति, पद्धति, शैली, मार्ग आदि हो सकते हैं। आचार्य वामन ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है– "विशिष्ट पद रचना रीतिः"

अर्थात् विशेष पद-रचना को रीति कहते हैं। यह 'रीति' शब्द शैली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; जिसे अंग्रेजी में 'स्टाइल' 'STYLE' कहते हैं। विशिष्ट पद रचना का आधार गुण माना गया। वामन ने गुणों को काव्य शोभा कारक बतलाया है और गुणों की सीमा अलंकार, रस एवं शब्द-शक्ति आदि तक विस्तृत कर दी है। तात्पर्य यह कि वामन ने रीति के अन्तर्गत काव्य के समस्त उपादानों को ले लिया है।

वास्तविकता यह है कि वामन ने रस-भाव आदि को रीति के सहायक तत्त्व मानकर बड़ी भूल की है। उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली, इन तीन रीतियों की स्थापना की है और इनमें भी 'वैदर्भी' को सर्वाधिक-महत्व प्रदान किया है। इनकी भाँति स्वतंत्र रूप से रीति को अन्य किसी आचार्य ने काव्यात्मा का स्थान नहीं दिया है। केवल शैली के रूप में सभी आचार्यों ने मान्यता दी है। रसवादी आचार्यों ने तो 'रीति' को रस की उपकारिता, अंगभूता, पद संगठना मात्र कहा है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी रीति को रसाश्रयी मानकर उसे गौण सिद्ध किया है। 'मम्मट' ने रीति को 'रसानुकूल वर्णगुम्फन' मात्र माना है। इस प्रकार उनके मत से 'रीति' और 'वृत्ति' अभिन्न हैं। यद्यपि आचार्य वामन से पूर्व भी रीति तत्व की चर्चा की गई है। भामह ने वैदर्भीरीति की श्रेष्ठता का खण्डन किया है। इसी प्रकार दण्डी ने विभिन्न कवियों की विभिन्न शैलियाँ मानकर 'गिरामार्ग' 'रीति' को अत्यन्त व्यापक माना है। वामन ने प्रादेशिकता के आधार पर वैदर्भी, गौडी और पाँचाली इन रीतियों का प्रतिपादन किया है।

वैदर्भी

समस्त गुणों से गुम्फित दोषों से सर्वथा रहित और वीणा के स्वरों के समान मधुर वैदर्भी रीति कहलाती है। इसका सम्बन्ध मुख्यतया काव्य के प्रसाद गुण से होता है। इसी को कोमलावृत्ति भी कहते हैं जैसे–

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि-पट-ज्योति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष छवि होति ।। —बिहारी

गौड़ी

ओज और कान्ति गुणों से युक्त उद्भट-पदावली को गौड़ी-रीति कहते हैं। इसका सम्बन्ध वीर रस, भयानक रस, रौद्र रस एवं वीभत्स रस से होता है। इसमें 'परुषावृत्ति' प्रधान होती है।

प्रतिभट कटक कटीले केते काति-काटि ।
कालिका सी किलकि कलेऊ देत काल को ।। —भूषण

पांचाली

अश्लिष्ट एवं शिथिल पदावली, माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों से युक्त रीति पांचाली कहलाती है। अर्थात् जहाँ पर शब्द और अर्थ का समान गुम्फन हो वहाँ पांचाली रीति होती है।

"शब्दार्थयो: समो गुम्फा: पाञ्चाली रीति रिष्यते ।"

इस रीति में मधुरावृत्ति प्रधान होती है। यथा—

अमिय हलाहल मद भरे सेत श्याम रतनार ।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत एकबार ।। —रसलीन कवि

'वामन' ने रीति को अध्ययन-प्रसूत न मानकर उसे जन्मजात-संस्कार माना है। इसने अलंकारवादियों की भाँति काव्य के वाह्यपक्ष, भाषा शैली तक ही अपने को सीमित रक्खा है। केवल तीन ही रीतियों तक काव्य को सीमित करना अदूरदर्शिता है, जबकि शैलियाँ वैयक्तिक रूप में भिन्न-भिन्न होती हैं। 'Style is the man himself में यही तथ्य प्रदर्शित किया गया है कि प्रत्येक कवि या लेखक की शैली अपनी निजी होती है।

ध्वनि-सम्प्रदाय

'ध्वनि' सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य आनन्दवर्द्धनाचार्य माने जाते हैं। 'ध्वनि' शब्द का सामान्य अर्थ 'नाद' या शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है– "ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि" अथवा—"ध्वननं ध्वनि:" प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार ध्वनि और व्यंजना का बोध होता है क्योंकि इनके द्वारा ही ध्वनि उत्पन्न होती है और दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर रस, अलंकार आदि काव्यार्थ गृहीत होते हैं क्योंकि यह सब ध्वनि हैं, ध्वनि होते हैं। ध्वनित होना ध्वनि का कार्य है और ध्वनित करना इसकी शक्ति है। यह ध्वनि व्यंजना पर आधारित है।

ध्वनि की परिभाषा

जहाँ अर्थ या शब्द अपने अभिधाप्रधान अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ

को ध्वनि करता है उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वान् लोग ध्वनि कहते हैं।

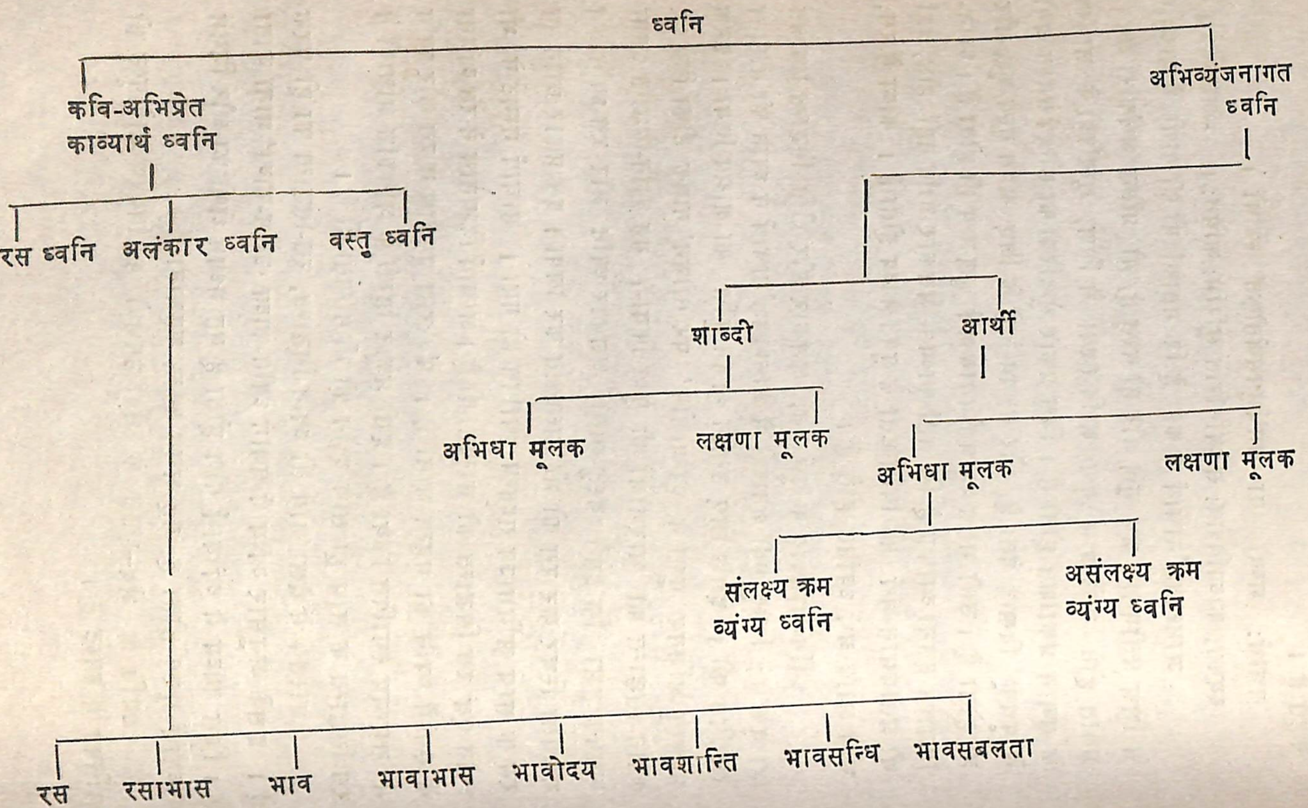
यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थो ।
व्यक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित: ।। —आनन्दवर्द्धन

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है कि महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है, जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रतीत होने वाले अन्य गुण आदि तत्वों से भिन्न, सुन्दरियों के लावण्य के समान प्रकाशित होता है। जिस प्रकार सुन्दरियों का सौन्दर्य समस्त अंगों से पृथक् दिखाई देता है, और सहृदय नेत्रों के लिए अमृत तुल्य कुछ और ही होता है। उसी भाँति वह प्रतीयमान अर्थ कुछ अन्य ही होता है। ध्वनि-सिद्धान्त इतना व्यापक है कि जहाँ काव्य में अलंकार आदि नहीं होते, वहाँ भी प्रतीयमान-अर्थ की विशिष्टता से युक्त काव्य होता है। काव्य में रस, भाव आदि अर्थ ध्वनित होते हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय के पूर्व रस, अलंकार और रीति सिद्धान्त प्रचलित हो चुके थे; किन्तु 9वीं शताब्दी में आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि की मान्यता स्थापित की। इसके लिए उन्होंने व्यजनावृत्ति का आश्रय लिया। इनके पश्चात् अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीका लिखकर ध्वनि-सिद्धान्त की धारणाओं को पुष्ट किया। यह ध्वनि-सिद्धान्त इतना व्यापक हुआ कि इसने वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि की मान्यता स्थिर कर रस को भी आत्मसात कर लिया। इस प्रकार ध्वनि का रस के साथ अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित हो गया। आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि एवं रस-सिद्धान्त को मान्यता दी है। आचार्य विश्वनाथ ने रस व्यंजना के रूप में ध्वनि का महत्व माना है। पं० राज जगन्नाथ ने रस और ध्वनि में समन्वय स्थापित किया है। इसी प्रकार हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के साथ ही साथ ध्वनि को भी मान्यता दी है।

वास्तव में देखा जाय तो ध्वनि-सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त का ही पूरक है। इसके अनुसार व्यंग्यार्थ-प्रधान ध्वनि-काव्य 'उत्तम-काव्य' माना जाता है। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ गौण होता है वह मध्यम श्रेणी का और जिसमें वाच्यार्थ मुख्य होता है वह अधम काव्य कहलाता है।

ध्वनि के भेद—ध्वनि के भेदों-उपभेदों का विवरण आगे पृष्ठ की तालिका में स्पष्ट है।


ध्वनि
कवि-अभिप्रेत काव्यार्थ ध्वनि
अभिव्यंजनागत ध्वनि
रस ध्वनि
अलंकार ध्वनि
वस्तु ध्वनि
शाब्दी
आर्थी
अभिधा मूलक
लक्षणा मूलक
अभिधा मूलक
लक्षणा मूलक
संलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि
असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि
रस
रसाभास
भाव
भावाभास
भावोदय
भावशान्ति
भावसन्धि
भावसबलता

निष्कर्ष यह है कि ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त की भाँति ही व्यापक एवं सशक्त सिद्ध हुआ है। रस-ध्वनि को श्रेष्ठ मानकर एक प्रकार से इन्होंने भी रस की सत्ता स्वीकार की है। रसवादी भी रस को व्यंग्य मानते हैं। जिसके मूल में व्यंजना-शक्ति कार्य करती है और वही व्यंजना-शक्ति ध्वनि-सिद्धान्त में भी मान्य है। इस प्रकार दोनों सिद्धान्त समकक्ष से प्रतीत होते हैं। यद्यपि प्रतिहारेन्दुराज आदि अनेक आचार्यों ने ध्वनि का खण्डन किया है। किन्तु इससे इस ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ी है। कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति की सीमा में संकलित कर लिया। महिमभट्ट ने व्यंजना-शक्ति ही अस्वीकृत कर दी और ध्वनि के प्रयीयमान अर्थ को अनुमानगम्य माना, पर इनकी ये मान्यतायें स्वीकृत नहीं हो सकीं। इस प्रकार ध्वनि काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुई किन्तु वास्तव में ध्वनिवादी आचार्यों ने श्रेष्ठतम ध्वनि रस-ध्वनि को ही माना है, अत: 'काव्यात्मा' पद ध्वनि को न देकर रस को देना अधिक न्याय-संगत प्रतीत होता है।

रस-सम्प्रदाय

रस और काव्य

'काव्यानन्द' को 'ब्रह्मानन्द-स्वाद-सहोदर' माना गया है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि ब्रह्मानन्द शाश्वत, नित्य और स्थायी है, किन्तु काव्यानन्द क्षण-स्थाई और अनित्य है। यह अन्तर रहने पर भी की प्रवृत्ति एक सी है अर्थात् जिस प्रकार निर्विकल्पक समाधि परातपर ब्रह्म का ध्यान करते हुए योगी परमानन्द का अनुभव करता है और उक्त स्थिति में संसार के मायाजाल से पूर्णत: विरक्त हो जाता है, उसी प्रकार काव्यानन्द प्राप्त होने पर पाठक या श्रोता संसार से पूर्णविरक्ति को प्राप्त होता है। भारतीय आचार्यों ने इसी काव्यानन्द को पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' की संज्ञा दी है। काव्य-विषयक-चिन्तन एवं सौन्दर्यान्वेषण के क्षेत्र में भारतीय मनीषी का परम अवदान 'रस-तत्व' की उपलब्धि है।

रस शब्द की व्युत्पत्ति

संस्कृत में 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति "रस्यतेऽसौ इति रस:" इस प्रकार दी गई है। अर्थात् जिससे आस्वाद मिले वही रस है। 'रस' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। रस केवल साहित्य में ही नहीं, बल्कि अन्य ग्रन्थों में भी भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक संहिताओं में रस का अर्थ 'जल' होता है उपनिषदों में रस ब्रह्म या ब्रह्मानन्द का वाचक है। आयुर्वेद में 'रस' शब्द औषधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अलंकार-शास्त्र में यह सर्वाधिक व्यापक रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ है। इस

शास्त्र में 'रस' शब्द एक अनिर्वचनीय साहित्यिक आनन्द के रूप में प्रयुक्त किया गया है। साहित्य-जनित-रसानन्द उपनिषदों के ब्रह्मरूप रसानन्द के समकक्ष माना गया है। रस-रहित कोई भी शब्दार्थ साहित्य का विधान नहीं कर सकता। इसीलिए 'रस' साहित्य का प्राण निश्चित किया गया है।

'रस' साहित्य का प्राण है। रस-रहित काव्य, काव्य नहीं होता। काव्य ही क्या भरत के अनुसार तो रस के बिना किसी अर्थ की प्रवृत्ति भी नहीं होती।

"नहि रसावृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते"

अग्नि पुराण के रचयिता व्यास जी ने स्पष्ट ही रस को काव्य का प्राण कहा है। रस की प्रतिष्ठा केवल रसवादियों में ही नहीं रही है, अलंकारवादियों, वक्रोक्तिवादियों, रीतिवादियों आदि ने भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

आचार्य 'भामह' यद्यपि रसविरोधी आचार्य थे, किन्तु उन्होंने भी "मुक्त' लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै पृथक" लिखकर इस सिद्धान्त की महत्ता स्वीकार की है। रस के महत्व का आभास हमें संस्कृत आचार्यों की काव्य परिभाषाओं में भी होता है। भरत ने वहुक्त रसमार्ग, वाग्भट्ट ने 'रसोपेतं' जयदेव ने 'रसानेक' लिखकर काव्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से रस की महत्ता को स्वीकार किया है। 'मम्मट', 'विश्वनाथ' और 'जगन्नाथ' आदि तो रसवादी आचार्य ही थे। वे उसे काव्य का प्राण मानते ही थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के लगभग सभी प्राचीन आचार्यों ने काव्य में रस का महत्व स्वीकार किया है—

रस की परिभाषा देते हुए भरतमुनि ने कहा—

'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्ति:।'

अर्थात् 'विभाव' 'अनुभाव' एवं व्यभिचारीभाव का संयोग होने पर रस की 'निष्पत्ति' होती है इसे और स्पष्ट करने के पूर्व भाव, विभाव, अनुभाव एवं (संचारी) व्यभिचारीभाव के स्वरूप से परिचित हो लेना आवश्यक है, कारण यही रस-तत्व हैं।

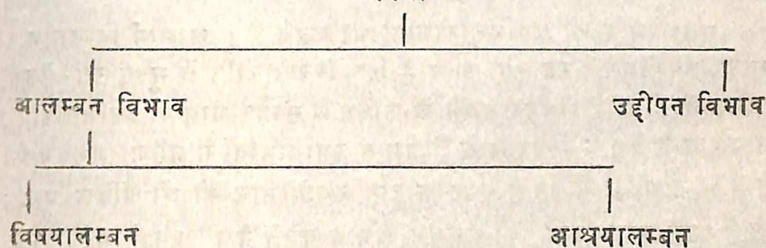
स्थायी भाव–सहृदयों के हृदय में वासना-रूप में स्थित शाश्वत मनोविकार साहित्य में 'स्थायीभाव' कहलाता है। इसका विश्लेषण करते हुए आचार्य भरतमुनि ने कहा–"वागङ्गसत्वोपेतान् भावयन्तीति भावा:" अर्थात् "(अनुभावों) के वाचिक एवं सात्विक प्रदर्शन द्वारा जो नाटक के अर्थ को विभाषित करते हैं, वे भाव कहे जाते हैं।" आचार्य विश्वनाथ का विश्लेषण बड़ा ही महत्वपूर्ण है, कारण. इसमें स्पष्ट रूप से बताया गया है कि अविरुद्ध

या विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके, आस्वाद का मूलभूत वह भाव ही 'स्थायी' है। उन्होंने बताया कि स्थायी भाव नौ हैं—अर्थात् रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय एवं शम ये नौ स्थायीभाव हैं।

प्रियवस्तु या मनोनुकूल अर्थ में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुखी भाव का नाम 'रति' है। वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना 'हास' कहलाता है इष्टनाशादि के कारण चित्त की विकलता को शोक कहते हैं। प्रतिकूल या शत्रुओं के विषय में तीव्रता से उद्बोध का नाम 'क्रोध' है। कार्य करने में स्थिरतर तथा उत्कृष्ट आवेश या संरम्भ को उत्साह कहते हैं। किसी भयानक वस्तु की भयंकरता से उत्पन्न चित्त को व्याकुल करने वाला भाव 'भय' कहलाता है। लोक-सीमा से अतिक्रान्त अलौकिक सामर्थ्य वाली किसी वस्तु के दर्शन आदि से उत्पन्न चित् के विस्तार को 'विस्मय' कहते हैं। निःस्पृहता की अवस्था में आत्मा वा अन्तःकरण के विश्राम से उत्पन्न हुआ सुख का नाम 'शम' है। शिशु वा बालक की मनोहर चेष्टाओं से उत्पन्न होने वाले सहज अनुराग-भाव का नाम 'वत्सलता है। इस प्रकार साहित्य शास्त्रियों ने स्थायी भावों की चर्चा की है।

विभाव

सहृदयों के हृदय में संस्कार रूप में स्थित 'रति' आदि स्थायी भावों के उद्दीपक कारण को विभाव कहते हैं। (विशेषण भावयन्तीति विभावाः) शुक्ल जी ने विभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है "विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है, जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती।"



आलम्बन विभाव वे हैं, जिनका आलम्बन लेकर रति आदि स्थायी भाव जाग्रत होते हैं–जैसे नायक, नायिका। यह आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं—1–विषयालम्बन–जहाँ नायक आदि से 'रस' की प्रतीति होती है जैसे रामादि। 2–आश्रयालम्बन–जहाँ नायक आदि आश्रय के द्वारा रस की प्रतीति होती है।

उद्दीपन-विभाव वे कहलाते हैं, जिन वस्तुओं या स्थिति को देखकर रति आदि 'स्थायी भाव' तीव्रतर या उद्दीप्त होने लगते हैं। जैसे चन्द्रोदय, कोकिल, एकान्त स्थल आदि। प्रत्येक रस के अपने विशिष्ट-उद्दीपन होते हैं। भावोद्दीपन के निम्नलिखित कारण होते हैं–आलम्बन के गुण चेष्टाएँ, अलंकार, तटस्थ जैसे वसन्त उद्यान आदि।

अनुभाव

आलम्बन-उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न काव्य-नाटक के अन्तर्गत विभिन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य अनुभाव हैं। भावों की सूचना देने के कारण ये भावों के 'अनु' अर्थात् पश्चाद्‌वर्त्ती एवं कार्य रूप माने जाते हैं। इनकी संख्या निश्चित नहीं है परन्तु इनको वर्गों में बाँटने का प्रयास किया गया है–1–कायिक 2–वाचिक 3–मानसिक 4–आहार्य 5–सात्विक अनुभाव। शरीर की वे प्रतिक्रियायें जो अन्त:करण में स्थित भावों की सूचना देती हैं 'कायिक' अनुभाव कहलाती हैं वचनोद्‌गार जो उपर्युक्त कार्य को सम्पन्न करते हैं 'वाचिक' अनुभाव कहलाते हैं। अन्त:करण की भावना के अनुकूल मन में हर्ष–विषादादि के उद्वेलन को मानसिक अनुभाव कहते हैं मन में उठी भावना के अनुरूप कृत्रिम वेश-भूषा की रचना का विचार 'आहार्य' अनुभाव कहलाता है।

सात्विक अनुभावों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्य-दर्पणकार के अनुसार 'सत्व' स्वात्मविश्राम अर्थात् 'रस' को प्रकाशित करने वाला आन्तर धर्म है, इससे सम्बन्ध रखने के कारण ही ये सात्विक अनुभाव कहे जाते हैं। संख्या में ये आठ हैं–स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, वेपुथ वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय।

संचारीभाव

संचारीभाव को 'व्यभिचारीभाव' भी कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि विशेष रीति से मुख्य रस हेतु स्थायीभावों की ओर संचरण करने के कारण ये संचारीभाव या व्यभिचारी-भाव कहे जाते हैं। ये स्थिरता से विद्यमान स्थायीभावों में हमेशा आविर्भूत होते हैं। ये संख्या में 33 हैं "उत्पन्न हुए स्थायीभाव को जो अधिक पुष्ट करते हैं उन सहकारियों को व्यभिचारीभाव कहते हैं।" इनकी संख्या 33 मानी जाती है। रीतिकाल में 'देव' ने 34 तक यह संख्या मानी है।

रस का स्वरूप

कुछ विद्वानों ने कहा कि रस मनोवेग है, परन्तु कुछ विद्वानों ने कहा कि रस मनोवेग नहीं है। किसी वस्तु का आस्वादन करने पर जो आनन्द

मिलता है उसे रस कहते हैं। साधारण भाषा में कहते हैं कि अमुक की कथा में 'बड़ा रस आया' वे बड़े रसिक हैं।" 'रसिया' शब्द का अर्थ है जिसके आस्वादन में आनन्द आवे। आनन्द लेने वाले को भी 'रसिया' कहते हैं। संक्षेप में आस्वादनजन्य आनन्द को रस कहते हैं। रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि, स्थायिभावः सचेतताम्॥

अर्थात् "विभाव, अनुभाव एवं संचारिभावों के संयोग से व्यक्त होकर सहृदय के हृदय में स्थित 'रति' आदि स्थायी भाव ही 'रसत्व' प्राप्त कर लेते हैं 'सत्व' के उद्रेक के कारण यह रस अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश-स्वरूप, आनन्दमय एवं विनमय होता है। इस रस के साक्षात्कार के समय दूसरे ज्ञातव्य विषयों का स्पर्श तक नहीं होता और इसीलिए यह ब्रह्मानन्द (ब्रह्म के साक्षात्कार से मिलने वाले आनन्द) के समान होता है। इस रस का एक 'प्राण' एक ऐसा अलौकिक चमत्कार होता है, जिसकी उपलब्धि कुछ सहृदय व्यक्तियों को ही हो सकती है। इस 'रस' के आस्वादन के समय रस-भोक्ता का इससे पृथक् व्यक्तित्व नहीं रह पाता।"

रस सम्प्रदाय के आचार्य

संस्कृत के रसवादी आचार्यों में आचार्यभरत (वि० पू० 200), अभिनवगुप्त (11वीं शतक), विश्वनाथ (14वीं शतक) तथा पण्डित राज जगन्नाथ (17वीं शतक) के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी-साहित्य में रसवादी आचार्यों की संख्या पृथुल है। चिन्तामणि (1643 ई०) कुलपति (1760), देव (17वीं शतक), श्रीपति (18वीं शतक) भिखारीदास (18वीं शतक), भारतेन्दु (19वीं शतक), मिश्रबन्धु (19वीं शतक), कन्हैयालाल पोद्दार (19वीं शतक), रामचन्द्र शुक्ल (20वीं शतक) जयशंकर प्रसाद (20वीं शतक), आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (20वीं शतक) और डा० नगेन्द्र (20वीं शतक) हिन्दी के प्रमुख रसवादी आचार्य माने जाते हैं।

उपर्युक्त आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों की मान्यता को दृष्टिपथ में रखकर अपने-अपने ग्रन्थों में रस की मान्यता स्थापित की है। इस समय डा० नगेन्द्र ने 'रससिद्धान्त' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रस्तुत किया है, जिसमें रस का अत्यन्त सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ को देखकर कोई भी पाठक यह नि:सकोच होकर कह सकता है कि डा० नगेन्द्र ने 'रस' के क्षेत्र में संस्कृत के आचार्यों की मान्यताओं का ही पिष्टपेषण नहीं

किया, अपितु इस क्षेत्र में उनकी मौलिक देन भी विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हुई है। इसके पूर्व रस के विषय में किसी भी संस्कृत अथवा हिन्दी के आचार्यों ने इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं किया।

रस-निष्पत्ति

'नाट्यशास्त्र' के रचयिता ख्यातनामा भरतमुनि रस-सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक माने गये हैं। उनका ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अद्वितीय है, किन्तु उन्होंने रस के सम्बन्ध में जो बताया है वह अस्पष्ट है। उनके वास्तविक आकार के सम्बन्ध में मनचाही कल्पना की जा सकती है। भरतमुनि का मूल-सूत्र इस प्रकार है–

"विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

अर्थात् विभाव (नायक-नायिका आदि) अनुभाव (अश्रु, स्वेद, कम्पादि, भाव सूचक शारीरिक विकार, व्यभिचारी भाव, हर्ष, मद, उत्कण्ठा आदि) के संयोग से रस की प्राप्ति होती है। इसमें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द विवाद के विषय रहे हैं। यह सूत्र आचार्यों के मस्तिष्क के लिए व्यायाम शाला बन गया है। इसकी व्याख्या करने वालों में चार आचार्य प्रमुख हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(1) **भट्टलोल्लट–उत्पत्तिवाद**

(2) **श्री शंकुक–अनुमितिवाद**

(3) **भट्टनायक–भुक्तिवाद**

(4) **अभिनवगुप्त–अभिव्यंजनावाद या अभिव्यक्तिवाद**

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

इस सूत्र के प्रथम व्याख्याता हैं, भट्टलोल्लट। यह मीमांसा सिद्धान्त के मानने वाले थे। उनका मत है कि स्थायीभाव नायिकादि विभावों द्वारा उत्पन्न होकर तथा उद्यान, चन्द्र ज्योत्स्नादि उद्दीपनों द्वारा उद्दीप्त होकर कटाक्ष भुजक्षेप अश्रु रोमांचादि अनुभावों अर्थात् बाह्य व्यंजकों द्वारा प्रतीति-योग्य अर्थात् जानने योग्य बनकर और उत्कण्ठादि व्यभिचारियों द्वारा पुष्ट होकर दुष्यन्त रामादि अनुकार्यों में रस रूप से विद्यमान रहता है। इस मत में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं–

(1) स्थायीभाव का सूत्र में उल्लेख नहीं है, किन्तु इस मत में उसका रस के मूल रूप में पृथक् उल्लेख हुआ है और स्थायीभाव के साथ संयोग माना गया है।

(2) यह स्थायीभाव आलम्बन विभावों से उत्पन्न होता है (इसी से इसको उत्पत्तिवाद कहते हैं। एवं व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर अनुभावों

द्वारा व्यक्त होकर अनुकार्य में रस रूप में रहता है। निष्पत्ति का अर्थ 'उपत्ति' है।

(3) नट में यह रहता नहीं है, वरन् रूप की समता के कारण उसमें आरोप होता है, इसीलिए उसको आरोपवाद भी कहते हैं।

(4) अभिनय की कुशलता से आरोपित स्थायीभाव सामाजिकों के चमत्कार का कारण बन जाता है।

भट्टलोल्लट के अनुसार रस की मूल रूप से रामादि अनुकार्यों में उत्पाद्योत्पादक तथा कार्यकारण भाव से उत्पत्ति होती हैं। नट की अनुकृति की सफलता से उत्पन्न सामाजिक के मन में चमत्कारजन्य आनन्द रस बन जाता है।

सिद्धान्त की समीक्षा

(1) भट्टलोल्लट ने रस के लौकिक विषयगत पक्ष को महत्ता प्रदान की। विभावन के लिए भी कुछ सामग्री अपेक्षित होती है। लोल्लट ने उसकी ओर संकेत किया है। लोल्लट की व्याख्या में एक शास्त्रीय दोष तो यह निकाला गया कि स्थायीभाव का उल्लेख भरत के सूत्र में नहीं है। उन्होंने स्थायीभाव को रस से पृथक् नहीं माना है। इसीलिए उन्होंने सूत्र में उल्लेख नहीं किया है। यह ऐसी वस्तु भी नहीं है, जो पहले अपुष्ट रूप से रहती हो और पीछे से पुष्ट होकर रस का रूप धारण करे। विभावादि के बिना मूल आश्रय में स्थायी रूप हो ही नहीं सकता फिर उनसे उसकी पुष्टि कैसी ?

(2) इस मत में रस की स्थिति को मुख्य रूप से अनुकार्य और गौण रूप से अनुकर्त्तागत कहा गया है सामाजिक तटस्थ रह जाता है, अतः यह मत सर्वथा दोषपूर्ण है।

(3) विभावादि और स्थायीभाव के उत्पादक उत्पाद्य सम्बन्ध मान लेने पर उत्पादक सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता पर उत्पाद्य सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता निर्भर रहेगी, किन्तु रस अखण्ड वस्तु है उसे हम न तो न्यून कह सकते और न प्रचुर।

(4) एक तर्क और है, यदि भाव की उद्दीप्तावस्था को रस-दशा मानें तो फिर शोकादि की उद्दीप्तावस्था करुणा जनक होगी, रस रूप नहीं।

(5) एक तर्क यह भी है कि उत्पादक, उत्पाद्य सम्बन्ध मानने पर करुण रस के प्रसंग में शोक स्थायी से आनन्द रूप करुण-रस की उत्पत्ति कैसे स्वीकार करेंगे, क्योंकि कार्य तो कारण के अनुकूल ही होता है। जिस प्रकार कि गेहूँ के बीज रूप कारण से चने का पौधा रूप कार्य उत्पन्न नहीं होगा।

श्रीशंकुक का अनुमितिवाद

इन आपत्तियों से बचने के लिए श्रीशंकुक ने अपना 'अनुमितिवाद' निकाला। वे नैयायिक थे। उन्होंने रस की आपत्ति गम्यगमक-भाव से मानी है। नट जब नाटकादि से रामादि अनुकार्यों के भावों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी शिक्षा और अभिनय के अभ्यास द्वारा रंगमंच पर कारण (विभाव) कार्य (अनुभाव) सहचारी (संचारीभाव) को अपनी कला में प्रदर्शित करता है तब वे (विभाव, अनुभाव) कृत्रिम होते हुए भी ऐसे नहीं माने जाते। अर्थात् नट को रामादि विभाव कहते हैं और उसके भुज अश्रु आदि अनुभावों को राम के ही अनुभाव कहते हैं।

इन्होंने 'संयोग' का अर्थ 'अनुभाषक' या 'गमक-अनुमाप्य' या गम्य सम्बन्ध किया है। इनके अनुसार गम्य या अनुमाप्य रस के प्रसंग में विभावादि ठीक उसी प्रकार गमक या अनुभावक है, जिस प्रकार गम्य या अनुमाप्य अग्नि के प्रसंग में धूआँ अनुमापक या गमक होता है। श्रीशंकुक ने अपनी समस्या को सुलझाने के लिए 'चित्रतुरंगादि' न्याय के सिद्धान्त की कल्पना की। उन्होंने कहा–काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सहृदय-भूत-दर्शक चित्र तुरंगादि न्याय से। अर्थात् ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बच्चा चित्र में लिखे हुए घोड़े को ही सच्चा घोड़ा समझ लेता है। रामादि-रूप विभावादि के वास्तविक–वास्तविक रूप में न होने पर भी नट को ही रामादि मानकर **रस का अनुमान** कर बैठता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकुक के रस सूत्र के सयोगादि का अर्थ अनुमापक, अनुमाप्य, सम्बधात् और निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' लिया गया है।

सारांश

इस मत के अनुसार वास्तविक रूप से अनुकार्यों (दुष्यन्त शकुन्तला) को भी विभाव कह सकते हैं। उनके ही अनुभावों और संचारियों को अनुभाव और संचारी कहेंगे।

'नट' इनका अनुकरण करता है सामाजिक लोग चित्रतुरंगन्याय से नट को अनुकार्य समझ लेते और उसके अनुभावादि से उसमें स्थायीभाव का अनुमान करते हैं।

यद्यपि अनुमान का आधार कृत्रिम होता है, परन्तु इस मत के अनुसार नट का चित्रतुरंगन्याय से दुष्यन्त से तादात्म्य कर उसके अनुभावादि द्वारा गम्य-गमक वा अनुमाप्य-अनुमापक-भाव से सामाजिक रस की अनुमिति करते हैं।

मत की समीक्षा

शंकुक ने दो बातों पर अधिक जोर दिया एक 'अनुकरण' दूसरा 'अनुमान' विवेचन करने पर शंकुक की दोनों ही आधार-शिलाएँ बालुका-निर्मित प्रतीत होने लगती हैं—

(1) विभावादि जो प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, उनसे रस की निष्पत्ति कैसे सिद्ध की जाय ?

(2) बहुत से आलम्बनादि ऐसे होते हैं, जिनके प्रति हमारी भावना सदैव पवित्र होती है, जैसे राम-सीता इनकी रति-भावना आदि में कैसे तादात्म्य का अनुभव करें।

(3) करुण, जिसका स्थायीभाव 'शोक' है वह रस कैसे हो सकता है।

शंकुक का यह मत केवल प्रथम समस्या का थोड़ा-सा समाधान प्रस्तुत करता है, वह भी चित्रतुरंगादिन्याय पर आधारित होने के कारण। इस सिद्धान्त में सब कुछ कल्पित और कृत्रिम है। उनका 'रस' अनुमिति का विषय होने के कारण कल्पित है। उसके अनुमापक विभावादि भी चित्रतुरंगादिवत् होने के कारण मिथ्या हैं। अतः कृत्रिम और कल्पित वस्तु रसास्वादन का विषय कैसे हो सकती है ?

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक का कथन है कि रस की न तो प्रतीति (अनुमिति) होती है (जैसा कि शंकुक ने माना है) न उत्पत्ति होती है। (जैसा भट्टलोल्लट ने माना है।) अनुभव और स्मृति के बिना रस की प्रतीति नहीं हो सकती।

भट्टनायक की विशेषता यही है कि उन्होंने सामाजिक के नायिकादि विभावों में आनन्द लेने की समस्या को हल करने के लिए 'अभिधा', 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' तीन व्यापार माने हैं। भावकत्व द्वारा अपने और पराये के भेद को दूर करके उसके भोग की समस्या को हल किया है।

इस मत के अनुसार काव्य नाटक के विभावादि अभिधा द्वारा बोधगम्य होते हैं, उसके पश्चात् विभावादि भावकत्व द्वारा मेरे-पराये के बन्धनों से मुक्त होकर अर्थात् साधारणीकृत होकर सहृदय के उपभोग योग्य बनते हैं। रस-निष्पत्ति का अर्थ विभावादि की भोज्य-भोजक-भाव से मुक्ति है।

अर्थात भावकत्व का अर्थ है 'साधारणीकरण' इस भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार से विभावादि और स्थायी भाव का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण का अर्थ है सीतादि का साधारण कामिनी रूप मात्र में रह जाना। स्थायी भाव के रजोगुण और तमोगुण का परिहार हो जाता है और स्थायीभाव केवल सत्वोद्रेक मात्र रह जाता है। यह सत्वोद्रेक

ही रस कहलाता है। भोग व्यापार से इसी का भोग होता है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण प्रक्रिया की सारिणियाँ इस प्रकार हुईं -

(1) 'अभिधा' से काव्यार्थ का बोध।

(2) 'भावकत्व' व्यापार से पहले विभावादि का साधारणीकरण होना, अर्थात् उसका व्यक्तिगत सम्बन्धों से विच्छिन्न होना।

(3) काव्यस्थ 'स्थायी-भाव' का साधारणीकरण तथा सतोगुण का उद्रेक होना।

इसमें सन्देह नहीं कि साधारणीकरण के सिद्धान्त की कल्पना से उपर्युक्त समस्याओं का बहुत कुछ समाधान हुआ, किन्तु दर्शक की समस्या फिर भी शेष रह गई। इसको सुलझाने का प्रयास आचार्य अभिनवगुप्त ने किया। 'साधारणीकरण' इस मत की मुख्य देन है। इस मत में यह दोष है कि 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' इन दो शक्तियों की कल्पना अशास्त्रीय है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त के अनुकूल रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के अन्त:करण में वासना या संस्कार रूप से अव्यक्त-दशा में वर्तमान रहते हैं।

(1) अभिनवगुप्त रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानते हैं।

(2) सामाजिकों में स्थायी भाव वासना वा संस्कार रूप से स्थिर रहते हैं।

(3) वे साधारणीकृत विभावादि द्वारा उद्भूत हो जाते हैं। ये विभावादि के संयोग के कारण अव्यक्त रूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं, करीब-करीब उसी तरह जिस तरह कि जल के छींटे पड़ने से मिट्टी की अव्यक्त गन्ध व्यक्त हो जाती है।

(4) काव्यादि का पाठ और नाटकों के अभिनय सहृदयों के स्थायी भावों की जाग्रति के साधन होते हैं। पाठकों और दर्शकों को अपने ही उद्बुद्ध स्थायीभावों का शुद्ध रूप में तन्मयता के कारण चित्त की वृत्तियों के एकाग्र हो जाने से ब्रह्मानन्द-सहोदर अखण्ड रस के रूप में आनन्द प्राप्त होने लगता है।

(5) अभिनवगुप्त के मत से संयोग का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक भाव है और निष्पत्ति का अर्थ है 'अभिव्यक्ति' इस मत के अनुसार सामाजिकों के हृदय में वासना रूप में स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यंग्य-व्यंजक भाव से अभिव्यक्त हो जाते हैं ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि मिट्टी की अव्यक्त गंध जल के छींटे पड़ने से व्यक्त हो जाती है। यह मत मनोविज्ञान की धारणा के सर्वथा अनुकूल है।

अन्य मत

धनंजय का मत

अभिनवगुप्त के मत को उनके अनुवर्त्ती आचार्यों में से अधिकांश ने माना है। धनंजय का मत एक प्रकार से उनके ही मत का स्पष्टीकरण है।

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभि: ।
आनीयमान: स्वाद्यत्व स्थायीभावो रस:स्मृत: ।। —दशरूपक

अर्थात् स्थायी भाव, विभाव, सात्विक और व्यभिचारी-भावों द्वारा आस्वाद्य होकर रस बन जाता है। धनंजय का अभिनवगुप्ताचार्य से केवल इतना ही अन्तर है कि धनंजय ने व्यंजना को नहीं माना है 'तात्पर्यवृत्ति' से ही काम चलाया है और अभिनवगुप्त ने व्यंजना को मुख्यतया दी है।

रसगंगाधर में इन मतों के अतिरिक्त कई और मतों का उल्लेख किया गया है उनमें से एक जो रज्जु के सांप की भाँति मिथ्या मानने वाले शांकर वेदान्त से सम्बन्ध रखता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रस की यह व्याख्या शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) की भ्रान्त-अनुभूति के आधार पर चलती है। अन्य मत विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

समन्वय एवं निष्कर्ष

भट्टलोल्लट और श्री शंकुक दोनों ही अनुकार्यों को विशेषता महत्व प्रदान करते हैं। ये लोग रस की लौकिक विषयगत स्थिति को प्रकाश में लाते हैं और साधारणीकरण के लिए जो लौकिक आधार चाहिए उसकी ओर सकेत करते हैं। भट्टलोल्लट के मतानुसार नट में दुष्यन्तादि की रीति का आरोप किया जाता है और श्रीशकुक के अनुसार उसमें अनुमान किया जाता है। आरोप निराधार भी हो सकता है किन्तु अनुमान में किंचित आधार रहता है। इन दोनों की देन ही है कि ये लोग कल्पना को नितान्त निराधार होने से बचाये रखते हैं। वे आजकल के उपन्यासों के कल्पित पात्रों की व्याख्या कुछ कठिनाई ही से कर सके हैं। कल्पना का जो वास्तविक आधार होता है उसकी ओर ये संकेत अवश्य कर देते हैं।

यद्यपि साधारणीकरण की मूल भावना की क्षीण झलक नट के अनुकरण में (नट दुष्यन्त का साधारण राजारूप में अनुकरण करता है दुष्यन्त को तो वह जानता नहीं) रहती है तथापि इस सिद्धान्त को पूर्ण विकास देने का श्रेय श्री भट्टनायक का है। भोजकत्व में सामाजिक के कर्त्तव्य की ओर संकेत रहता है और उसके रस के मूल अर्थ 'आस्वादकत्व' की भी सार्थकता हो जाती है। किन्तु उन्होंने सामाजिक ऐसे किसी गुण का सकेत नहीं किया, जिसके कारण सामाजिक में 'भोजकत्व' की सम्भावना रहती है। इस कमी

रस-निष्पत्ति

आचार्य	दार्शनिक मत	वाद	रस की स्थिति	संयोग का अर्थ	निष्पत्ति का अर्थ
भट्टलोल्लट	मीमांसक	उत्पत्तिवाद या आरोपवाद	मूल रूप से अनुकार्यों में रहता है नटादि अनुकर्त्ताओं में आरोप होता है गौण रूप से सामाजिकों में अनुकरण के चमत्कार से	कार्य-कारण-भाव	उत्पत्ति
श्री शंकुक	नैयायिक	अनुमितिवाद	नट के अनुमापादि द्वारा अनुकार्यों में अनुमेय, गौणरूप से सामाजिकों में करण के चमत्कार से। नट और अनुकार्य का चित्रतुरंग न्याय से तादात्म्य मानते हैं	गम्य-गम्यक-भाव अथवा अनुमाप्य-अनुमापक-भाव।	अनुमिति
भट्टनायक	सांख्यवादी	भुक्तिवाद	अभिधा भावकत्व द्वारा आलम्बनादि साधारणीकृत होकर सामाजिक के भोग का विषय बनते हैं (भोजकत्व)	भोज्य-भोजक-भाव	भुक्ति (आस्वाद)
अभिनव गुप्त	वेदान्ती	अभिव्यक्तिवाद	व्यंजनावृत्ति द्वारा (भावकत्व और भोजकत्व अनावश्यक) सहृदय सामाजिक में स्थायी भावों के संस्कारों की विभावादि के योग से अभिव्यक्ति जिस प्रकार जल के योग से मिट्टी की अव्यक्त गन्ध व्यक्त हो जाती है।	व्यंग्य-व्यंजक-भाव	अभिव्यक्ति

को अभिनवगुप्त ने पूर्ण किया है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक अपनी रति का आस्वाद लेता है। विभावादि का वर्णन उसे जाग्रत करता है। रस में व्यंजना-व्यापार की प्रधानता बतलाकर अभिनवगुप्त ने कृति और पाठक दोनों को महत्व प्रदान किया है। व्यंग्यार्थ उसके बोधक की अपेक्षा रखता है।

काव्य का रस तो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्बोधित एवं रजोगुण विमुक्त, सतोगुण-प्रधान, आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासनागत स्थायीभाव का आस्वादजन्य आनन्द है। व्यक्तिगत-संस्कार साधारणीकृत होकर टाइप' या सांचे बन जाते हैं। 'टाइप' व्यक्ति और साधारण के बीच की चीज है। इन साँचों से मिलने के कारण अखण्ड चिन्मय आत्मप्रकाश में भी शृंगारादि के भेद दिखाई पड़ते हैं। वह आनन्द फैलता है, चित्त को व्याप्त कर लेता है इसी कारण रस कहलाता है।

साधारणीकरण

काव्य में साधारणीकरण एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है। काव्य के पठन श्रवण वा नाटकादि के दर्शन से जो हमें एक अलौकिक आनन्दानुभव होने लगता है उसका आविर्भाव साधारणीकरण द्वारा होता है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक जिज्ञासा हो सकती है कि साधारणीकरण क्या है, किसका साधारणीकरण होता है, कैसे होता है इत्यादि। इन जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास संस्कृत-हिन्दी-आचार्य अद्यावधि करते आ रहे हैं। नीचे की पक्तियों में हम इस विचार-प्रवाह का क्रमिक विश्लेषण ऐतिहासिक-सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे हैं।

हमारा लौकिक अनुभव क्षणिक एवं देश-काल से आबद्ध होता है। किन्तु हम उससे सन्तुष्ट न रहकर उसे व्यापक और स्थायी बनाना चाहते हैं। और इस उद्देश्य-सिद्धि में काव्य (व्यापक अर्थ) में बड़ा ही उपादेय सिद्ध होता है। उसका आश्रय लेकर हम अपना आत्म-विस्तार देश-काल-पात्र की क्षुद्र-सीमाओं से मुक्त होकर कर पाते हैं और व्यापक आनन्दानुभव में समर्थ हो पाते हैं। स्पष्ट है कि इस आनन्दानुभव के लिए हमें कई बन्धनों के ऊपर उठना पड़ता है। विज्ञान में जिस प्रवृत्ति द्वारा हम 'विशेष से सामान्य' की ओर जाते हैं, उसी प्रवृत्ति के द्वारा काव्य में कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति को व्यापकता प्रदान करता है।

"सुख-दुख के मूल ममत्व-परत्व की आनन्द-व्याघातक भावना को दूर करने के लिए ही साहित्य में 'साधारणीकरण' का विधान होता है।"

'साधारणीकरण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'भुक्तिवाद' के सस्थापक

आचार्य 'भट्टनायक' ने किया। रस-निष्पत्ति का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि काव्य में तीन प्रकार की क्रियायें होती हैं—(1) अभिधाक्रिया, (2) भावकत्व, (3) भोजकत्वक्रिया। इनमें अभिधा क्रिया के द्वारा हम काव्य के शब्दार्थ से परिचित होते हैं एवं भावकत्व क्रिया के द्वारा सहृदय के हृदय-स्थित स्थायीभाव एवं विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। तत्पश्चात् 'भोजकत्व' व्यापार द्वारा साधारणीकृत विभावादि का रस के रूप में 'भोग' होता है। भट्टनायक के पश्चात् आचार्य अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण को और पंजीकृत ढंग से सर्वसमक्ष रखने की चेष्टा की, तदुपरान्त अन्य साहित्य मनीषियों ने अपने-अपने विचारों को व्यक्त किया।

हिन्दी में 'साधारणीकरण' पर विचार करने वालों में वर्तमान आलोचकों में सर्वश्री डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र प्रमुख हैं। डा० श्यामसुन्दर दास ने आचार्य केशव प्रसाद मिश्र का अनुकरण करते हुए 'साधारणीकरण' का विश्लेषण 'योग की मधुमती-भूमिका' के आधार पर किया है। उनके विस्तृत विवेचन का सार इस प्रकार है—"योगी की मधुमती भूमिका में जो आनन्दमयी स्थिति रहती है, वैसी स्थिति में जीवन-यापन की क्षमता प्रतिभाशाली कवियों में स्वभावतः हुआ करती है। काव्य के सहृदय अध्येताओं का कवियों की तादृश अनुभूति से तादात्म्य प्राप्त करना ही 'साधारणीकरण है।

डा० साहब पर आचार्य विश्वनाथ का स्पष्ट प्रभाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण का विश्लेषण करते हुए कहा—

'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही एक सहृदय पाठक या श्रोता के भाव का आलम्बन हो जाती है। तात्पर्य यह कि "आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।"

आचार्य शुक्ल के उक्त आशय का विश्लेषण किया जाय तो निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(1) सहृदय पाठक या श्रोता के भाव का साधारणीकरण होता है।

(2) उसका आश्रय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है।

(3) आलम्बन रूप से प्रतिष्ठित व्यक्ति में समान प्रभाव वाले कतिपय ऐसे धर्मों की प्रतिष्ठा होती है, जिसके कारण वह सहृदय पाठक का आलम्बन बन सके।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने जहाँ प्रथम दो सूत्रों में प्राचीन संस्कृत आचार्यों की एतद्विषयक मान्यताओं का समाहार प्रस्तुत किया है, वहाँ अन्तिम सूत्र में समान प्रभाव वाले कतिपय धर्मों का निर्देश कर कवि-कर्म की सीमाओं एवं साधारणीकरण में परिलक्षित होने वाले 'व्यक्ति-वैचियवाद' की ओर भी संकेत किया है।

डा० नगेन्द्र ने विभावादि को कवि की मानसी-सृष्टि मानते हुए विषयगत महत्व को नगण्य रक्खा है और कवि की अनुभूति का 'साधारणीकरण' माना है। इस वाक्य खण्ड का अर्थ यदि सहृदय पाठक-श्रोता के रत्यादि स्थायी भावों का कवि की अनुभूति रूप में रूपान्तरण है, तब तो मान्य है अन्यथा भ्रामक।

सारांश यह कि देश के सम्बन्ध में व्यापकता और काल के सम्बन्ध में शाश्वतता, हमारी आत्मा की सहज प्रवृत्ति है। साधारणीकरण साहित्य में अपने देश-काल के सीमित ज्ञान को विस्तृत करता हुआ, ममत्व-परत्व की भावना को दूर कर देता है। साधारणीकरण में यही मूल कार्य करता है। कुछ आचार्य विभावों का साधारणीकरण और आश्रय से तादात्म्य की चर्चा करते हैं, इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुख्य हैं। कुछ आचार्य सम्बन्धों की स्वतन्त्रता पर बल देते हैं। कुछ की मान्यता है कि श्रोता या पाठक के हृदय का साधारणीकरण होता रहा है और कुछ आचार्य कवि की आन्तरिक अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों में 'बूचर' आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते हैं। वास्तविकता यह है कि कवि, पाठक, दर्शक, सम्बन्ध एवं भाव सभी का साधारणीकरण होता है।

'साधारणीकरण' से काव्यानुशीलन का अभ्यास बढ़ता है, भाव तादाम्य के ज्ञान की वृद्धि होती है, सात्विक रति का अभ्यास होता है, मनोवेगों का निखार होता है और विस्तृत सत्य की रागात्मक अनुभूति होने लगती है।

औचित्य सम्प्रदाय

'औचित्य' सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य 'क्षेमेन्द्र' माने जाते हैं। जहाँ तक औचित्य का प्रश्न है, नाट्याचार्य भरत से लेकर आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है। यद्यपि भरत एवं भामह ने 'औचित्य' शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं किया, किन्तु इसकी सत्ता स्वीकार की है। सर्वप्रथम दण्डी के 'गुण' शब्द का 'औचित्य' अर्थ लिया है और स्पष्ट रूप में कन्नौज नरेश यशोवर्मन ने अपने 'रामाभ्युदय' नाटक में 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया है। आलंकारिकों में रुद्रट ने

'काव्यालंकार' में औचित्य का प्रयोग किया है और औचित्य तत्त्व का विश्लेषण भी किया है। क्षेमेन्द्र से पूर्व आचार्य आनन्दवर्द्धन ने काव्य के विभिन्न अंगों में 'औचित्य' तत्त्व की व्यापक मीमांसा प्रस्तुत की है।

औचित्य की परिभाषा तथा स्वरूप

'औचित्य' शब्द की व्युत्पत्ति है—

'उचितस्य भाव: औचित्यम्'

अर्थात् उचित के भाव का नाम औचित्य है। औचित्य का तात्पर्य उचित कार्य, उचित व्यवहार या उचित आचरण है। किन्तु काव्य के प्रसंग में इसका अर्थ काव्यांगों की उचित योजना से है। इस प्रकार भाव, रस, भाषा, अलंकार, रीति, गुण, शब्द-शक्ति आदि सभी काव्य तत्वों में उचित सामजस्य का रखना ही औचित्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की यह परिभाषा की है—

उचितं प्राहुराचार्या: सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भाव: तदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात् जो वस्तु जिसके सदृश हो, उसको उचित कहते हैं, और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहा जाता है। जिस प्रकार शरीर में सौन्दर्य का सर्वोपरि महत्व है, आन्तरिक और वाह्य, दोनों दृष्टियों से जो व्यक्ति सुन्दर होता है उसी का सौन्दर्य पूर्ण-प्रतिष्ठा का विषय होता है। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी भाव-पक्ष और कला-पक्ष का समुचित सौन्दर्य अपेक्षित होता है, तभी उसमें वास्तविक सौन्दर्य आ पाता है। यदि किसी का एक हाथ बड़ा और एक छोटा है तो वह उसके सौन्दर्य में बाधक होगा। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी यदि कलापक्ष प्रबल है और भावपक्ष दुर्बल है, तो काव्य में वास्तविक सौन्दर्य नहीं आ सकता। अत: दोनों में उचित सामजस्य अपेक्षित होता है। उचित ढंग, उचित स्थान पर विन्यस्त वस्तु ही सौन्दर्य-जनक होती है। औचित्य से दूर गुण भी अवगुण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ हार की शोभा गले में ही होती है, पैर में नहीं। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी रस, अलंकार आदि का औचित्य पूर्ण विधान सौन्दर्योत्पादक होता है। उदाहरणार्थ श्रृंगार रस के साथ माधुर्य गुण ही अनुकूल होगा 'ओज गुण' नहीं।

इस प्रकार 'औचित्य' वह विवेक बुद्धि है, जो सत् और असत् में विवेक की प्रक्रिया को पुष्ट करती है। क्षेमेन्द्र ने काव्य के क्षेत्र में अनेक प्रकार के औचित्यों का विस्तृत उल्लेख किया है। जिसके अन्तर्गत प्रबन्ध-औचित्य, प्रकरण-औचित्य, पद-औचित्य, प्रत्यय-औचित्य आदि आते हैं। इस प्रकार क्षेमेन्द्र का यह सिद्धान्त व्यवस्थापक है। उद्भावक नहीं। जिस औचित्य को आनन्द-

वर्द्धन ने विवेचना का विषय बनाया, अभिनवगुप्त ने जिसकी व्याख्या की, क्षेमेन्द्र ने उसी को एक स्वतन्त्र 'काव्य-सिद्धान्त' घोषित कर दिया । क्षेमेन्द्र के पश्चात् मम्मट आदि आचार्यों ने औचित्य को दोषाभाव के रूप में मान्यता दी और इसकी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त कर दी । हिन्दी आचार्यों ने तो इस सिद्धान्त की ओर ध्यान भी नहीं दिया । वास्तव में औचित्य के इस नकारात्मक रूप की अपेक्षा उसके स्वीकारात्मक रूप की आवश्यकता है ।

अन्ततः काव्य सम्बन्धी षट् सम्प्रदायों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय का सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक पक्ष से है, इन सबका प्रतिनिधित्व 'रस सिद्धान्त' करता है । इसी प्रकार अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति एवं रीति-सम्प्रदाय का सम्बन्ध काव्य के वाह्य-पक्ष से है, जिसका प्रतिनिधित्व 'अलंकार-सम्प्रदाय' करता है । इस प्रकार अलंकार-सम्प्रदाय और रस सम्प्रदाय की पारस्परिक तुलना में 'रस सम्प्रदाय' की श्रेष्ठता स्वतः सिद्ध हो जाती है; क्योंकि रस को काव्यात्मा मानने में आचार्यों के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान भी सहायक सिद्ध हुआ है, और अलंकार शैली पक्ष से सम्बद्ध है । जो रस के सहायक शोभा-सम्वर्द्धक मात्र माने जा सकते हैं । जैसे बिना शरीर के केवल आत्मा दर्शन का विषय बन जाती है और बिना आत्मा के शरीर शव बन जाता है, ठीक इसी प्रकार बिना रस के अलंकार निष्प्राण माने जाते हैं । और बिना अलंकारों के रस की सौन्दर्यात्मक अनुभूति नहीं हो पाती । इस प्रकार दोनों पक्षों में समन्वय की आवश्यकता है । सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को 'काव्य' माना है । इस परिभाषा में रस की प्रधानता तो स्पष्ट है ही किन्तु "वाक्य" शब्द के द्वारा काव्य के कला-पक्ष का भी सौन्दर्यात्मक रूप अपेक्षित प्रतीत होता है ।

□

काव्य की परिभाषा

काव्य 'वाङ्मय' का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के बिना प्राणी समस्त अवयवों और रूपाकार के होते हुए भी निर्जीव और कान्तिहीन होता है, उसी प्रकार काव्य से विरहित वाङ्मय सर्वथा निष्प्रभ और लावण्यहीन होता है, श्रीमद्‌भागवत् में ब्रह्मा जी की वन्दना 'आदि कवि' के अभिधान से मिलती है। साहित्य में 'कवि' शब्द प्रतिभाशाली, वर्णन-निपुण और रचनाकार के अर्थ में मिलता है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों में उसका इसी अर्थ में प्रयोग पाया जाता है।

काव्य शब्द 'कवि' शब्द से ही व्युत्पन्न हुआ है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' टीका में 'कवनीयं काव्यम्' लिखकर काव्य की व्याख्या की है। विद्याकार ने अपनी एकावली टीका में—

'कवयति इति कविः तस्य कर्म काव्यम्' लिखकर काव्य की व्याख्या की है।

काव्य और साहित्य

वैसे तो संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य प्रयोग साहित्य के पर्याय के रूप में किया गया है। किन्तु दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं साहित्य काव्य की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ-वाचक है। इसे हम 'वाङ्मय' का पर्यायवाची कह सकते हैं। 'साहित्य' शब्द की सर्वप्रसिद्ध व्युत्पत्ति है "सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्"—

अर्थात् शब्द और अर्थ के सार्थक समन्वय-विधान को साहित्य कहते हैं। अर्थात् साहित्य उस रचना को कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ की परस्पर स्पर्धामय मनोहारिणी स्थिति रहती है। उपर्युक्त परिभाषा के भाव को हम सरलतम शब्दों में रखना चाहेंगे कि—'साहित्य' शब्द और अर्थ का सुषमामय समन्वित स्वरूप होता है। उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि साहित्य की परिधि अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है।

काव्य शब्द का प्रयोग साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित, संकुचित और पारिभाषिक अर्थ में मिलता है। भारतवर्ष में काव्य या साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना होती रही है। संस्कृत-साहित्याचार्यों की परिभाषाओं पर यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जावेगा कि

उन्होंने काव्य पर दो दृष्टियों से विचार किया–एक काव्य के शरीर की दृष्टि से, दूसरे काव्य की आत्मा (प्राण) की दृष्टि से। काव्य के शरीर से सम्बन्धित मत दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं–एक शब्दनिष्ठ-सम्बन्धी और दूसरा शब्द और अर्थ उभयनिष्ठ सम्बन्धी। शब्दनिष्ठ वालों का कहना है–

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"

इस मीमांसा-सूत्र से शब्द और अर्थ का अस्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतएव काव्य को शब्दनिष्ठ कहने से उसकी अर्थनिष्ठता स्वयं प्रकट हो जाती है। शब्दार्थवादी काव्य में शब्द और अर्थ को व्यासज्यवृत्ति से सम्बन्धित मानते हैं।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में प्राचीन साहित्याचार्यों में बड़ा मत-भेद रहा है। कुछ रस को कुछ, अलंकारों को, कुछ औचित्य को, कुछ रीति को, कुछ वक्रोक्ति को और कुछ ध्वनि को काव्यात्मा मानते हैं। इस प्रकार काव्य के प्राण को लेकर संस्कृत में विभिन्न सम्प्रदाय बन गये।

1. रस सम्प्रदाय 2. अलंकार सम्प्रदाय 3. ध्वनि सम्प्रदाय 4. रीति सम्प्रदाय 5. औचित्य सम्प्रदाय 6 वक्रोति सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों का प्रभाव काव्य परिभाषाओं पर भी पड़ा। अतः संस्कृत आचार्यों की विभिन्न काव्य परिभाषायें प्रस्तुत की जा रही हैं–

संस्कृत के विद्वानों द्वारा की गई काव्य की परिभाषायें

1. अग्नि पुराण–

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कार गुणवद् दोषवर्जितम् ॥1॥

अर्थात् जिस रचना में अभिलपित अर्थ को व्यक्त करने वाले संक्षिप्त वाक्य हों, पदावली उनसे युक्त हो, अलंकार स्पष्ट हों, गुण हों और दोष न हों उसे काव्य कहते हैं।

इस परिभाषा में काव्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष स्पष्ट हैं, किन्तु रस स्पष्ट नहीं है।

2. **भामह**–अलंकारवादी आचार्य भामह की परिभाषा इस प्रकार है–'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का साहचर्य काव्य है। यह परिभाषा व्याख्या की अपेक्षा करती है, अस्पष्ट एवं अपूर्ण मानी जाती है।

3. **दण्डी**–'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवछिन्ना पदावली'

अर्थात् अभिलषित अर्थयुक्त पदावली को काव्यशरीर कहते हैं। इस

परिभाषा में भी काव्य की आत्मा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। केवल शरीर ही तो सर्वस्व नहीं है ?

4. **वामन**–'रीतिरात्मा काव्यस्य'

अर्थात् रीति काव्य की आत्मा है। आलोचना की दृष्टि से रीति का सम्बन्ध शैली तक से है और शैली काव्य की आत्मा नहीं है, अतः यह परिभाषा भी त्याज्य है।

5. **मम्मट**–"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुनः क्वापि।"

अर्थात् मुख्य दोषरहित, सगुण शब्दार्थ काव्य है, यदि कहीं अलंकार न भी हों तब भी काव्यत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस परिभाषा में 'रस' का स्पष्ट नाम तो नहीं आया, किन्तु उक्त सभी तत्त्व गौण हैं, अतः रस की प्रधानता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

6. **विश्वनाथ**–'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (सा० दर्पण)

अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य है। यह परिभाषा पूर्ण तो है, किन्तु इसमें 'रस शब्द स्वव्याख्या की अपेक्षा रखता है।

7. **जयदेव**–निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकार रसानेकं वृत्ति वाक् काव्यनामभाक्॥

अर्थात् काव्य वह रचना है, जिसमें दोष न हों, लक्षणों से पूर्ण हो, रीति, गुण, अलंकार रस तथा अनेक वृत्तियाँ भी हों। इस परिभाषा में जयदेव ने काव्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों का समन्वय किया है, अतः यह परिभाषा स्पष्टता के निकट है।

8. **पंडितराज जगन्नाथ**–'रमणीयार्थं प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'
(रस गंगाधर)

अर्थात् रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। यह परिभाषा अधिक सगत है, क्योंकि इसमें 'रमणीय' शब्द अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण है।

9. **आनन्दवर्द्धन**–"काव्यस्यात्मा ध्वनिः।" (ध्वन्यालोक)

अर्थात् 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है विचारणीय है कि क्या ध्वनि-विहीन रचना काव्य नहीं कहला सकता।

10. **कुन्तक**–शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनौ।
बन्धे व्यवसितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणौ॥

अर्थात् वक्रकवि व्यापार युक्त शब्दार्थ काव्य है, जो बन्धनयुक्त हो। यहाँ पर 'वक्र कवि व्यापार' व्याख्या की अपेक्षा करता है, अतः यह परिभाषा भी अस्पष्ट है।

संक्षेप में संस्कृत आचार्यों की परिभाषाओं में पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा अधिक मान्य है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का प्रभाव हिन्दी काव्याचार्यों पर भी पड़ा है।

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों द्वारा की गई परिभाषायें

परिभाषा

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों के काव्य की परिभाषा देते समय प्राय: संस्कृत आचार्यों की परिभाषाओं का छायानुवाद-साकार दिया है। मम्मट की परिभाषा की पुनरुद्धरणी चिन्तामणि ने की है।

दो०—सगुन अलंकारन सहित दोषरहित जो होई।
शब्द अर्थ वारो कवित्त है, विबुध कहत सब कोई।।

रीतियुग के प्रसिद्ध आचार्यों की काव्य परिभाषा इस प्रकार है—

जग ते अद्भुत सुख-सदन, शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने किया समझ ग्रेय बहुवित्त।। ——कुलपति मिश्र

सबद जीव तिहि अरथ मन रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति अलकार गम्भीर।। —देव

शब्द अर्थ बिन दोष गुन, अलंकार रस वान।
ताको काव्य बखानिए श्रीपति परम सुजान।। —श्रीपति

इस प्रकार रीतिकालीन विद्वानों ने शब्द और अर्थ पर अधिक बल प्रदान करने के साथ-साथ रस अलंकार तथा गति को भी ध्यान में रक्खा है।

आधुनिक विद्वानों द्वारा की गई परिभाषाएँ

आधुनिक युग के हिन्दी विद्वानों द्वारा दी गई काव्य-परिभाषाओं पर अंग्रेजी और संस्कृत दोनों में पाई जाने वाली परिभाषाओं की छाया दिखाई पड़ती है। आधुनिक आचार्यों में महावीर प्रसाद द्विवेदी अग्रगण्य हैं। उन्होंने 'काव्य और कविता' शीर्षक में लिखा है—

'जब मनोभाव शब्द का रूप धारण कर लेते हैं, तब वही कविता कहलाने लगते हैं; चाहे वह पद्यात्मक हों या गद्यात्मक।'

महावीर प्रसाद द्विवेदी की इस परिभाषा में कुछ शब्द मिल्टन की काव्य-परिभाषा से लिए जान पड़ते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक में इस प्रकार लिखा है—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता

कहते हैं।"

इस प्रकार शुक्ल जी ने रसतत्व को प्रमुखता प्रदान की है।

जयशंकर प्रसाद काव्य को आत्मा की मूल 'संकलपात्मक अनुभूति' मानते हैं। उन्होंने कहा–

'आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रम सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेती है, काव्य में मूल संकलपात्मक अनुभूति कही जायेगी, कदाचित् प्रसाद और भवभूति दोनों ही "वृहदारण्यकोपनिषद्' से प्रभावित न रहे हों, पर उपनिषदों के प्रकाण्ड तो थे ही।

महादेवी वर्मा ने एक स्थल पर लिखा–"कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं।" इसमें साधारणीकरण की प्रक्रिया को लक्ष्य बनाया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी विद्वानों में प्रधान रूप के दो वर्ग दिखाई पड़ते हैं-एक तो वह जिस पर पाश्चात्य काव्य स्वरूप-निरूपण का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है दूसरे वह जो भारतीय काव्य सम्बन्धी मत का अनुयायी है। प्रथम वर्ग के प्रतिनिधि महावीरप्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं तथा प्रसाद और शुक्ल द्वितीय वर्ग के प्रतिनिधि माने जाते हैं। अतः काव्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-तत्वों का अध्ययन करना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन कर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं--1–हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों की उक्तियों का निष्प्राण पिष्टपेषण किया है। उनके मौलिक चिन्तनों का स्फुलिंग कहीं नहीं दिखाई पड़ता।

2–आधुनिक विद्वानों ने यद्यपि अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को प्रतिध्वनित करने का प्रयास किया है, परन्तु फिर भी मौलिक चिन्तन का उन्मेष दिखाई पड़ता है।

पाश्चात्य सम्बन्धी काव्यशास्त्र की प्रमुख विशेषताएँ

पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। वे अन्य कलाओं के सदृश कविता को भी अनुकृति मानते हैं। एरिस्टाटिल ने उसे छन्दोबद्ध अनुकृति कहकर परिभाषाबद्ध किया है। होरेस ने 'आर्ट आफ पोयट्री' नामक रचना में कवि-कर्म को चित्रकार के कार्य सदृश कहा। शेक्सपीयर ने कविता को कल्पना की दुहिता व्यंजित कहा है। वर्ड्सवर्थ ने काव्य में कल्पना के स्थान पर 'भावना' को महत्व दिया है।

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquility."

अर्थात् कविता उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक है। इसकी उत्पत्ति शांति में संचित अनुभूतियां से होती है। मिल्टन ने काव्य में राग और वासनात्मक प्रवेश को महत्व दिया है। वह उसकी प्रसादात्मकता और सरलता में भी विश्वास करता है–

"Poetry should be simple, sensuous and passionate."

कालरिज के शब्दों में–

Poetry is the best words is the best order. अर्थात कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान है।

Shelly (शेली)–"Our sweetest songs are those that tell of the saddest tale." (हमारे करुणतम अनुभव ही मधुरतम गीत हैं।)

Dryden (ड्रेडन)–Poetry is articulate music. (कविता कलात्मक संगीत है।)

Carlyle (कार्लायल)–Poetry we will can musical thought. (कविता को हम संगीतात्मक विचार कहते हैं।)

Mathew Arnold (मैथ्यू आर्नाल्ड)–Poetry is at bottom a criticism of life. (कविता अन्तत: जीवन की आलोचना है।)

हडसन ने काव्य में जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोवेग तीनों का समन्वय किया है। "Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion." (अर्थात कविता कल्पना और भाव के माध्यम से जीवन की व्याख्या है।)

डॉ० जानसन ने भी कहा–कविता सत्य और आनन्द के मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।

"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason."

बैले (Bailay) नामक विद्वान ने कविता को महान सत्य की अभिव्यक्ति कहा है।

मिल ने काव्य की भावना को ही प्रधान माना है। प्रो० विलसन ने बुद्धि और भावना का मिश्रण किया है।

"Poetry is the intellect coloured by feelings."

हैजलिट् ने काव्य को कल्पना की भाषा कहा है।

पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त मतों का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय, तो हम देखेंगे कि उनमें कई सम्प्रदाय हैं । संक्षेप में उन्हें हम इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं–

(कल्पनावादी)–1–काव्य में कल्पना की प्रधानता-कल्पनावादी ।
(भाववादी)–2–काव्य में भाव, राग और सौन्दर्य-भाववादी ।
(सत्यवादी) -3–काव्य में सत्य और जीवन व्याख्या-सत्यवादी ।
(कलावादी)–4–काव्य में कला एवं चित्रविधायिनी शक्ति-कलावादी ।

इन वर्गों में भी हमें दो प्रकार के वर्ग दिखाई पड़ते हैं–एक तो वे जो कविता को जीवन से अलग करके देखना चाहते हैं दूसरे वे कविता को जीवन की ही अभिव्यक्ति या आलोचना मानते हैं । प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ वर्ग तो कलावादी वर्ग के अन्तर्गत रक्खे जाते हैं और तृतीय वर्ग जीवन से सम्बद्ध वर्ग माना जाता है ।

संक्षेप में पाश्चात्य विद्वानों में से किसी ने कल्पना तत्त्व को महत्व दिया है, किसी ने भावतत्त्व को, किसी ने बुद्धितत्त्व को और किसी ने शैलीतत्त्व को । वास्तव में सुन्दर काव्य वही होगा जिसमें चारों का सुन्दर सामञ्जस्य विधान होगा ।

इस प्रकार काव्य सम्बन्धी परिभाषाओं पर विचार करने पर पता चलता है कि दोनों प्रकार के विद्वानों के मतों में कितनी विभिन्नता है । पाश्चात्य विद्वानों ने कला को प्रमुखता प्रदान की है । भारतीय विद्वानों ने उसके गम्भीर रूप को वरीयता प्रदान की है । अन्त में हम 'गुलाबराय' की समन्वित परिभाषा प्रस्तुत कर रहे हैं–

समन्वित परिभाषा

काव्य साहित्य का समानार्थी है । साहित्य जीवन और जगत के गत्यात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी झाँकी है, जिसके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है । वास्तव में साहित्य भी ज्ञान के सदृश एक अखण्ड सत्ता है, जिसकी अभिव्यक्ति खण्डों में हो पाती है; इन्हीं खण्डों को विविध अभिधान दे दिए गए हैं, जो कभी काव्य तथा कभी शास्त्र के नाम से प्रसिद्धि पाते हैं ।

काव्य-परिभाषाओं का विश्लेषणात्मक वर्णन

परिभाषाएँ	स्थूल माध्यम	आधारभूत तत्व	लक्ष्य
1. शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है। (भामह)	शब्द और अर्थ	+	+
2. इष्ट अर्थ से विभूषित पद समूह ही काव्य शरीर है। (दण्डी)	पद समूह	इष्ट अर्थ	+
3. काव्य शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है। (वामन)	शब्द और अर्थ	गुण तथा अलंकार	+
4. गुण और अलंकारों से युक्त वाक्य ही काव्य है। (राजशेखर)	वाक्य	गुण तथा अलंकार	+
5. शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास साहित्य है जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने संतुलित हों कि न तो कोई न्यून हों और न कोई अधिक।	शब्द और अर्थ	मनोहर	+
6. वह शब्द और अर्थ जो दोष से रहित हों, गुण से मंडित हों, भले ही कहीं अलंकार से शून्य हों, काव्य है। (मम्मट)	शब्द और अर्थ	दोष रहित गुण मंडित	+

काव्य-परिभाषाओं का विश्लेषणात्मक परिचय

परिभाषाएँ	स्थूल माध्यम	आधारभूत माध्यम तत्व	लक्ष्य
1. 'भाषा के माध्यम से हो नेवाली अनुकृति काव्य है।' (अरस्तू)	भाषा	अनुकृति	+
2. काव्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा देना और आनन्द देना है। (सिडनी)	+	अनुकरणात्मक	शिक्षा आनन्द
3. काव्य भावात्मक एवं विस्तृत भाषण के द्वारा प्रकृति की अनुकृति है। जे० डेनिस	भाषण	भावात्मक अनुकृति	+
4. काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना न होकर प्रसन्नता प्रदान करना है। (कालरिज)	रचना	+	प्रसन्नता प्रदान करना
5. काव्य कल्पना और भावों की भाषा है। हेजलिट	भाषा	कल्पना और भाव	+
6. काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम् हृदयों के श्रेष्ठतम् क्षणों का लेखा-जोखा है। (शैली)	लेखा-जोखा	सुखीहृदय	+

काव्य के तत्व

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य विद्वानों के मतों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर कल्पनावादी, भाववादी, सत्यवादी एवं चित्रविधायिनी शक्ति को महत्व देने वाले कवि समक्ष आते हैं। पाश्चात्य विद्वानों में से किसी ने कल्पना-तत्व को महत्व दिया, किसी ने भावतत्व को, किसी ने बुद्धितत्व को और किसी ने शैलीतत्व को। वास्तव में सुन्दर काव्य वही होगा जिसमें चारों का सुन्दर सामञ्जस्य-विधान होगा। पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के चार तत्व ही माने जाते हैं—

1. बुद्धि तत्व। 2. भाव तत्व। 3. कल्पना तत्व। 4. कला या शैली तत्व।

बुद्धितत्व

काव्य बुद्धि तत्व और हृदय तत्व की समन्वयात्मक सृष्टि है, अत: काव्य के यही मूलाधार हैं। भाव यदि काव्य के ललित कलेवर का विधान करते हैं तो बुद्धितत्व अस्थिपिंजर के सदृश उस कलेवर को अवलम्ब देता है। इसके अभाव में काव्य का कलेवर खड़ा ही नहीं हो सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य में दोनों की आवश्यकता है। दोनों में भावतत्व की प्रधानता रहती है। बुद्धि तत्व का गौण स्थान होता है। बुद्धि तत्व के अभाव में काव्य का कोई-न-कोई रूप अवश्य सम्भव है, वह चाहे अस्थिहीन मांस के शिथिल खण्ड के सदृश ही क्यों न हो। किन्तु केवल बुद्धि तत्व कभी काव्य का विधान नहीं कर सकता। वह तो शुष्क, नीरस और भयावह अस्थि-पिंजर के सदृश ही प्रतीत होगा। काव्य-क्षेत्र में बुद्धि तत्व अपना कार्य निम्न रूपों में करता है।

1. भावों की आधारभूमि के रूप में।
2. भावों को स्पष्टतर करने के लिए।
3. लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में।
4. भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में।
5. भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

भावों की आधारभूमि के रूप में

भावनाओं का उदय और विकास विचारों के आधार पर ही होता है। जीवन में विविधरूपिणी जटिल परिस्थितियाँ आती हैं। ये परिस्थितियाँ विविध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं और धीरे-धीरे विचारों का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य की परवर्ती अनुभूतियाँ और भाव-धाराएँ इन्हीं विचारात्मक प्रतिक्रियाओं पर अवलम्बित रहती हैं। कवि अपने काव्य का सृजन

भी इन्हीं विचार या बुद्धि प्रेरित भावानुभूतियों के सहारे करते हैं। अतः विचार भावों की आधारभूमि कहे जा सकते हैं। क्रोचे आदि कई विद्वानों ने कहा कि कवि कलाकार होता है। वह कल्पना को प्रमुख स्थान देता है। वास्तव में विचारात्मक निर्णय के पश्चात उनके अनुरूप ही भावना का उदय होता है। विचार, भावना के मिश्रण से काव्योचित रूप धारण कर सरस हो जाते हैं, साथ ही भावना को संयत और क्रमबद्ध रूप प्रदान करते हैं।

भावों को स्पष्टतर करने के लिए

काव्य-क्षेत्र में बुद्धि का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य भावना को एक निश्चित और स्पष्ट रूप प्रदान करना है। कवियों में एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसके माध्यम से वे अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। विचार शक्ति के सहारे उच्चकोटि के कवियों की अभिव्यञ्जना इतनी प्रभावाभिव्यञ्जक हो जाती है कि सहृदय पाठक उनकी अनुभूतियों का स्पष्ट चित्र-सा अनुभव करने लगते हैं। कवि की अभिव्यक्ति को सौन्दर्यशाली और प्रभावात्मक रूप विचार-शक्ति देती है।

लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप-निर्माण के रूप में

प्रत्येक लेखक अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उसकी प्रत्येक रचना में दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया अवश्य मिलती है। वह अपने दृष्टिकोण को विचारात्मक रुचि के अनुसार ही स्थिर करता है। उदाहरणार्थ प्रसाद-काव्य में उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यक्त होता है, अतः सत असत् काव्यों की रचना भी बहुत कुछ विचारों पर आश्रित है। जिसके जैसे विचार होते हैं उसमें वैसी भावनाएँ उदित होती हैं, जो साहित्य में ज्यों-की-त्यों प्रतिष्ठित हो जाती हैं। गीतकाव्य तो व्यक्तिगत भावनाओं की मार्मिक व्यञ्जना के लिए प्रसिद्ध ही है। ये व्यक्तिगत भावनाएँ बुद्धिज व्यापार का ही परिणाम होती हैं।

भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में

काव्य के अन्तर्गत भावनाओं में व्यवस्था स्थापित करने का कार्य भी बुद्धि-व्यापार द्वारा ही होता है। साहित्य के भावों का श्रृंखलाबद्ध होना अनिवार्य है। अन्यथा रचना में प्रवाह लाना असम्भव हो जाएगा, लेखक के हृदय में उत्पन्न भावनाएँ अव्यवस्थित होती हैं। भावनाओं का तीव्र आवेग उन्हें असंगत बना देता है। बुद्धि ही भावों की इस अव्यवस्था में व्यवस्था उत्पन्न करती है। अतः कवि बुद्धितत्व की अवहेलना नहीं कर सकता। बिना व्यवस्था के भाव सफल काव्य का निर्माण नहीं कर सकते।

भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में

काव्य में चमत्कार की योजना उसके वाह्याकार को मनोरम रूप

प्रदान करने के लिए की जाती है। कवि की चमत्कार-रहित कविता में काव्यत्त्व नहीं होता है। भाव को चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त करने का कार्य बुद्धि करती है। काव्य का कलापक्ष बहुत कुछ बुद्धि या विचार शक्ति पर ही आश्रित है। चमत्कार का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नहीं, बल्कि भाव से भी प्रकट होता है। भाषागत चमत्कार काव्य के वाह्यरूप को अलंकृत करता है, किन्तु भावगत चमत्कार भावों को सहज एवं मधुर रूप प्रदान करता है। दोनों प्रकार के चमत्कार बुद्धि-प्रेरित होते हैं। चमत्कार के अन्त-र्गत शैली की समस्या प्रमुख रूप से सामने आती है। इसीलिए पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में बुद्धि-तत्व से भिन्न शैली को एक स्वतन्त्र तत्व ही मान लिया गया है।

भावतत्त्व

काव्य के विधायक तत्वों में भावतत्व का सर्वप्रथम स्थान है। मनो-वेग जिन्हें साधारणतः 'भाव' ही कहा जाता है, काव्य के भाव-पक्ष के प्राण हैं। काव्य के कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और शैली तत्व ये तीनों तत्व भाव तत्व पर आश्रित हैं।

परिभाषा

भाव के स्वरूप को स्पष्ट कर उसे परिभाषाबद्ध करने का प्रयास अनेक आचार्यों ने किया। भावों का उदय अनुभूति से होता है। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–

"नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेक रूपता के अनुसार अनुभूति के जो भिन्न-भिन्न योग संगठित होते हैं, वे भाव या मनोविकार कहलाते हैं।"

बाबू गुलाबराय–"साहित्य के 'भाव' मनोविज्ञान के भावों से भिन्न होते हैं। भाव मन के उस विकार को कहते हैं, जिसमें सुख-दुखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रही है।" मनोविकारों के शाब्दिक, मानसिक या शारीरिक किसी भी क्रिया द्वारा प्रकट हो जाने पर ही भाव की संज्ञा दी जाती है।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है–भाव हमारे हृदय के वे उद्बुद्ध मनोविकार होते हैं, जो जीवन और जगत के सम्पर्क से उत्पन्न होकर हमारे हृदय में प्रसुप्तावस्था में घनीभूत होते रहते हैं।

भाव के पक्ष एवं भेद

पक्ष--भावना का सम्बन्ध मन से होता है, मन अन्तरात्मा की कार्य-कारिणी शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा परिचालित मनोविकार भावरूप में

परिणित होते हैं। प्रधान रूप से भाव के सुख और दुःख, दो महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं। इन दोनों के मध्य समभावों का परिचालन होता है।

भेद–भावों का सम्बन्ध मन की इच्छाओं से होता है। इच्छाएँ अनंत होती हैं, इन्हीं के अनुसार भाव भी अनन्त होते हैं। स्थूल रूप से भावों के तीन मुख्य भाग किए जा सकते हैं–

1. इन्द्रियजनित भाव। 2. प्रज्ञात्मक भाव। 3. गुणात्मक भाव।

इन्द्रियजनित भाव–इन्द्रियजनित भावों का सम्बन्ध स्थूल शरीर से होता है। शरीर के माध्यम से ही अन्तरात्मा सर्वप्रथम अपनी क्रिया प्रारम्भ करती है। वाह्य पदार्थों की अनुभूति भी सबसे पहले इन्द्रियों द्वारा होती है। इन अनुभूतियों से उत्पन्न भावों को ही इन्द्रियजनित भाव कहते हैं। इन भावों को ही 'सामान्य-भाव' भी कहते हैं।

प्रज्ञात्मक भाव-प्रज्ञात्मक भाव वे हैं, जो मन को अनुभव प्राप्त करने वाली शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। इन्द्रियजनित भाव मनः व्यापार-शक्ति की प्रथम क्रिया का सद्यः प्राप्त प्रतिफल है, किन्तु प्रज्ञात्मक भाव उस क्रिया प्रतिक्रिया से पुष्ट ज्ञान का परिणाम है। दोनों प्रकार के भावों में यही अन्तर है। इन्द्रियजनित-भाव सीधे इन्द्रिय ज्ञान से प्राप्त होते हैं और प्रज्ञात्मक भाव भूत, भविष्य और वर्तमान के अनुभवों द्वारा उन इन्द्रियजनित भावों को पुष्टत्तर करते हैं। प्रज्ञात्मक भावों का सम्बन्ध भूत, भविष्य, वर्तमान से अधिक है। भविष्य को सोचकर चिन्ता का, भूत को सोचकर विषाद का भाव उत्पन्न होता है। साधारणतया काव्य में यही भाव संचारी भाव कहलाते हैं और कभी-कभी स्थायीभाव का भी रूप धारण कर लेते हैं।

गुणात्मक भाव–तीसरे प्रकार के भाव गुणात्मक भाव कहलाते हैं। इन भावों का सम्बन्ध मनोमुग्धकारी सौन्दर्य-बोध से होता है। किसी वस्तु के या व्यक्ति के विषय में जानने की प्रवृत्ति मन में होती है। इस इच्छा को पूर्ण करने वाली वृत्ति 'प्रज्ञात्मक भाव' कहलाती है, किन्तु जब हम किसी सुन्दर वस्तु या गुणवान व्यक्ति को देखते हैं, तो उसके प्रति मन में एक आदर्श की भावना उदित होती है। हम उसकी प्राप्ति करने या उसके अनुकूल होने की इच्छा करते हैं। इस भाव को 'सौन्दर्य-विवेकी-भाव' कहते हैं, जिसका गुणात्मक भावों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन भावों को उद्दीप्त भावों की भी संज्ञा दी जाती है।

भावानुभूति और रस

काव्य का लक्ष्य 'रस परिपाक' होना होता है। 'रस परिपाक' में भाव महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भरत मुनि ने लिखा है–

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जित:' अर्थात् भावहीन रस नहीं होता और रसहीन भाव नहीं होता। रस की निष्पत्ति भावों के विविध स्वरूपों के सम्मिश्रण से होती है। "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगा-द्रसनिष्पत्ति.।" भरत मुनि के इस सूत्र में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि शब्द भाव के ही विविध रूपान्तर हैं। भाव ही रस से पुष्ट होकर विभाव, अनुभाव आदि का रूप धारण करते हैं। इन्हीं के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय-सम्वादी गुण का विकास होता है। आलोचकों ने हृदय सम्वाद और साधारणीकरण को पर्यायवाची माना है। इस प्रकार भाव और रस परस्पर सम्बन्धित तत्त्व हैं। आनन्द या रस हृदयपक्ष या भावपक्ष का मूल है। जिस काव्य में यह मूल वर्तमान रहता है, वही श्रेष्ठ काव्य होता है। अत: हृदयपक्ष या भावपक्ष की प्रधानता कविता में रहती है।

कल्पना-तत्व

पाश्चात्य काव्य जगत में कल्पना का विशेष महत्व है। काव्य के आवश्यक तत्वों में कल्पना को सर्वप्रथम तत्व माना गया है। शेक्सपियर ने लिखा है–

The lunatic, the lover and poet are of imagination all compact.

अर्थात् उन्मत्त, प्रेमी और कवि इन तीनों का कल्पना से अविरल सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि शेक्सपियर ने काव्य में कल्पना को प्रधान तत्व माना है। कल्पना पर प्रमुख रूप से तीनों क्षेत्रों में विचार हुआ है–

दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र और साहित्य-शास्त्र अत: विद्वानों ने इन्हीं तीनों क्षेत्रों के आधार पर कल्पना के स्वरूप को समझाने की कोशिश की है।

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक वर्ग

इस वर्ग के अन्तर्गत् पाश्चात्य दार्शनिक 'काण्ट' तथा अन्य मनो-वैज्ञानिक आते हैं। हिन्दी विद्वान् डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा गुलाबराय जी भी इसी वर्ग में आते हैं।

साहित्यिक दृष्टिकोण

इस क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वान् कॉलरिज और भारतीय विद्वान पं० शुक्ल आते हैं।

सामञ्जस्यवादी वर्ग

'क्रोचे' सामञ्जस्यवादी था। उसने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से

साहित्य की विवेचना की। उसका मत था कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से कवि है और कवि होने के बाद दार्शनिक होता है। कल्पना मन के सहज-स्वाभाविक ज्ञान की प्रक्रिया है। इसी के सहारे अभिव्यञ्जना के साँचे में ढलकर साहित्य और काव्य में मूर्तियाँ निर्मित होती हैं।

कल्पना के सम्बन्ध में सर्वमान्य मत

1. सभी विद्वानों ने 'मूर्त्त-विधान' करना कल्पना का आवश्यक व्यापार माना है। किन्तु यह मूर्त्त-विधान व्यावहारिक और साहित्यिक दो प्रकार का हो सकता है। कल्पना को शुद्ध साहित्यिक स्वरूप तथा उसको संकल्पित मानने वाले विद्वान् आदर्शवादी कहे जा सकते हैं तथा कल्पना के व्यावहारिक पक्ष में विश्वास करने वाले यथार्थवादी कहे जा सकते हैं।

2. सभी विद्वानों ने कल्पना को ग्राहक और विधायक दोनों माना है।

साधारणतया किसी कवि की कल्पना-शक्ति का विवेचन करते समय हमें कल्पना-शक्ति के निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक पक्षों का विश्लेषण करना चाहिए–

1. कल्पना व्यापार के विधि स्तरों की व्यवस्था। 2. स्मरण शक्ति, 3. कवि की सम्बन्ध भावना, 4. कल्पना में भावों की प्रक्रिया, 5. अन्त में उस कवि की कल्पना के महत्व पर प्रकाश डालने की क्षमता।

कल्पना तत्व और रस तत्व

कल्पना का इतना विवेचन करने के पश्चात् हम रस तत्व से उसका जो सम्बन्ध है, उस पर विचार करना आवश्यक मानते हैं। भाव, रस के बिना नहीं स्थिर रह सकता और रस भाव के बिना नहीं स्थिर रह सकता। रस सूत्र में रस का स्वरूप-निरूपण करते हुए रस के अंग के रूप में विविध प्रकार के भाव ही लाए गए हैं। 'प्रतिभा' इन भावों को उत्पन्न करती है। ये भाव ही अन्तर्वृत्ति को परिचालित कर रूप विधान करते हैं। अतएव रूप विधानों में रमणीयता और रसात्मकता का होना अनिवार्य होता है। सच तो यह है कि कल्पना-विधि-विनिर्मित कोई भी चित्र नीरस नहीं हो सकता। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने तो इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'कल्पना ही आनन्द' तक कह डाला है। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य 'कल्पना' तत्व का हमारे रस तत्व से कोई विरोध नहीं है। सच्ची-कल्पना की पहचान यही है कि उसमें रसात्मकता की पूरी प्रतिष्ठा हो। रसात्मकता के अभाव में कल्पना न कहलाकर बुद्धि का व्यायाममात्र कही जाएगी। सच्ची कल्पना का वास्तव में रस से कोई विरोध नहीं हो सकता।

शैली तत्व

काव्य की शैली-तत्व मनोगत भावों को मूर्त्त रूप प्रदान करने वाला सहज-साधन है। 'शैली' काव्य के वाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके भावगत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उत्पादन के रूप में यह रस संचार करने में भी सहायक है। भाव-सौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत सौन्दर्य पर निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है। प्रत्येक लेखक की गूढ़ भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट महत्व रखती है। मुख्य रूप से शैली के दो तत्व होते हैं। एक व्यक्तित्व तत्व और दूसरा वस्तु तत्व या एक आन्तरिक और दूसरा वाह्य। पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों द्वारा किए गए विवेचन का सम्पूर्ण अध्ययन करने के लिए शैली के निम्नलिखित पक्षों का अध्ययन आवश्यक है-

शैली के पक्ष

'हडसन' ने शैली का क्रमिक अध्ययन करने के लिए उसके तीन पक्ष निर्धारित किए। इन तीनों पक्षों के आधार पर अध्ययन करने से शैली का अध्ययन सम्भव है।

Personal 1. शैली और व्यक्तित्व–वैयक्तिक पक्ष
Art 2. शैली और वैधानिक विशेषताएँ–कलापक्ष
Historical 3. शैली के विकास की स्थिति–ऐतिहासिक पक्ष

उपर्युक्त वर्णित पक्षों में से क्रमानुसार एक-एक का अध्ययन किया जाएगा।

शैली और व्यक्तितत्व (Personal Side)

लेखक की व्यक्तिगत विशेषताएँ जो शैली में प्रतिबिम्बित् होती हैं, उन्हें हडसन ने तीन कोटियों में नियोजित किया है–

(1) बौद्धिक तत्व Intellectual (2) भाव तत्व Emotional (3) सौन्दर्यात्मक Aesthetic Element.

बौद्धिक तत्व–इन तीनों कोटियों से स्पष्ट है कि शैली लेखक के बुद्धि, भाव और कल्पना तीनों तत्त्वों को प्रदर्शित करने का महनीय कार्य करती है। शैली का बौद्धिक तत्त्व–प्रत्येक रचना में बुद्धि-तत्त्व का प्रयोग उसे जन साधारण की रुचि के अनुकूल वैधानिक रूप प्रदान करने के लिए किया जाता है। बुद्धि के कुछ प्रमुख गुण होते हैं, जो प्रत्येक उच्चकोटि की रचना विधायक अंग हैं। इनमें से तीन आवश्यक गुण हैं–

1. यथार्थता Procision 2. स्पष्टता (प्रसाद गुण) Lucidity

3. औचित्य (उपयुक्तता) Propriety

अर्थात् शैली में अनेक बौद्धिक तत्व होते हैं–जैसे 'यथार्थता' जो कि भावानुरूप शब्दों के उचित प्रयोग से आती है। 'स्पष्टता' जो कि वाक्य-विन्यास में उपयुक्त शब्द-योजना से आती है। 'उपयुक्तता' या 'सुषमा' जो काव्य विषय और उसके विन्यास दोनों के सामञ्जस्य में निहित रहती है।

भावतत्व–काव्य में बुद्धि मूलक तत्वों के अतिरिक्त कुछ हृदय मूलक तत्व भी होते हैं। हडसन ने Emotional और Aesthetic Element को इसी हृदयमूलक तत्व के अन्तर्गत रक्खा है। कवि की भावनाएँ कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त होने पर मूर्त-विधान कर सकती हैं। भावना पर भी व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। अत: भाव को सौम्यरूप प्रदान करने के लिए भावाभिव्यंजना में विशेषताय आवश्यक हैं–

(1) Foree प्रवेश (2) Energy शक्ति।

(3) Suggestiveness, ध्वन्यात्मकता।

इन्हीं गुणों से भावों को सौम्य रूप प्राप्त होता है।

सौन्दर्य तत्त्व

काव्य एक कला है अत: कवि में सौन्दर्यानुभूति भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। सौन्दर्य के विविध स्तर होते हैं। उच्चकोटि को सौन्दर्य-सृष्टि के लिए निम्नलिखित विशेषताएँ आवश्यक होती हैं–

1. संगीतात्मकता-आन्तरिक सौन्दर्य Grace
2. वाह्य सौन्दर्य Beauty आकर्षण Charm

शैली में आयोजित बुद्धितत्व, भावतत्व और सौन्दर्य तत्व इन तीनों का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व से होता है। लेखक की वैयक्तिक विशेषताओं के अनुरूप ही इन तत्वों का रूप विधान होता है। अत: शैलीगत ये विशेष तत्व लेखक की प्रतिभा और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से संयुक्त रहते हैं।

शैली और वैधानिक विशेषताएँ

शैली में व्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ वैधानिक विशेषताएँ भी होती हैं। काव्य की अभिव्यञ्जना या शैली एक विशेष प्रकार की होती है। शैली की सार्थकता काव्य के अन्तर्भूत भाव का बिम्बांकन करने में है। यह बिम्बांकन पर ही आधारित है। शैली को सजीव बनाने के लिए लेखक अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न शैलियों का अनुगमन करते हैं।

शैली के विकास की स्थितियाँ

ऐतिहासिक पक्ष किसी लेखक की शैली का सुनिश्चित स्वरूप धीरे-

धीरे विकसित होता है। एक ही लेखक की भिन्न-भिन्न समयों की शैली विकास भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। शैली का यह विकास-क्रम साधारणतया तीन स्थितियों में विकसित किया जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्था, प्रयोगावस्था और प्रौढ़ावस्था। लेखक की कृतियों की आलोचना करते समय इन तीनों अवस्थाओं को भी दृष्टि में रखते हुए लेखक के प्रति अपना निर्णय देना चाहिए।

शैली का व्यापक-गुण

भारतीय समीक्षा में शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नहीं, वरन् अर्थ से भी है। इसीलिए गुण-दोष शब्द और अर्थ दोनों के ही माने गये हैं। अलंकारों में भी शब्द और अर्थ दोनों को ही महत्व दिया गया है। शैली का व्यापक गुण अनेकता में एकता और एकता में अनेकता है। एकता के बिना अनेकता, विरोध, वैषम्य और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेती है, और बिना अनेकता के एकता रंक और दरिद्र है। अनेकता के द्वारा एकता से सम्बद्धता और सुसंगठन के गुण द्योतित होते हैं और एकता में अनेकता द्वारा सम्पन्नता प्रतिपादित होती है। सुसम्बद्ध-सम्पन्नता अर्थात् थोड़े में बहुत की व्यंजना, शैली का मूल गुण है, लेकिन वह हो प्रसादयुक्त।

भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय आचार्यों ने काव्य के 6 प्रमुख तत्वों को माना है, जो इस प्रकार हैं–

1. शब्दार्थ-तत्त्व–शब्द तथा अर्थ का ठीक-ठीक प्रयोग। 2. ध्वनि-तत्त्व–काव्य की आत्मा। 3. अलंकार-तत्त्व–शोभावृद्धि हेतु प्राचीन तत्त्व। 4. रीति-तत्त्व–ढंग या विधि का योग। 5. गुण-तत्त्व–उत्पन्न आनन्द या कष्ट। 6. छन्द-तत्त्व–संगीत तथा काव्य सम्बन्ध।

शब्दार्थ तत्व

साहित्य साधना का मूलाधार काव्य साधना है। जिस प्रकार सर्वोत्तम सैनिक के लिए सर्वोत्तम अश्व चाहिए, उसी प्रकार सर्वोत्तम विचार के लिए सर्वोत्तम शब्द भी चाहिए। शब्द ऐसा होना चाहिए जिसका कोई अर्थ हो। अर्थात् सार्थक शब्द होना चाहिए। पाठक पर रचना के शब्दों, अर्थों और अभिव्यक्ति के प्रकारों का प्रभाव पड़ता है। शब्दों का भण्डार तब तक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक वे शब्द जिस भाव के लिए चाहिये, उचित प्रयुक्त न हुए हों। पंगु एवं असमर्थ शब्दों का प्रयोग न विषय को स्पष्ट करने की क्षमता रखता है, न वाणी का भूषण ही बनता है। जहाँ जिस

शब्द की अपेक्षा हो, वहाँ उसी शब्द का प्रयोग वाञ्छनीय है। कुशल कलाकार शब्दों की आत्मा से परिचित होता है। शब्द में महती शक्ति होती है, पर उसका प्रस्फुटन सम्यक् प्रयोग पर होना चाहिए। कुछ कवियों की रचनाओं में काव्य-कला, नृत्य करती हुई चलती है, उसके प्रवाह, वेग एवं क्रीड़न एवं अद्भुत संगीत की सृष्टि खड़ी कर देते हैं। सामान्य से सामान्य विषय भी शब्दों की कसावट से बँधकर लोकोत्तर बन जाता है। धूलि पर रेखाओं द्वारा चित्र खींचना मानो धूलि को भी सजीवता प्रदान करता है।

शब्दों में निहित अर्थ भी कलाकार का संकेत पाकर कभी नर्मदा के 'धुआँधार' की भाँति शोर करते हुये चलते हैं, कहीं श्वेत श्यामल शैलों के बीच में पड़कर गम्भीर एवं प्रशान्त रूप धारण कर लेते हैं और कहीं टक्कर मारती हुई लहरों की भाँति बर्ताव करने लगे हैं।

साहित्य में शब्द और अर्थ वैसे ही ओत-प्रोत दीखते हैं, जैसे सृष्टि में ब्रह्म और माया। निरर्थक शब्दों से साहित्य का कोई प्रयोजन नहीं और शब्दों के बिना सामान्य-व्यवहार एवं साहित्य-सर्जन में अर्थ की सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

साहित्य में काव्य की सत्ता इसी शब्दार्थ पर अवलम्बित है। अतः प्राचीन आचार्यों ने काव्य के जितने तत्त्व बतलाये हैं, वे सभी शब्दार्थ के ही पोषक हैं।

ध्वनि तत्व

रस यदि काव्य की आत्मा है, तो ध्वनि काव्य शरीर को बल देने वाली प्राण-शक्ति अवश्य है। 'ध्वनि' शब्द का अर्थ है 'अनुरणन' या घण्टे की सी 'टन' के बाद देर तक होने वाली झंकार। यह एक प्रकार से अर्थ का भी अर्थ है। तभी तो इसको शरीर-मात्र से कुछ अधिक प्रधानता मिली है। आनन्दवर्धन के शब्दों में—

"जहाँ शब्द तथा अर्थ अपने स्वार्थ का उत्सर्ग कर देते हैं और व्यंग्यार्थ को प्रकट करते हैं, वह व्यंग्य ही ध्वनि है।" अर्थात् अर्थ या शब्द अपने निजी अर्थ को छोड़कर जिस विशेष अर्थ को प्रकट करता है, उसे विद्वान् लोग ध्वनि कहते हैं।

जिस प्रकार वामन रीति को काव्य की आत्मा कहते हैं, कुन्तक 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवन कहते हैं, उसी प्रकार आनन्दवर्धन भी 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा अर्थात् सर्वस्व कहते हैं।

ध्वनि-तत्व से तात्पर्य ध्वन्यार्थ से है, जिसे व्यंग्यार्थ, सूच्यार्थ, प्रतीयमानार्थ इत्यादि भी कहते हैं। जैसे रमणियों के मुख बाहु, उरोज इत्यादि

उन-उन अंगों की चारुता के अतिरिक्त भी सम्पूर्ण शरीर में, लावण्य नामक कान्ति-विशेष उल्लसित करते रहते हैं, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में सामान्य अर्थ-सम्प्रदा के अतिरिक्त भी एक विशिष्ट प्रकार का व्यंग्यार्थ अन्तर्निहित रहता है, जो हमें सहज ही चमत्कृत कर देता है। ध्वनि का स्वरूप बड़ा व्यापक है और रस तत्व का अन्तर्भाव स्वत: इसके अन्तर्गत हो जाता है।

अलंकार तत्व

अलंकार-शास्त्र को हमारे यहाँ काव्यशास्त्र भी कहा गया है। अलंकार काव्य-सौन्दर्य के विधायक हैं। इनकी संख्या भी अपरिमित है। जैसे वाणी के विकल्प अनेक हैं, अभिधान के प्रकार असंख्य हैं, कथन के ढंग अनन्त हैं, वैसे ही अलंकार अनन्त हैं।

अलंकार शैली की उत्कृष्टता में भी सहायक होते हैं। शब्दालंकारों द्वारा शब्दमाधुर्य की सृष्टि की जाती है। अत: अलंकार काव्य के उन तत्वों को कहते हैं, जो उसकी शोभा बढ़ाते हैं, ये न केवल उसके शब्द-माधुर्य को बढ़ाते हैं। अपितु उसके अर्थ-सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। इसीलिए इनके दो भेद किए हैं – (1) शब्दालंकार (2) अर्थालंकार। अलंकारों का सायास प्रयोग बुरा होता है, पर भावावेश के कारण जहाँ अलंकार स्वयं सजने लग जाते हैं, वहाँ काव्य का सौन्दर्य अपरिमित हो उठता है।

रीति तत्व

रीति पदों के सम्यक् संगठन को कहते हैं। कोमलकान्त पदावली के प्रयोग का विधान आदि व्यवहार इसी को सूचित करते हैं। इसके अभाव में सत् काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। पाश्चात्य कवियों ने भी इसका महत्व स्वीकार किया है। मुख्य रीतियाँ तीन हैं। गौड़ी, वैदर्भी एवं पाञ्चाली।

गुण तत्व

रस के उत्कर्ष-हेतु-स्थायी-धर्मों को गुण कहा गया है। गुणों का अस्तित्व दोषों के बिना नहीं है। जिस प्रकार दोषों का न होना मात्र सौन्दर्य नहीं है, उसी प्रकार दोषाभाव मात्र गुण नहीं है। बहुत सी पुस्तकों में पहले दोषों का वर्णन है, फिर गुणों का। वाग्भट्ट ने तो स्पष्ट कह दिया है कि दोषों के न रहने पर भी गुणों के बिना शब्द और अर्थ शोभा नहीं उत्पन्न कर पाते।

गुणों का सम्बन्ध रस एवं रीति दोनों से है। यह रसानुकूल आवेश या माधुर्य उत्पन्न कर काव्य को प्रभावशाली बनाता है। वैसे तो अनेक

विद्वानों ने गुणों की संख्या को अनेक प्रकार से वर्णित किया है, परन्तु मुख्य रूप से गुण तीन माने गए हैं–1. माधुर्य, 2. ओज, 3. प्रसाद। इन तीनों का सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियों से है–

1. 'माधुर्य की द्रुति' द्रवणशीलता या पिघलने से है।
2. ओज की दीप्ति से अर्थात् उत्तेजना से है।
3. प्रसाद का विकास चित्त को प्रसन्न कर देने से है।

प्रसाद का अर्थ है 'प्रसन्नता'। प्रसाद तो सभी रचनाओं के लिए आवश्यक गुण है।

छन्द तत्व

छन्द काव्य का शरीर एवं परिधान होता है। इसके अभाव में काव्य का वाह्य रूप ही निखर जाएगा। छन्द का अनिवार्य तत्व है 'लय' तथा गौण तत्व है 'अनुप्रास'। छन्द का सम्बन्ध न केवल काव्य के वाह्य-रूप से है, अपितु उसकी आत्मा से है। क्योंकि वह आह्लादन का कार्य भी करता है और काव्य को एक विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है। साधारणतया काव्य में तीन प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया जाता है–

1. **वर्णिक छन्द**–जो वर्ण संख्या पर आधारित हैं।
2. **मात्रिक छन्द**–जो मात्रा-गणना पर आधारित हैं।
3. **मुक्त छन्द**–जो उपर्युक्त दोनों पर आधारित हैं।

भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आ जाती है, छन्द उसी का बाहरी रूप है। छन्द में वर्ण नृत्य की भाँति ताल और लय के आश्रित रहते हैं। छन्द भाषा को भावानुकूल बनाकर पाठक में एक विशेष ग्राहकता उत्पन्न कर देता है। शब्दों की ध्वनि द्वारा ही थोड़ी व्यञ्जना हो जाती है और छन्दों द्वारा जो सौन्दर्य का उत्पादन होता है, उसके मूल में भी अनेकता में एकता का सिद्धान्त है।

समन्वित निष्कर्ष

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि भारतीय आचार्यों एवं पाश्चात्य आचार्यों के काव्य-तत्व-निरूपण में कोई मौलिक सार्थक्य नहीं है। ध्वनि-तत्व में भावतत्व एव बुद्धि तत्व का अन्तर्भाव आसानी से हो जाता है। हमारे काव्यशास्त्र में जो अलंकार तत्व हैं, कुछ व्यापक अर्थ में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कल्पना तत्व हैं। कारण दोनों का सम्बन्ध मुख्यतः अप्रस्तुत-विधान से है। इसी तरह रीतितत्व, गुण तत्व एवं छन्द तत्व का सम्यक् अन्तर्भाव 'रूप तत्व' के अन्तर्गत हो जाता है।

साहित्य, काव्य एवं कल्पना

साहित्य

शास्त्रीय या वैज्ञानिक-पद्धति में लिखे गए ग्रन्थों में किसी शब्द का स्पष्ट एवं निश्चित करने के लिए जिस शब्दावली का निर्धारण होता है, उसे परिभाषा कहा जाता है। परम्परागत काव्यशास्त्र में काव्य या साहित्य की शताधिक परिभाषाएँ मिलती हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक का चयन करना बहुत कठिन है। अब हम परिभाषाओं के अध्ययन के पूर्व 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' से मानी गई है। सहित का अर्थ है–साथ, संग, युक्त आदि। सहित का भाववाचक रूप ही 'साहित्य' है अत: व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द का अर्थ 'साहचर्य' है किन्तु यह अर्थ अस्पष्ट एवं अपूर्ण है। क्योंकि साहचर्य किसका साहचर्य ? आचार्यों ने इसका उत्तर दिया है–शब्द और अर्थ का साहचर्य। पर यह अर्थ स्वयं 'साहित्य' शब्द से व्युत्पन्न नहीं होता। 'साहित्य में केवल साहचर्य का भाव है किन्तु वह साहचर्य शब्द और अर्थ का ही है, ऐसा किस आधार पर स्वीकार हो।

उपर्युक्त प्रश्न के समाधान के लिए हमें 'साहित्य' शब्द के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। विद्वानों का मत है कि संस्कृत में 'साहित्य' शब्द काव्य का परवर्ती है। पहले साहित्य के स्थान पर काव्य का प्रयोग होता था। छठी-सातवीं शती में 'भामह' ने काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा था–

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'

अर्थात् शब्द और अर्थ का मेल ही काव्य है। आगे चलकर अन्य आचार्यों ने भी भामह की 'शब्दार्थ-सहित' वाली बात को बार-बार दोहराया है। सम्भवत: प्रयत्न लाघव की प्रेरणा ही इसी 'शब्दार्थौ सहितौ का ही संक्षिप्त संकेतात्मक शब्द 'साहित्य' चल पड़ा हो।

राजशेखर, भोज एवं कुन्तक आचार्यों ने भी साहित्य की व्याख्या करते हुए शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव पर ही बल दिया है।

राजशेखर–शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या "साहित्य-विद्या।"

भोज–किम् साहित्यम् ? य: शब्दार्थयो: सम्बन्ध:।

कुन्तक–सहितयोर्भाव: साहित्यम्। अनयो: शब्दार्थयोर्वान्न।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित है कि संस्कृत के आचार्य 'साहित्य' शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ के साहचर्य-भाव के लिए ही करते

रहे हैं।

दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने यह बताया है कि संस्कृत-साहित्य में भामह से पूर्व 'साहित्य' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। इस स्थिति में यह अनुमान है कि 'साहित्य' भामह की उक्त परिभाषा शब्दार्थौं सहितौ का संक्षिप्त संकेत है, अनुचित नहीं कहा जा सकता। यदि यह अनुमान पूर्णतः ठीक न भी हो तो भी इतना स्पष्ट है कि 'साहित्य' शब्द काव्य का पर्याय-वाची रहा है तथा इसका आशय शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव से रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से शब्दार्थ के साहचर्य वाली प्रत्येक रचना को साहित्य माना जा सकता है।

काव्य

साहित्य अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में काव्य का पर्याय बन जाता है। साहित्य और विज्ञान में जो भेद किया जाता है, वह उसी रूढ़ि के आधार पर साहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ पर आश्रित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है। व्यापक अर्थ में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना-मात्र का वाचक है, जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो और अपने रूढ़ अर्थ में काव्य वा भावना-प्रधान साहित्य का पर्याय है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में साहित्य के दो विभाग हो जाते हैं—1. काव्य, 2. शास्त्र। काव्य रसात्मक होता है और शास्त्र ज्ञान प्रधान होता है।

कवि और पाठक के भाव-साम्य में ही काव्य की पूर्णता है। कविता चाहे जितनी 'स्वान्तः सुखाय' लिखी जाय कवि का परिश्रम तभी सार्थक होता है, जबकि उसकी कविता का कोई रसास्वाद करेगा। परम्परागत काव्यशास्त्र में काव्य या साहित्य की शताधिक परिभाषाएँ मिलती हैं। ऐसी स्थिति में उनमें से किसी एक का चयन करना बहुत कठिन है। भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत—

दण्डी—इष्ट अर्थ में विभूषित पद-समूह ही काव्य-शरीर है।

राजशेखर—गुण और अलंकारों से युक्त वाक्य ही काव्य है।

मम्मट—वह शब्द और अर्थ जो दोष से रहित हो गुण से मण्डित हो-भले ही कहीं-कहीं अलंकार शून्य भी हो-काव्य है। —काव्य-प्रकाश

विश्वनाथ—रसात्मक वाक्य काव्य होता है। —साहित्य-दर्पण

जगन्नाथ-रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है—रसगगाधर

यदि हम उपर्युक्त परिभाषाओं पर क्रमशः विचार करें तो इनमें कोई भी सर्वथा निर्दोष एवं पूर्णतः स्पष्ट नहीं होगी।

भामह की परिभाषा—शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है।

जितनी काव्य पर लागू होती है उतनी ही शास्त्र, इतिहास, भूगोल या मौखिक वार्तालाप पर। जहाँ भी सार्थक शब्द का प्रयोग होता है–वहाँ शब्द और अर्थ दोनों का मेल या साहचर्य देखा जा सकता है, अतः इस परिभाषा के आधार पर काव्य और अकाव्य में कोई निर्णय नहीं हो सकता है।

इस प्रकार कोई भी परिभाषा पूर्ण निर्दोष नहीं ठहरती है। आचार्य विश्वनाथ एवं पं० जगन्नाथ ने क्रमशः रसात्मकता एवं रमणीयता को काव्यत्व का आधार माना है, किन्तु ये दोनों गुण भी अनिश्चित एवं अस्पष्ट हैं। एक रसिक व्यक्ति के लिए प्रेयसी के द्वारा उच्चरित कुछ शब्द भी रसात्मक एवं रमणीय हो सकते हैं, किन्तु इसी से उन्हें हम काव्य की संज्ञा से विभूषित नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक काव्य की परिभाषा में क्रमिक-विकास तो दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उनमें सर्वथा निर्दोष कोई भी नहीं है।

उपर्युक्त भारतीय विद्वानों के मतों के पश्चात् कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों का अध्ययन भी आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ

अरस्तू–भाषा के माध्यम से होने वाली अनुकृति काव्य है।

सिडनी-काव्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और आनन्द प्रदान करना है।

कॉलरिज–काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य प्रदान करना न होकर प्रसन्नता प्रदान करना होता है।

शैली काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम् हृदयों के श्रेष्ठतम् क्षणों का लेखा जोखा है।

हैजलिट–काव्य कल्पना और भावों की भाषा है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में से प्रथम तीन में 'अनुकृति' पर विशेष बल दिया गया है जिसके पीछे अरस्तू के 'अनुकृति-सिद्धान्त की प्रेरणा परिलक्षित होती है। अरस्तू के बाद क्रमशः सिडनी, कॉलरिज आदि विद्वानों की परिभाषाएँ सामने आईं, परन्तु वे स्वयं में एक भी निर्दोष नहीं रहीं।

काव्य की पूर्णता के लिए पाठक भी उतना ही आवश्यक है जितना कि कवि। कवि, पाठक तथा काव्य के विषय तीनों ही देशकाल के बन्धन से मुक्त होकर पारस्परिक साम्य के विधायक होते हैं। इन सब बातों को एक परिभाषा के घेरे में बाँधना कठिन है, फिर भी एक समन्वित रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

"काव्य संसार के प्रति कवि की भाव प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेमरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।" प्रभावोत्पादक शब्द द्वारा भाषा की शक्तियों और अलंकारादि के साथ पाठक का भी संकेत हो जाता है।

इस परिभाषा में प्राय: सभी बातें आ गई हैं किन्तु इसमें वह लाघव नहीं जो वाक्य रसात्मक काव्य में है। वास्तव में यह उसी का वृहत् संस्करण है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि साहित्य काव्य का समानार्थी है। इसीलिये साहित्य की एक समन्वय युक्त परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—"साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त रचना है, जिसके अर्थ-बोध के सामान्य-शक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है।" हमारे विचार से यह परिभाषा सरल एवं स्पष्ट होने के साथ-साथ अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति के दोष से भी मुक्त है। अत: इसे साहित्य की निर्दोष-परिभाषा के रूप में माना जा सकता है।

काव्य और साहित्य

साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में सारे वाङ्मय का द्योतक है। वाणी का जितना प्रसार है वह सब साहित्य के अन्तर्गत है। इस अर्थ में औषधियों के विज्ञापन और बीमाकम्पनियों के सूचना-पत्र भी साहित्य में आ जाते हैं। वैज्ञानिक-साहित्य, गणित शास्त्र अथवा अर्थशास्त्र से सम्बन्धित साहित्य, ऐसे प्रयोग तो हमारी भाषा में प्रचलित हैं ही। साहित्य का शब्दार्थ भी संग्रह के ही निकट है। अपने संकुचित अर्थ में 'साहित्य' काव्य का पर्याय हो जाता है। जहाँ हम साहित्य का प्रश्न पत्र कहते हैं, वहाँ साहित्य से काव्य अभिप्रेत होता है। यही हाल अंग्रेजी के लिट्रेचर का है। लिट्रेचर काव्य का पर्याय है, किन्तु व्यापक अर्थ में काव्य में गद्य और पद्य दोनों ही आते हैं। 'कविता' शब्द यद्यपि पद्यात्मक काव्य में रूढ़ हो गया है। तथापि कभी-कभी उसका व्यापक अर्थ में भी प्रयोग होने लगता है। जैसे—जब कोई मनुष्य अधिक भावुकतापूर्ण वार्तालाप करने लगता है, तब हम उससे कह उठते हैं कि भाई तुम तो कविता करने लगे। कविता से पद्यात्मक साहित्य का बोध होता है। किन्तु 'काव्य' शब्द पूरे भावना प्रधान गद्य-पद्यात्मक -ाहित्य का बोधक होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि पद्य में गद्य की अपेक्षा श्रुति-माधुर्य अधिक है और इस कारण उसमें प्रभावोत्पादकता भी आ जाती है, तथापि पद्यबद्ध-मात्र होने से कोई भी रचना कविता या काव्य नहीं बन जाती है। पद्य को अंग्रेजी में Verse कहते हैं Poetry या कविता नहीं। पद्य

का आकार मात्र कहा जाता जा सकता है उसकी आत्मा 'रस' ही है।

'साहित्य' शब्द काव्य की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, व्यापक एवं मान्य है। साहित्य के अन्तर्गत काव्यग्रन्थों का भी समावेश हो जाता है, जबकि काव्य में साहित्य का समावेश आंशिक रूप में होता है।

साहित्य के व्यापक अर्थ में काव्य और शास्त्र दोनों ही आ जाते हैं। रस-प्रधान साहित्य काव्य कहलाता है। और ज्ञान प्रधान साहित्य जिसमें बुद्धि और नियम का शासन होता है, शास्त्र (Science) कहलाता है। जीवन की पूर्णता दोनों के अनुशीलन में है।

'काव्य-शास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।'

साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। उसे सम्पूर्णता में ग्रहण कर अभिव्यक्त करना थोड़ा कठिन है। अत: समस्त मतों को दृष्टिकोण में रखकर कह सकते हैं–**साहित्य जीवन और जगत् के गत्यात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी झाँकी है जिनके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है।** वास्तव में साहित्य भी ज्ञान के सदृश एक अखण्ड सत्ता है, जिसकी अभिव्यक्ति खण्डों में हो पाती है। इन्हीं खण्डों को विविध अभिधान दे दिये गये हैं, जो कभी काव्य तथा कभी शास्त्र के नाम से प्रसिद्धि पाते हैं।

कल्पना

यह शब्द संस्कृत की 'क्लृप्' धातु से निर्मित है।

व्युत्पत्ति

'कल्पना' का सम्बन्ध 'कल्पनम्' से है जिसका अर्थ होता है–रचना या बनाना। इसी के आधार पर कल्पना के अनेक अर्थ प्रचलित हैं। कल्पना का अंग्रेजी पर्याय (Imagination) माना गया है। आज आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में 'कल्पना' का प्रयोग वस्तुत: आंग्ल 'इमेजिनेश' के समानार्थक शब्द के रूप में होता है।

परिभाषा

कल्पना की परिभाषा विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न शब्दों में की है, किन्तु सामान्यत: उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें परस्पर मतैक्य है। उदाहरणार्थ कुछ विद्वानों द्वारा निर्मित परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

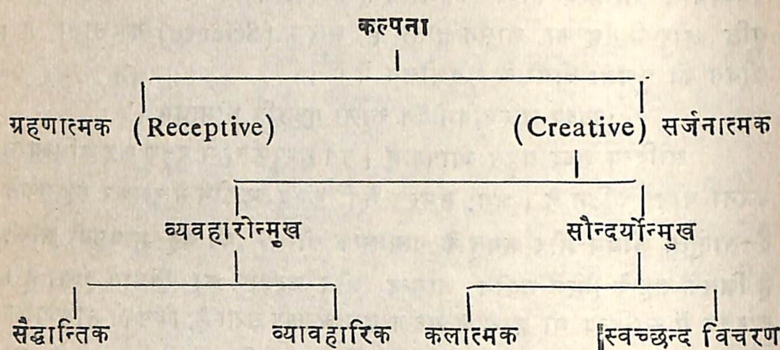
मैक्डूगल–हम भली भाँति यह परिभाषा कर सकते हैं कि कल्पना अप्रत्यक्ष वस्तुओं के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन है।

वुडवर्थ–कल्पना एक मानसिक कौशल है।

ई० जी० बोल–कल्पना अपने सरलतम रूप में एक ऐसी शक्ति कही जा सकती है, जो कि पूर्व-अनुभवों की प्रतिलिपि पुनरुत्पादित करती है।

अस्तु जहाँ तक इन परिभाषाओं का सम्बन्ध है, **"कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो कि वस्तुओं की अनुपस्थिति में या अप्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में चिन्तन-मनन करती है।"** इस परिभाषा में उपर्युक्त परिभाषाओं का प्रतिनिधित्व हो जाता है।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके विभिन्न भेदोपभेद भी निर्धारित किये हैं–



सामान्य कल्पना के दो भेद किये जाते हैं–(1) ग्रहणात्मक (2) सर्जनात्मक। **किसी वर्णित विषय को जिस कल्पना शक्ति से हम ग्रहण करते हैं वह ग्रहणात्मक कल्पना है।** जबकि हम जिस शक्ति से नये विषय का वर्णन करते हैं वह सर्जनात्मक कल्पना मानी जाती है। इसके भी दो भेद किये गये हैं–1–व्यवहारोन्मुख (व्यवहारोन्मुख के दो भेद-सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक) 2-सौन्दर्योन्मुख (इसके दो भेद–कलात्मक एवं स्वच्छन्द) विचरणात्मक सैद्धान्तिक कल्पना के द्वारा हम विभिन्न प्रकार के नये सिद्धान्तों एवं नियमों की खोज करते हैं, जबकि व्यावहारिक कल्पना का योग उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप देने में–योजनाएँ तयार करने में किसी के करने के उपाय आदि ढूँढ़ने में करते हैं। कलात्मक कल्पना के द्वारा कला-सृष्टि होती है तथा स्वच्छन्द विचरणात्मक के द्वारा दिवा स्वप्न का निर्माण होता है।

गतिशील चिन्तन को हम चाहे विशुद्ध-कल्पना न कहें, किन्तु उसमें कल्पना का बहुत बड़ा योग रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं, साहित्य-सर्जन में सौन्दर्योन्मुख कलात्मक कल्पना का उपयोग है।

साहित्य एवं सर्जना

यद्यपि प्राचीन साहित्य-शास्त्र में कल्पना की चर्चा कवि की विशिष्ट सर्जना क्षमता या प्रतिभा-शक्ति के रूप में समय-समय पर होती है, किन्तु उसे साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय

आधुनिक युगीन स्वच्छन्तावादी साहित्यकारों को है। साहित्य के सर्जन में कल्पना कई रूपों में योगदान करती है। जिसे इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

योगदान के रूप–(1) द्रव्य का चेतन स्तर पर प्रस्तुतीकरण। (2) द्रव्य का विस्तार। (3) नये द्रव्य का आविर्भाव। (4) द्रव्य को अनुभूति गम्य बनाना। (5) देशकाल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्ति।

साहित्यकार जिस द्रव्य-सामग्री (भाव और विचार) का उपयोग साहित्य में करता है, वह प्राय: उसके अवचेतन एवं अचेतन स्तर पर संस्कारों, बिम्बों एवं प्रत्ययों के रूप में विद्यमान रहती है। साहित्य-सृजन के लिये इस द्रव्य को चेतन स्तर पर लाना आवश्यक है। यह कार्य स्मृति और कल्पना दोनों के द्वारा सम्पादित हो सकता है किन्तु साहित्यिक-रचना में स्मृति की अपेक्षा कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री ही अधिक उपयुक्त होती है।

कल्पना-शक्ति द्रव्य को न केवल प्रस्तुत करती है, अपितु वह उसका विश्लेषण करती हुई उसे विस्तृत रूप भी देती है। जैसे–किसी भी युवक या युवती का 'नख-शिख-वर्णन' भले ही उसके बारे में विस्तृत ज्ञान न हो।

कल्पना प्राप्त द्रव्य को विस्तृत रूप प्रदान करती है, किन्तु इतना ही नहीं, वह उस द्रव्य में स्वनिर्मित द्रव्य या नये द्रव्य का संयोग या मेल करती है। एक घटना के बाद असली घटना क्या होगी, या क्या हो सकती है, इसका निर्देशक कल्पना-शक्ति ही करती है।

कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह प्राय: अनुभूतिगम्य होती है, जहाँ मस्तिष्क की अन्य शक्तियाँ बुद्धि, स्मृति आदि अनुभवों को तथ्यों और विचारों के रूप में प्रस्तुत करती हैं, किन्तु वे सहज ही अनुभूति-गम्य नहीं होते, जबकि कल्पना उन्हें मुख्यत: बिम्बों का सजीव चित्रों या अनुभूतिगम्य शब्दों में व्यक्त करती है।

कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री सामान्यत: देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्त होती है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री स्मृत तथ्यों की भाँति तथा यथातथ्य एवं देश-काल की सीमाओं से बँधी नहीं रहती। इसीलिये वह सर्व-सामान्य के लिये रुचिकर एवं स्वीकार्य बन पाती है। कल्पना साधारणीकरण भी करती है, जिससे साहित्य में प्रस्तुत अनुभूतियाँ एक व्यक्ति की अनुभूतियाँ न रहकर सर्वसाधारण की अनुभूतियाँ बन जाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्पना-शक्ति साहित्य की शेष (भाव-विचार) को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसका विस्तार, अभिवृद्धि, रूप-परिवर्तन और साधारणीकरण भी करती है। इसीलिये अनेक पाश्चात्य

आलोचकों ने कल्पना को साहित्य की आदि शक्ति या उसकी आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। निश्चय ही कल्पना-शक्ति साहित्य को ऐसा आकर्षण रूप प्रदान करने में सहायक सिद्ध होती है जिससे कि पाठक को प्रसन्नता एवं आनन्द की अनुभूति प्राप्त हो सके। इसी स्थिति में कल्पना को सफल साहित्यिक-कल्पना कहा जा सकता, अन्यथा नहीं।

कल्पना का महत्व

कल्पना प्रतिभा या शक्ति के सहारे भावोद्रेक अर्थात् नये भावों का उदय करती है और भाव ही अन्तर्वृत्ति को परिचालित करते हैं। इस प्रकार कल्पना नये रूप विधानों का सृजन करती है। ये ही रूप विधान काव्य का वाह्य आकार उपस्थित करते हैं अत: कल्पना काव्य की सृजन-शक्ति होती है।

□

शब्द-शक्तियाँ

सामान्य परिचय

प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है। यह विज्ञान का अटल नियम है, इसी नियम के अनुसार शब्द भी अपना कार्य अर्थात् अर्थ बोध कराने का कार्य जिस शक्ति के द्वारा सम्पादित करता है, उसे शब्द की शक्ति या शब्द-शक्ति कहते हैं।

शक्ति की परिभाषा–अमुक शब्द को अमुक अर्थ का बोध करना चाहिए, इस संकेत का नाम 'शक्ति' है। (अस्मात् पदात् अयमार्थोबोद्धव्य:, इति संकेत: शक्ति:) भारतीय काव्य शास्त्रियों ने भी इसी आधार पर शब्द-शक्तियों की स्थापना की है। इस 'शब्द-शक्ति' के रूप एवं स्तर-भेदों के बारे में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। सामान्यत: शब्द-शक्तियों के तीन प्रकार माने गये हैं, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना; किन्तु इनके अतिरिक्त 'तात्पर्य' 'भावना' 'भोजक' शक्तियों की कल्पना अन्य आचार्यों द्वारा की गई है। कतिपय आचार्य 'लक्षणा' और 'व्यंजना' के अस्तित्व का विरोध करते हैं; तो दूसरी ओर व्यंजनादि के मानने वालों में से कुछ विद्वानों ने 'तात्पर्य' शक्ति को अनावश्यक माना है। शेष दो 'भावना' और 'भोजक' का भी अन्तर्भाव व्यंजना से ही कर लिया गया है। इस प्रकार प्रमुख तीन ही शब्द शक्तियाँ हैं।

शब्द और अर्थ का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। जिस प्रकार जल के बिना लहर की और लहर के बिना जल की कल्पना ही नहीं की जा सकती उसी प्रकार शब्द-विहीन अर्थ और अर्थ-हीन शब्द का अस्तित्व ही नहीं होता। कवि कालिदास ने इसीलिए शिव-पार्वती का साहचर्य शब्द और अर्थ की अभिन्नता के समान बतलाया है।

'वागर्थाविष सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥' –रघुवंश 1.1

शब्द के तीन भेद होते हैं–वाचक, लक्षक और व्यंजक।

1. **वाचक-शब्द**–जो शब्द साक्षात् सांकेतिक अर्थ को प्रकट करता है उसे वाचक शब्द कहा जाता है। इसके चार भेद-जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और द्रव्य-वाचक होते हैं।

2. **लक्षक शब्द**–जिन शब्दों का मुख्यार्थ से भिन्न, लक्षणा शक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, उन्हें लक्षक शब्द कहते हैं।

3. **व्यंजक-शब्द**–जिन शब्दों से व्यंग्यार्थ का बोध होता है वे व्यंजक शब्द कहे जाते हैं और अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है।

शब्द-शक्तियों के वर्गीकरण के आधार

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भेद शब्दों के नहीं, वरन् शब्द की उपाधियों या शक्तियों के होते हैं, क्योंकि एक ही शब्द वाचक भी होता है, लक्षक भी व्यंजक भी। इन्हीं शब्द में भेदों के अनुसार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ। इन तीन प्रकार के अर्थों का बोध कराने वाली शक्तियाँ शब्द-शक्तियाँ कहलाती हैं। इन्हीं का वर्गीकरण सम्भव है। विद्वानों ने यह निश्चय किया कि अर्थ का ज्ञान कराने वाली शब्द की शक्ति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं, जिनका वर्गीकरण निम्नलिखित आधार पर किया जाता है–

1. अर्थ की सामान्यता या विशिष्टता

2. सामान्य (वाच्यार्थ) और विशिष्ट अर्थ (लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ) का पारस्परिक सम्बन्ध।

3. अर्थ के क्षेत्र (शब्द या वाक्य या प्रसंग) की व्यापकता।

इन आधारों पर आगे वर्गीकरण किया गया है।

शब्द-शक्तियों के वर्गीकरण

शब्द-शक्तियाँ तीन हैं–

1. अभिधा 2. लक्षणा 3. व्यंजना

अभिधा

जिस शब्द-शक्ति से साक्षात् सांकेतिक (सांकेतित) या मुख्य अर्थ का बोध होता है, उसे 'अभिधा' शक्ति कहते हैं–

'तत्रसंकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।'

अभिधा शब्द-शक्ति से सकेतित अर्थ का ग्रहण निम्नलिखित कारणों से होता है–

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा:।।

–न्याय सिद्धान्त मुक्तावली शब्द-खण्ड

अर्थात् 1. व्याकरण 2. उपमान 3. कोश 4. आप्तवाक्य 5. व्यवहार 6. प्रसिद्धपद का सान्निध्य 7. वाक्य शेष और 8. विवृत्ति। इन आठ कारणों से संकेत अर्थ का ग्रहण होता है।

अभिधा के सहयोगी एवं प्रेरक तत्व

1. **व्याकरण से**–व्याकरण के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा अर्थ का सहज ही भान हो जाता है । जैसे लोहार, लोहारिन ।

2. **उपमान से**–उपमान का अर्थ है–समानता । यदि किसी को यह ज्ञान है कि भीम बहुत खाता था तो किसी के यह कहने पर कि 'राम भीम के समान खाता है' श्रोता तुरन्त समझ जायेगा कि राम बहुत खाऊ वीर है ।

3. **कोश से**–यदि कहा जाय कि (देवासुर-सग्राम) में निर्जरों ने विजय पाई तो कोश के द्वारा ज्ञात होगा कि 'निर्जर' का अर्थ देवता है–'अमरा-निर्जरा देवा:' ।
–अमरकोश

4. **आप्तवाक्य से**--आप्त का अर्थ है–प्रामाणिक या लोक-प्रसिद्ध पुरुष । जैसे किसी बालक को बता दिया जाये कि यह राम का चित्र है तो वह राम की प्रतिकृति का संकेत उस चित्र में समझ लेता है । इसी प्रकार आप्त वाक्यों के कारण ही वेद पुराण एवं स्मृति आदि के विवरण प्रामाणिक माने जाते हैं ।

5. **व्यवहार से**–व्यवहार ही वस्तुओं और उनके वाचक का सम्बन्ध जानने में प्रमुख तथा व्यापक कारण है । जैसे–यदि किसी मनुष्य को गाय लाने के लिया कहा जाये और वह गाय ले आए तो उसे देखकर बालक को भी यह ज्ञान हो जाता है कि इस प्रकार के प्राणी को गाय कहते हैं ।

6. **प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से**–प्रसिद्ध पद अथवा शब्द के साथ रहने से संकेतित अर्थ का बोध होता है । जैसे मधुकर भौंरा और मधुमक्खी दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है । यदि कमल का सान्निध्य है तो 'भौंरा' अर्थ लिया जायेगा ।

7. **वाक्य शेष**–ज्ञात अर्थ वाले पद की सहायता से अज्ञात अर्थ वाले पद का भी 'अर्थ' ज्ञात हो जाता है । जैसे 'उमापति' का अर्थ महादेव (उमा के पति) ।

8. **विवृत्ति से**–विवृत का अर्थ व्याख्या, विवरण, टीका है । किसी शब्द की व्याख्या करने पर उसका अर्थ ज्ञात हो जाता है ।

परिभाषा

अभिधा की परिभाषा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने इसे 'शब्द के मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति' या साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक व्यापार' अथवा संकेतित अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति कहा है । परन्तु इन तीनों परिभाषाओं में इस शक्ति का सम्बन्ध क्रमश: शब्द के मुख्य अर्थ एवं साक्षात् संकेतित अर्थ से माना जाता है । तीनों धारणाएँ मूल परिभाषा

को स्पष्ट, निश्चित एवं प्रामाणिक रूप देने में बाधक सिद्ध होती हैं। अत: परिभाषा का रूप इस प्रकार दिया जा सकता है–

"भाषा की जिस शक्ति से शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है वह अभिधा-शक्ति कही जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषा में 'मुख्य सकेतित अर्थ' के स्थान पर 'सामान्य प्रचलित अर्थ' तथा 'संकेतित' के स्थान पर 'बोध' का प्रयोग किया गया है जो मूल शब्दों की भाँति अनिश्चित नहीं है। अत: यह परिभाषा उपयुक्त है।

अभिधा के अवयव

अभिधा के द्वारा जिन शब्दों का अर्थ-बोध होता है उन्हें 'वाचक' शब्द कहते हैं। ये 'वाचक शब्द' भी भारतीय आचार्यों द्वारा तीन प्रकार के माने गये हैं।

1. रूढ़ि शब्द–जिनकी व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती (पेड़, पत्ता···)

2. यौगिक शब्द–प्रकृति और प्रत्यय का योग होता है, जैस सहाय + क = सहायक = सहायता करने वाला।

3. योग रूढ़–गणनायक, मृगनयनी आदि।

योग रूढ़–जो शब्द यौगिक होते हुए भी अर्थ विशेष में रूढ़ होते हैं, उन्हें योगरूढ़ कहते हैं। यथा पंकज (पंक + ज) यहाँ 'पंक' का अर्थ 'कीचड़' और 'ज' का अर्थ 'उत्पन्न' होता है, किन्तु कीचड़ से कमल ही नहीं, घोंघे आदि अन्य पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं, पर सभी को 'पंकज' नहीं कहते, कमल को ही कहते हैं।

अवयवों का यह वर्गीकरण अभिधा के तीन स्रोतों का निर्देश करता है। अर्थात् किसी शब्द का वाच्यार्थ पूर्वजों से सीखकर या घटक तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों से या दोनों के समन्वित रूप से ग्रहण करते हैं।

अभिधा-शक्ति का महत्व

साहित्य में 'अभिधा' शक्ति का बड़ा महत्व माना जाता है। साहित्य दर्पणकार ने इसीलिए सम्भवत: इसे 'अभिधा शक्ति' कहा है। बहुत से साहित्य-शास्त्रियों ने अभिधा से 'लक्षणा' को भिन्न नहीं माना है। नैय्यायिक लोग तो वाच्यार्थ के सम्बन्ध को ही लक्षणा मानते हैं।[1] आचार्य शुक्ल ने वाच्यार्थ के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा–"यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी योग्यता या उपपन्नता को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा अर्थ बोधक बन जाता है।"

---

1. 'शक्य सम्बन्धो हिलक्षणा'

लक्षणा

प्राचीन आचार्यों ने लक्षणा की परिभाषा सामान्यत: इस प्रकार की है–"मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं।"

मुख्यार्थवाधे तद्योगे ययान्योऽर्थ: प्रतीयते।
रूढ़े: प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ।।–सा० दर्पण प०।2।5।।

विशेषताएँ

इसी उपर्युक्त परिभाषा के विश्लेषण से लक्षणा-शक्ति की तीन विशेषताएँ प्रतीत होती हैं–

1. लक्षणा शक्ति में शब्द के वाच्यार्थ या मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित हो जाती है या वाच्यार्थ वहाँ अपने प्रचलित अर्थ में प्रस्तुत नहीं रहता, परिवर्तित हो जाता है।

2. लक्षणा से प्राप्त लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ से सम्बन्धित होता है। अर्थात् दोनों में कोई-न-कोई सम्बन्ध बना रहता है।

3. लक्षणा-शक्ति के पीछे किसी विशेष रूढ़ि या वक्ता के किसी विशेष प्रयोजन की प्रेरणा अवश्य रहती है।

लक्षणा के उपर्युक्त तीनों लक्षणों को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। लक्षणाशक्ति का उदाहरण–1. तुम्हारा नौकर बिलकूल गधा है (लक्षणा)

2. तुम्हारा नौकर बिल्कुल गधे जैसा है (अभिधा)

अत: उपर्युक्त प्रयोगों में शब्द के वाच्यार्थ की शेष वाक्य के अर्थ से असंगति होने के कारण इन्हें नये अर्थों में ग्रहण करना पड़ता है। गधे = गधे जैसी बुद्धि वाला अत: यदि दोनों पदों की तुलना करें तो यह तथ्य विदित होगा कि उनमें अर्थ-बोधक कुछ शब्दों की न्यूनता है 'जैसा' विशिष्ट शब्द जोड़ देने के कारण यह लाक्षणिक न रहकर अभिधात्मक बन गया है साथ ही इनके अर्थ में सन्निहित विशेष चमत्कार का लोप हो गया है। इस न्यूनता या रिक्तता की पूर्ति श्रोता को अनुमान या कल्पना के बल पर करनी पड़ती है और इस अनुमान या कल्पना के कारण ही अर्थ में चमत्कारिता आती है।

लक्षणा के भेद

मुख्य रूप से लक्षणा के दो भेद किये जाते हैं–रूढ़िलक्षणा, प्रयोजनवती लक्षणा।

रूढ़िलक्षणा–जिस लक्षणा में रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर

उससे सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय, उस स्थान पर रूढ़ि-लक्षणा होती है। जैसे–''पाकिस्तान' लड़ता है। इस वाक्य में रूढ़ि के कारण 'पाकिस्तान' शब्द का अर्थ 'पाकिस्तान में रहने वाले व्यक्तियों' से लिया जाता है। यह रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण हुआ। इस 'रूढ़ि लक्षणा' के भेद नहीं होते। कुछ आचार्यों ने इसके भी भेदों का उल्लेख किया है।

प्रयोजनवती लक्षणा–जहाँ मुख्यार्थ का बोध होने पर किसी विशेष प्रयोजन के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। इसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। साहित्यदर्पणकारों ने इसके 80 भेद माने हैं–'उदित उदय गिरिमंच पर रघुवर बाल पतंग' 'रघुवर बाल पतंग' लक्षण है।

1. **उपादान लक्षणा**–जहाँ वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। यथा– 'काक से रक्षा करो दधि की, रहो तुम सावधान।'

यहाँ 'काक' शब्द दही के उपघातक मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वह अपना अर्थ भी बनाये हुए है।

2. **लक्षण-लक्षणा**–जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़ कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करता है वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। यथा–'गंगा में घर' यहाँ 'गंगा' पद अपने 'जलधार' अर्थ को छोड़कर केवल 'गंगातट' अर्थ का बोध करता है।

3. **सारोपा लक्षणा**–जिस लक्षणा में आरोप हो, आरोप्य-भाव (विषय) और आरोप का विषय इन दोनों की शब्द द्वारा उक्ति हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। 'आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाए।' वे (पूँजीपतियों) विषयी और विषय दोनों ही शब्दों द्वारा उक्त हैं।

4 **साध्यवसाना लक्षणा**–जिस लक्षणा में आरोप का विषय लुप्त रहे, अर्थात् शब्दों के द्वारा प्रकट न किया जाये और विषयी द्वारा ही उसका कथन हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। यथा–'देखो विधु मुसकाया।' यहाँ नायिका के मुख में 'विधु' का आरोप किया गया है, जो कि लुप्त है। इस प्रकार यहाँ 'साध्यवसाना लक्षणा' हुई।

5. **गूढ़ व्यंग्या लक्षणा**–जिस लक्षणा का व्यंग्य मार्मिक सहृदय द्वारा ही समझा जा सके उसे गूढ़ व्यंग्या लक्षणा कहते हैं।

6. **अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा**–जिस लक्षणा का व्यंग्य आसानी से समझ में आ जाये, उसे अगूढ़ व्यंग्या-लक्षणा कहते हैं।

7. **गौरी लक्षणा**–जिसमें सादृश्य सम्बन्ध से अर्थात् समान गुण या

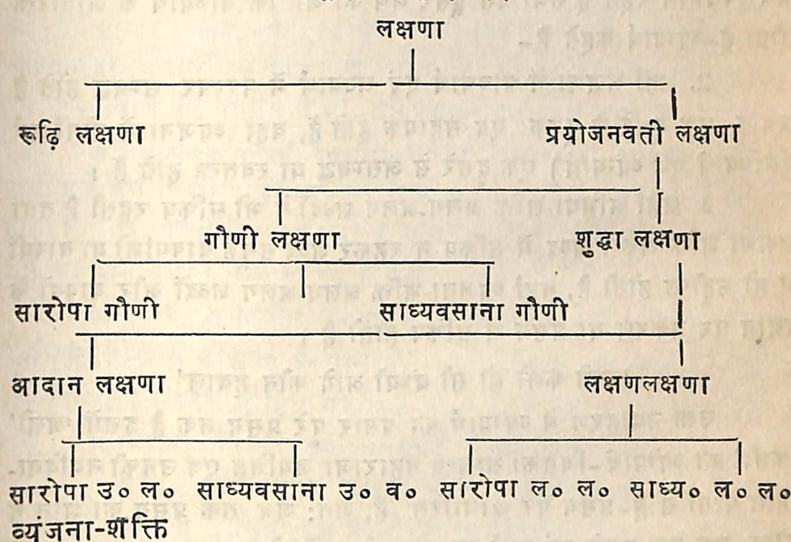
धर्म के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाये उसे गौणी लक्षणा कहते हैं। यथा– 'पुरुषसिंह'। यहाँ सिंह के पौरुष का पुरुष में आरोप है।

8. **शुद्धा लक्षणा**–जिसमें सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध में आधाराधेय भाव सम्बन्ध और तात्कर्म्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है, उसे शुद्धा लक्षणा कहते हैं। यथा–

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

यहाँ आँचल में दूध होना बाधित है, अतः सादृश्य अथवा सामीप्य-सम्बन्ध के द्वारा स्तन में दूध लक्ष्यार्थ है।

लक्षणा का शब्द चित्र



सारोपा उ० ल० साध्यवसाना उ० व० सारोपा ल० ल० साध्य० ल० ल०

व्यंजना-शक्ति

(वि + अंज् + ल्युट् + टाप्)

विभिन्न आचार्यों ने व्यंजना-शक्ति की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

आचार्य मम्मट–"अनेक अर्थ वाले शब्द का जब संयोगादि के द्वारा वाचकत्व नियत हो जाता है, तब भी उस शब्द के किसी और अर्थ का ज्ञान होता है, वैसे ज्ञान के उत्पन्न करने वाले व्यापार का नाम व्यंजना है। आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा भी कुछ ऐसी ही है।[1]

1. अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर 'अभिधा' एवं 'लक्षणा' नामक शब्द-शक्तियों के विरत हो जाने पर, जिस शब्द-शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं।

–सा० दर्पण। प० 2। श्लो० 12

पं० रामचन्द्र शुक्ल–"व्यंजना शक्ति ऐसे अर्थ को बतलाती है जो अभिधा, लक्षणा या तात्पर्यवृत्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता।"

यदि उपर्युक्त परिभाषाओं पर ध्यान दें तो एक बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होगी कि इनमें व्यंजना की बहिरंग विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। यदि हम अभिधा और लक्षणा के स्वरूप को ध्यान रखते हुए व्यंजना के लक्षणों पर विचार करें, तो हमें निम्नलिखित तीन विशेषताएँ ज्ञात होंगी–

विशेषतायें

1. जहाँ अभिधा में एक साथ ही अर्थ विद्यमान रहता है तथा लक्षणा में एक अर्थ अन्य अर्थ में परिणत हो जाता है, वहाँ व्यंजना में एक साथ दो अर्थ विद्यमान रहते हैं तथा इस दूसरे अर्थ को जो कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त होता है–व्यंग्यार्थ कहते हैं–

2. जहाँ लक्षणा में वाचचार्थ एवं लक्ष्यार्थ में परस्पर सम्बद्ध होते हैं अर्थात् एक दूसरे के पूरक एवं सहायक होते हैं, वहाँ व्यंजना में दोनों अर्थ (वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ) एक दूसरे से असम्बद्ध या स्वतन्त्र होते हैं।

3 जहाँ अभिधा-शक्ति अलग-अलग शब्दों में भी सक्रिय रहती है तथा लक्षणा शक्ति अकेले शब्द में सक्रिय न रहकर शब्द समूह वाक्यांशों या वाक्यों में ही उद्दीप्त होती है, वहाँ व्यंजना-शक्ति अलग-अलग शब्दों और वाक्यों के स्थान पर प्रकरण या प्रसंग में सक्रिय होती है।

'अली कली ही सौ बंध्यो आगे कौन हवाल'

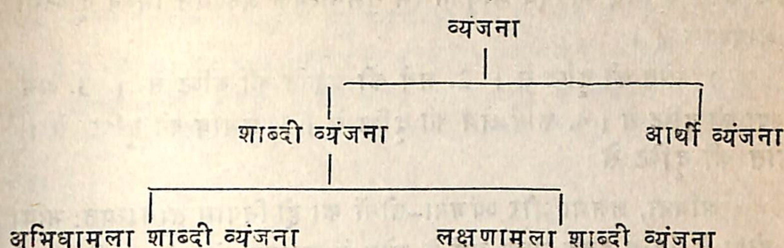
उक्त उदाहरण में व्यंग्यार्थ का प्रसार पूरे प्रसंग तक है इसमें 'अली' 'कली' का व्यंग्यार्थ–जिसका सम्बन्ध महाराजा जयसिंह एवं उनकी नवविवाहिता पत्नी से है–प्रसंग पर आधारित है, अतः जब तक प्रसंग का ज्ञान न होगा, तब तक इसके व्यंग्यार्थ का बोध भी नहीं होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जहाँ अभिधा का क्षेत्र अलग-अलग शब्दों में लक्षणा का क्षेत्र अलग-अलग वाक्यों में व्याप्त है, वहाँ व्यंजना का क्षेत्र प्रकरण या प्रसंग में व्याप्त रहता है।

अस्तु, व्यंजना की उपर्युक्त तीनों विशेषताओं को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि "व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण या प्रसंग विशेष में एक साथ अनेक स्वतन्त्र अर्थों की अभिव्यक्ति या प्रतीति होती है।"

व्यंजना के भेदोपभेद

व्यंजना-शक्ति की उद्दीप्ति केवल वक्तव्य-वस्तु पर ही निर्भर नहीं रहती अपितु उसकी उद्दीप्ति के लिए प्रसंग सम्बन्धी विभिन्न तत्वों का सम्पर्क

अपेक्षित है। इस सम्पर्क के अभाव में या इसका ज्ञान न होने पर व्यंग्यार्थ लुप्त हो जाता है और केवल वाच्यार्थ ही अवशिष्ट रह जाता है। प्राचीन आचार्यों ने व्यंजना के भेद इस प्रकार किये हैं—



शाब्दी व्यंजना—जहाँ व्यंग्यार्थ किसी विशेष शब्द के आधार पर अवलम्बित हो, अर्थात् उस व्यंजक के स्थान पर उसका सामानार्थक शब्द रख देने से व्यंग्यार्थ की प्रतीति न हो, उसे 'शाब्दी-व्यंजना' कहते हैं।

अभिधामूलक शाब्दी व्यजना—अनेकार्थी शब्दों का 'संयोग' आदि के द्वारा एक अर्थ निश्चित हो जाने पर जिस शब्द-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना' कहते हैं। नियन्त्रित करके एक अर्थ का बोध कराने वाले कारण ये हैं–

1–संयोग, 2–वियोग, 3–साहचर्य, 4–विरोध, 5–अर्थ, 6–प्रकरण, 7–लिङ्ग, 8–अन्य सन्निधि, 9–सामर्थ्य, 10–औचित्य, 11–देश, 12–काल, 13–व्यक्ति, 13–स्वर आदि। यथा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:।
सामर्थ्य मौचिती देश कालो व्यक्ति स्वरादय:।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृतिहेतव:॥

(सा० दर्पण। प०। 2 श्लो०–15)

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—जिस प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है उस प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शब्द-शक्ति को लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। वह मनुष्य नहीं निरा उल्लू है। यहाँ 'उल्लू' शब्द से महामूर्ख व्यंजित है और यह शब्द गुणकृत सादृश्य के आधार पर लाक्षणिक है।

आर्थी व्यंजना—वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टादि के वैशिष्ट्य से जिस शब्द-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे आर्थी व्यजना कहते हैं।

(सा० दर्पण। प० 2 श्लोक 16–17)

शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना

पूर्व विवेचित शब्द-शक्तियों के पारस्परिक अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कतिपय शीर्षकों में तुलनात्मक अध्ययन निम्न दृष्टियों से आवश्यक है।

1. स्रोत की दृष्टि से। 2. अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से। 3. अर्थ-संख्या की दृष्टि से। 4. कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से। 5. प्रभाव की दृष्टि से।

स्रोत की दृष्टि से

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—तीनों का ही निवास सामान्यत: भाषा में होता है, किन्तु इनके सूच्य अर्थ के स्रोत में परस्पर भेद है। अभिधा की आधारभूमि 'परम्परा' है। प्रत्येक नये प्रयोग भी जब आगे चलकर रूढ़ हो जाते हैं, तो वह अभिधात्मक बन जाते हैं। लक्षणा का स्रोत रूढ़ि और प्रयोजन में माना है, किन्तु रूढ़िबद्ध प्रयोगों को हमने अभिधा के अन्तर्गत स्थान देते हुए केवल विशेष प्रयोजन से सम्बद्ध प्रयोगों को ही लक्षणा के रूप में माना है। अत: लक्षणा के मूल में आशय सन्निहित है। लक्षणा की ही भाँति व्यंजना के पीछे भी वक्ता का विशेष प्रयोजन या विशेष आशय होता है। अभिधा की भाँति सामान्य परिस्थितियों में व्यंजना उद्दीप्त नहीं होती। व्यजना के स्रोत में 'भावातिरेक' की खुली छूट होती है। वक्ता अपने भावातिरेक को या प्रयोजन-वैशिष्ट्य को छिपाने या नियन्त्रित करने का प्रयास करता है। व्यंजना में बौद्धिक-कौशल द्वारा अपने आशय को अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से

सूच्य-अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से अभिधा का सम्बन्ध सामान्य, स्थिर एवं निश्चित अर्थ से होता है, जबकि शेष दोनों से सम्बन्ध अर्थ, असामान्य (विशिष्ट) अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं।

अर्थ-संख्या की दृष्टि से

अभिधा जहाँ सर्वत्र एक समय एक ही अर्थ को सूचित करती है, वहाँ लक्षणा में दो अर्थ रहते हैं' किन्तु इनमें एक अर्थ (वाच्यार्थ) अधूरा होता है, जिसकी पूर्ति द्वितीय अर्थ से होती है। व्यंजना में एक साथ दो या दो से अधिक अर्थ रहते हैं तथा वे दोनों अर्थ अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र होते हैं।

कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के कार्य-क्षेत्र में भी परस्पर गहरा अन्तर है। अभिधा का कार्य-क्षेत्र शब्दों से आरम्भ होता है, अर्थात् अलग-

अलग शब्दों का जो अर्थ हम प्राप्त करते हैं वह उनका अभिधात्मक अर्थ ही होता है। इसके विपरीत लक्षणा शक्ति अकेले शब्द में कभी सक्रिय नहीं होती। जब शब्द या शब्दों का संगठन वाक्य या उक्ति रूप में होता है तब ही विशेष परिस्थिति में लक्षणा उद्दीप्त होती है। इस प्रकार लक्षणा का क्षेत्र वाक्य है। व्यंजना का क्षेत्र लक्षणा से भी अधिक व्यापक है। उसकी उद्दीप्ति अकेले वाक्य में न होकर वाक्य-समूह या प्रकरण के क्षेत्र में होती है। अत: व्यंजना का क्षेत्र प्रसंग-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक माना जा सकता है।

प्रभाव की दृष्टि से

प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का महत्व उत्तरोत्तर अधिक है। अभिधा में कथन-शैली सामान्य रहती है, अत: उसका अपना कोई विशेष प्रभाव या आकर्षण नहीं होता—उसमें केवल कथ्य की विशेषता और मार्मिकता का ही आकर्षण रहता है। इसके विपरीत लक्षणा और व्यंजना में शैलीगत आकर्षण रहता है। लक्षणा और व्यंजना के आकर्षण में भी परस्पर थोड़ा अन्तर है। लाक्षणिक प्रयोगों के पीछे स्वच्छन्द भावावेग रहता है अत: उसमें भावात्मक आकर्षण की मात्रा अधिक रहती है, जबकि व्यंजना में भावातिरेक पर बौद्धिक नियन्त्रण रहने के कारण उसमें बौद्धिकता से युक्त भावात्मक आकर्षण रहता है। वस्तुत: प्रभाव की दृष्टि से इन तीनों शक्तियों का उत्तरोत्तर अधिक महत्व है।

इस प्रकार शब्द-शक्तियों का विकासात्मक, रचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

विशेष—कुछ आचार्यों ने 'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यंजना' के अतिरिक्त 'तात्पर्याख्याबृत्ति' के नाम से एक अतिरिक्त शब्द-शक्ति मानी है, क्योंकि उनके मत से वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त 'तात्पर्यार्थ' भी होता है। जो इसी शक्ति के द्वारा व्यक्त होता है। इस मत के पोषक 'कुमारिलभट्ट' माने जाते हैं। इन्हें 'अभिहितान्वयवादी' आचार्य कहते हैं। इनके विरोधी आचार्य 'प्रभाकर भट्ट' इस 'तात्पर्याख्याबृत्ति' को नहीं मानते। इन्हें 'अन्विताभिधानवादी' कहते हैं। कुमारिलभट्ट के अनुसार वाक्य में आगत पदों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, जो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से बहिर्भूत शब्द/शक्ति से समन्वित होकर 'तात्पर्यार्थ' के रूप में स्पष्ट होते हैं, वही शब्द/शक्ति विशेष 'तात्पर्याख्यावृत्ति' है।

प्रभाकरभट्ट के मत से वाक्य में आने के पूर्व अनेक पदों के अर्थ स्वत: परस्पर अन्वित हो जाते हैं और वाक्यार्थ का रूप प्राप्त कर लेते हैं,

शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना

तुलना का दृष्टिकोण	अभिधा	लक्षणा	व्यंजना
1 अर्थ के स्रोत की दृष्टि से	परम्परा	भावातिरेक-जन्य प्रयोग	बुद्धि नियन्त्रित भावात्मक प्रयोग
2. अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से	सामान्य स्थिर निश्चित	विशिष्ट अस्थिर दूरारूढ़	विशिष्ट, क्षणिक दुरूह
3. अर्थ/संख्या की दृष्टि से	एक	1।।	2 या दो से अधिक
4. कार्य/क्षेत्र की दृष्टि से	शब्द से लेकर सामान्य प्रसंग योजना तक	विशिष्ट वाक्य से लेकर प्रसंग तक	विशिष्ट प्रसंग से लेकर प्रबन्ध तक
5. आकर्षण-भेद की दृष्टि से	द्रव्यगत आकर्षण	भावात्मक आकार्षण	बौद्धिकता समन्वित भावात्मक आकर्षण
6. प्रभाव की दृष्टि से	न्यूनतम प्रभाव	गंभीर प्रभाव	अधिक गम्भीर प्रभाव

अत: उस शक्ति के मानने की आवश्यकता ही नहीं होती। अधिकांश आचार्यों ने 'तात्पर्याख्यावृत्ति' को मान्यता नहीं दी। वस्तुत: व्यंजना शक्ति के रहते हुए इसकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

काव्य एवं शैली

'शैली' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'शील' शब्द (शील) से मानी जाती है। 'शील' के अनेक अर्थ हैं–स्वभाव, लक्षण, झुकाव, आदत, चरित्र आदि। ये सभी अर्थ व्यक्ति की विभिन्न विशिष्टताओं के द्योतक हैं। जैसे स्वभाव मन की प्रकृति का सूचक है। 'शील' शब्द बहुत व्यापक है, उसका सम्बन्ध व्यक्ति की मनोवृत्ति, रुचि, आदत, व्यवहार, चरित्र आदि विभिन्न पक्षों से है। दूसरी ओर 'शील' का प्रयोग इन पक्षों की किसी एक विशेषता के साथ भी होता है। जैसे रूप-शील, गुण-शील, लज्जा-शील आदि। अत: 'शील' का सम्बन्ध व्यक्ति की विभिन्न वैयक्तिक विशेषताओं से है।

'शैली' शब्द व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं की अपेक्षा उसके क्रिया व्यापारों एवं रचना-कौशल के वैशिष्ट्य से अधिक सम्बन्धित है। आधुनिक युग में 'शैली' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के स्टाइल 'STYLE' शब्द के समानार्थक के रूप में होने लग गया है। अत: इसके प्रचलित अर्थ को समझने के लिए 'स्टाइल' को भी समझना आवश्यक है।

स्टाइल 'STYLE' और शैली–Style शब्द के भी विभिन्न युगों में विभिन्न अर्थ प्रचलित रहे हैं। मूलत: यह शब्द ग्रीक के (Stylos) एवं लैटिन के (Stylus) से सम्बन्धित है। लैटिन Stylus से ही Styles की व्युत्पत्ति मानी जाती है। Stylus का मूल अर्थ "नोकदार कलम" है। किन्तु आगे चलकर इसके समानार्थक 'स्टाइल' के अनेक अर्थ विकसित हो गए। जैसे लिखने का ढंग, लिखित रचना, लेखक विशेष की अभिव्यक्ति की विशिष्टता, साहित्यिक रचना की रूपगत विशेषताएँ, बोलने का लहजा तथा किसी कलाकार की रचना-पद्धति की विशिष्टता।

हिन्दी के 'शैली' शब्द का प्रयोग भी 'स्टाइल' के उपर्युक्त अर्थों में ही होता है, किन्तु इसका क्षेत्र अभी तक कलाओं तक ही सीमित है। हम छायावादी शैली गीतों, कांगड़ा-शैली के चित्रों एवं विभिन्न शैली के नृत्यों की चर्चा तो करते हैं, किन्तु अन्य क्षेत्रों में 'स्टाइल' की भाँति शैली का प्रयोग नहीं करते, किन्तु जहाँ तक साहित्य की शैली का सम्बन्ध है, 'स्टाइल' और 'शैली' के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रह गया। अत: हम दोनों को समानार्थक मान सकते हैं।

शैली की परिभाषा

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में साहित्य की शैली की शताधिक परिभाषाएँ प्रचलित हैं, जिनमें से अनेक परस्पर विरोधी एवं शैली के प्रचलित अर्थ के प्रतिकूल भी हैं।

प्लेटो–जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है, तो शैली का उदय होता है।

अरस्तू–शैली से वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होता है। अभिव्यंजना शैली कहने का उपयुक्त ढंग भी आना चाहिए।

मिडल्टनमरी–शैली भाषा की वह विशेषता है जो लेखक के विशिष्ट भाव या चिन्तन को ठीक-ठीक रूप से प्रेषित करती है।

Whipple–Style is the intimate and unseparable fact of the personality of the writer.

शैली लेखक के व्यक्तित्व का अन्तरंग एवं अविभाज्य तत्त्व है। चेस्टरफील्ड के अनुसार शैली विचारों का परिधान है।

Style is the dress of thoughts.

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए शैली तत्व के विवेचन से स्पष्ट प्रकट होता है कि वे लोग शैली के दो तत्व स्वीकार करते हैं–

1. वस्तु-पक्ष (अन्तर) 2. व्यक्ति पक्ष (वाह्य पक्ष)

इन दोनों को क्रमश: अन्त: पक्ष और वाह्य पक्ष कह सकते हैं। शैली के अन्त: पक्ष के अन्तर्गत शैली में अभिव्यक्त रचनाकार की व्यक्तिगत सबलताओं और दुर्बलताओं की व्याख्या की जाती है और फिर उनसे शैली के स्वरूप में जो परिवर्तन आते हैं उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती है।

शैली के वाह्य-पक्ष के अन्तर्गत अलंकार, गुण आदि की स्थिति का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य-शैली-तत्त्व विवेचन में वस्तु और व्यक्ति इन दोनों पक्षों का सन्तुलन रहता है। यदि प्रधानता की खोज की जाय तो व्यक्ति तत्त्व की ऊर्जस्विता दिखाई पड़ती है।

भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय काव्य शास्त्रों में शैली के अन्तर्गत रीतियों, वृत्तियों तथा गुणों का समावेश हो जाता है। रीतियाँ, वृत्तियाँ तथा गुण आपस में कितने संयुक्त हैं, इस पर संस्कृत आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा है। कुछ तो रीतियों और वृत्तियों की भिन्न-भिन्न सत्ता स्वीकार करते हैं, कुछ इन्हें एक ही मानते हैं। भोज ने रीतियों का सम्बन्ध बाहरी वर्ण-विन्यास से और वृत्तियों का

सम्बन्ध मन से दिखाया है, परन्तु भामह ने स्पष्ट शब्दों में कहा है जो वृत्तियों और रीतियों का विभाजन करते हैं तथा भिन्न-भिन्न नाम देते हैं वे बुद्धिहीन हैं–अर्थात् तीनों वृत्तियाँ (उपनागरिका, परुषा, कोमला) वामनादि के मत में ये तीनों रीतियाँ मानी गई हैं। यह कहकर वृत्तियों और रीतियों को एक मान लिया है। अत: इस प्रकार रीतियाँ, वृत्तियां, गुण (ये भी अन्तत: रीतियों के अन्तर्गत आते हैं) मूलत: एक ही हैं और शैली 'Style' के रूपमात्र माने जाते हैं।

शैली का महत्व

शैली के महत्व पर प्रकाश डालते हुए एक लेखक ने लिखा है–

Style is not the coat but is the skin of the writer. अर्थात् रीति लेखक के भावों की पोशाक न होकर त्वचा है, जिस प्रकार चर्मरोग ग्रसित शरीर का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार अव्यवस्थित पदयोजना से युक्त काव्य का सौन्दर्य भी खण्डित हो जाता है। अत: काव्य सौन्दर्य में शैली का वही स्थान है जो शरीर सौन्दर्य में त्वचा का है।

"यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि साहित्य में विषय की विशिष्टता के अनुसार उसकी शैली में भी वैशिष्ट्य का सचार अवश्य होता है–यह दूसरी बात है कि कहीं इसकी मात्रा इतनी न्यून हो कि उसे हम भलीभाँति न पहचान पायें, साथ ही यह भी सम्भव है कि लेखक के किसी विशेष आग्रह के कारण या किसी अन्य विशेष परिस्थितियों के कारण शैली में विषय वैशिष्ट्य का बिलकुल अभाव रहे, किन्तु सामान्य-स्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक नहीं।

शैली का सम्बन्ध व्यक्तित्व, विषय, पाठक एवं भाषा आदि से घनिष्ठ है। शैली का निर्माण किसी एक स्रोत पर आधारित नहीं, सभी स्रोतों का न्यूनाधिक योगदान रहता है और किसी रचना में शैली का सम्पूर्ण योगदान रहता है, जो रचना का शरीर या वाह्यविधान प्रस्तुत करती है। अत: शैली-विहीन रचना का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

काव्य और अभिव्यंजनावाद

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद का विकास–'अभिव्यंजनावाद' का बीजारोपण पाश्चात्य-देशों में सबसे पहले ग्रीक साहित्य में हुआ। 'लैंसिग' नामक आचार्य ने अपने 'सौन्दर्यवाद' की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सामने रक्खा कि आत्मा का सौन्दर्य ही कला और काव्य के रूप में अभिव्यक्त होता है।

यह अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है। लैंसिग का यह मत भारतीय महाकवि 'भवभूति' के 'वाणी को आत्मा की कला' कहने वाले मत से बहुत मिलता-जुलता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के "अयं पुरुष: वाङ्मय:" वाली उक्ति भी लैंसिग के सिद्धान्त से मिलती-जुलती प्रतीत होती है। इतना होते हुए भी 'लैंसिग' का सिद्धान्त आत्मा को ही काव्य के रूप में अभिव्यक्ति मानने वाले भारतीय सिद्धान्त से कई दृष्टियों से भिन्न है। इस भिन्नता के मूल में दोनों देशों के दर्शनों में प्रतिपादित आत्मा सम्बन्धी धारणाओं का वैषम्य और वैभिन्य है। जो भी हो, इतना तो हम कह सकते हैं कि साहित्य या काव्य को सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और विशेषकर मानव आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति स्वीकार करके दोनों ही देशों में अभिव्यंजनावाद को साहित्य का प्राणभूत सिद्धान्त व्यंजित किया गया है।

लैंसिग के बाद अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त का संकेत करने का श्रेय विकंलमैन नामक आचार्य को दिया जाता है। इन्होंने भी लैंसिग के सदृश्य ही काव्य को आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति माना है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि लैंसिग काव्य में आत्मा के विषादात्मक सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति स्वीकार करता है, जबकि विकंलमैन ने उसे उसकी प्रसादात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार किया है। विकंलमैन ने अभिव्यंजनावाद की विविध शैलियों और स्वरूपों पर भी प्रकाश डाला है।

इन उपर्युक्त दोनों आचार्यों ने अभिव्यंजनावाद की विवेचना कला या साहित्य के प्रसंग में ही की थी। आगे चलकर 'कॉण्ट' CANT नामक दार्शनिक ने उसे दर्शन क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। कॉण्ट ने ज्ञान के दो विभाग किए—

1. व्यावहारिक-ज्ञान। 2. विशुद्ध ज्ञान।

उसने कला को दोनों प्रकार के ज्ञानों की मध्यवर्तिनी सिद्ध करते हुए अनुभूति की अभिव्यक्ति या 'जजमेण्ट' कहा है।

काव्य-कला को मुक्त गगन में उन्मुक्त करने का श्रेय इसी आचार्य को दिया जाता है। योरोपीय 'उन्मुक्तवाद' या 'स्वच्छन्दतावाद' की प्रेरणा इस दार्शनिक के अभिव्यंजनावादी सिद्धान्त में सन्निहित है। इस प्रकार 'कॉण्ट' ने अभिव्यंजना के माध्यम से काव्य और कला में एक प्रकार का समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। आगे चलकर कॉलरिज ने इस सिद्धान्त के मार्ग को कुछ प्रशस्त किया। उसने यह प्रतिपादित किया कि मानसिक क्रिया से भिन्न किसी वाह्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। यह मत हमारे यहाँ 'पंचदशी' और 'योग वाशिष्ठ' आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित है।

इस सिद्धान्त ने साहित्य क्षेत्र में अन्तश्चेतनावाद, अभाववाद, वासनावाद आदि अनेकानेक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रवर्त्तन में योगदान दिया।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

क्रोचे के अनुसार कला और काव्य एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक प्रक्रिया की देन है। इसका अर्थ यह है कि उसके मत में परोक्ष सत्ता एक मानस व्यापार मात्र है। उसके अनुसार इस मानसिक क्रिया के अनेक नाम और रूप हो सकते हैं। इन्हीं नाम-रूप भेदों के कारण ही उस अखण्ड मानसिक व्यापार की विविध रूपी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है।

क्रोचे ने स्थूल रूप से मन व्यापार या आध्यात्मिक ज्ञान के दो पक्ष माने हैं–

1. ज्ञान या प्रज्ञा (सैद्धान्तिक पक्ष)
2. क्रिया या संकल्प (व्यावहारिक पक्ष)

ज्ञान या 'प्रज्ञा' के भी क्रोचे ने दो रूप माने हैं–1. स्वयं-प्रकाश ज्ञान या कलात्मक ज्ञान 2. तार्किक ज्ञान या प्रतिभा। प्रथम की अभिव्यक्ति मूर्तियों के माध्यम से होती है–उसका सम्बन्ध कला से बताया गया है और दूसरे से हम निर्णय करने में समर्थ होते हैं–यह तर्क और दर्शन की वस्तु है।

परिभाषा

'अभिव्यंजनावाद' का सम्बन्ध कलात्मक ज्ञान या 'प्रत्यक्ष-ज्ञान' से है। यह ज्ञान व्यष्टिमूलक और स्वतंत्र होता है। साथ ही वह दृश्य-जगत् की नाना वस्तुओं के संस्कारों से विशिष्ट रहता है। वाह्य रूपों से निरपेक्ष यही संस्कार जब कल्पना के सांचे में ढल कर निकलते हैं तो काव्य और कला क्षेत्र में उस अभिव्यक्ति को अभिव्यंजना कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिभज्ञान से उद्भूत कल्पना ही अभिव्यंजना की जननी है। कल्पना एक मन: व्यापार है जो सौन्दर्यात्मक सूक्ष्म और अमूर्त माना जाता है अमूर्त जनक और जननी से उद्भूत कल्पना भी पहले अमूर्त रूप में ही व्यक्त होती है बाद में वह किसी माध्यम का सहारा लेकर किसी साहित्य या कला का रूप धारण करती है। इस प्रकार क्रोचे ने कलात्मक ज्ञान की उद्भावना को भी अभिव्यंजना कहा है।

अभिव्यंजनावाद की मान्यताएँ

1. अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध सहज-ज्ञान या कलात्मक ज्ञान से है।
2. वह वाह्य-जीवन और जगत् से निरपेक्ष वस्तु है।
3. वह कवि या कलाकार की सौन्दर्य-भावना का गत्यात्मक रूप है।
4. वह गत्यात्मक रूप पहले सूक्ष्म रूप से कलाकार के मन में

स्फुरित होता है, वाद में आश्रय भेद से उसकी अभिव्यक्ति होती है ।

5. 'सहज-ज्ञान' स्वयं प्रतिच्छवि रूप है । वह प्रतिच्छवि केवल वाह्य-जगत् का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है, वह उसके पूर्व संस्कारों से नियन्त्रित रहती है ।

6. काव्य में अभिव्यंजना ही सब कुछ है जो एक अखण्ड-तत्त्व है ।

7. अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप है, उसका कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं है ।

8. सहजानुभूति की स्थिति स्वाभाविक है, प्रयत्नज या ऐच्छिक नहीं हो सकती । यह हमारी इच्छा पर अवलम्बित है कि हम उसे अभिव्यक्त करें या न करें ।

9. कला एक आध्यात्मिक क्रिया है, अभिव्यंजना उसका ही नाम है। कला अभिव्यंजना का मूर्त्तरूप है ।

10. अभिव्यंजना की प्रक्रिया में चार स्तर दिखाई पड़ते हैं । 1. संवेदना का स्फुरण 2. अमूर्त संवेदनाओं की प्रवाहमयता या सहजानुभूति 3. आनन्दानुभूति 4. सहजानुभूति का मूर्तिकरण ।

11. प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से ही कलामय है, क्योंकि उसमें सहजानुभूति होती है । जहाँ सहजानुभूति होती है वहाँ अभिव्यजना भी होती है ।

क्रोचे के मत से यह स्पष्ट नहीं है कि सौन्दर्य वस्तु में होता है या अभिव्यंजना में, या दोनों में ही । ऐसा प्रतीत होता है कि वे अभिव्यंजना को सौन्दर्य का ही रूपान्तर मानते हैं ।

अन्य विद्वान् एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार

शुक्ल जी अभिव्यंजना को उक्ति का अनूठापन ही मानते थे । जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है उसका कोई महत्व नहीं होता । तात्पर्य यह है कि अभिव्यजना में ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है । जिस वस्तु या भाव की अभिव्यजना की जाती है, वह क्या है ? वह कैसा है ? यह सब कुछ काव्य क्षेत्र के बाहर की वस्तु है । क्रोचे का कहना है कि "अनूठी-उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है । वह क्या है, कैसी है यह सब कुछ काव्य-क्षेत्र के बाहर की बात है । उसे किसी दूसरे के कथन का पर्याय नहीं समझना चाहिए ।"

आचार्य शुक्ल ने आगे कहा कि अभिव्यंजना काव्य को जीवन और जगत् से अलग करती है । उनके मत से काव्य में मन: व्यापार की अभिव्यक्ति नहीं होती, वरन् जीवन के रूप-व्यापारों, भावों और विचारों की अभिव्यंजना ही काव्य का सर्वस्व है । क्रोचे उनको केवल काव्य के उपादान

मात्र मानता है। उसमें उनका प्रत्यक्ष-सम्बन्ध–'प्रातिभ-ज्ञान' से माना है, जो ठीक नहीं, शुक्ल जी ने इस बात का खण्डन किया है।

क्रोचे के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों ने आपत्तियाँ उठाई हैं। क्रोचे कहीं पर भी कला की प्रेषणीयता वाली बात पर बल नहीं दिया। इस प्रकार विद्वानों ने अच्छी आलोचना की है। अभिव्यंजना आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती हुई भी कई दृष्टियों से पंगु प्रतीत होती है।

अनेक भारतीय विद्वानों ने तथा शुक्ल जी ने भी कुन्तक का 'वक्रोक्तिवाद' और क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' समझने में भूल की है। उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का बिलायती रूप तक कह डाला। एकाध स्थलों पर उन्होंने उसे 'वाग्वैचित्र्यवाद' कह दिया है। उनके मतानुसार 'वक्रोक्तिवाद' और 'अभिव्यंजनावाद' में इतना अन्तर है कि वक्रोक्तिवादी 'व्यंजना' का विशेष रूप से उपयोग करते थे और अभिव्यंजनावादी लक्षणों को प्रधानता देते थे।

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का अन्तर

दोनों वादों के स्वरूप का अध्ययन करने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि जो लोग दोनों वादों को सदृश समझते हैं, वे वास्तव में भूल करते हैं। वास्तव में अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार सादृश्य को छोड़कर दोनों सिद्धान्त शेष सभी दृष्टिकोणों से सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं।

अन्तर

1. 'अभिव्यंजनावाद' एक दार्शनिक सिद्धान्त है, जिसका साहित्य पर बरबस आरोप किया गया है। इसके विपरीत वक्रोतिवाद एक शुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त है। डा० नगेन्द्र–"वक्रोक्ति जहाँ कवि-कौशल है, अभिव्यंजनावाद वहाँ आध्यात्मिक आवश्यकता है।"

2. अभिव्यजना एक अखण्ड अद्वैत तत्त्व है, इसमें उक्ति और वस्तु, अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं रहता है। इसके विपरीत वक्रोक्तिवाद में सर्वत्र द्वैतभाव की प्रधानता रहती है। उसमें वस्तु और उक्ति का अलगाव रहता है।

3. अभिव्यंजना का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसका सम्बन्ध कला मात्र से है। इसके विपरीत 'वक्रोत्ति' केवल काव्य-कला की वस्तु है। अन्य ललित कलाओं में उसका कोई उपयोग नहीं रह जाता। इस दृष्टि से वक्रोक्तिवाद का विस्तार क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण है।

4. दोनों में स्वरूप भेद भी है। अभिव्यंजना के दो स्वरूप होते हैं–

एक निर्गुण और दूसरा सगुण अथवा एक मूर्त्त और दूसरा अमूर्त्त। किन्तु वक्रोक्ति केवल मूर्त्तरूप में रहती है। उसकी मूर्ति के उपादान शब्द और अर्थ होते हैं, जबकि अभिव्यंजना का उपादान स्वयं प्रकाशमान होता है।

5. वक्रोक्तिवाद की प्रवृत्ति अलंकार की ओर विशेष तत्पर रहती है, लेकिन अभिव्यंजनावाद का बाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अलंकार अनुगामी होकर अभिव्यंजनावाद के पीछे चल सकता है। वक्रोक्तिवाद के सदृश सहगामी होकर नहीं।

6. 'वक्रोक्ति' वैचित्र्य-प्रधान होती है, जो केवल हमारे मन और बुद्धि का अवसादन-प्रसादन-मात्र करके विरम जाती है। किन्तु अभिव्यंजना आध्यात्मिक क्रिया होने के कारण हमारी आत्मा से सम्बन्धित कही जाती है। आत्मा 'सच्चिदानन्द' स्वरूपी है। मत एवं 'अभिव्यंजना' में भी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीनों की अवस्थिति कल्पित की जा सकती है। वह केवल हमारे मन का अवसादन और प्रसादन करके ही शान्त नहीं हो जाती, वरन् हमारे मनोविकारों को परिष्कृत करके अभिव्यक्तिकर्त्ता को तत्त्ववेत्ता भी बना देती है।

7. दोनों में उद्देश्य सम्बन्धी अन्तर हैं। क्रोचे की अभिव्यंजना में अपना उद्देश्य स्वयं है, जबकि वक्रोक्ति का उद्देश्य चित्त को चमत्कृत करना मात्र है।

इस प्रकार क्रोचे का अभिव्यंजनावाद कुन्तक के 'वक्रोक्तिवाद से बहुत भिन्न है। अत: दोनों वादों को एक कदापि नहीं कहा जा सकता।

□

पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्त

साहित्यिक समीक्षा के अन्तर्गत् साहित्य की विचार सामग्री, उसकी व्याख्या तथा उसे प्रस्तुत करने वाले भाषा-शिल्प आदि के साथ-साथ कल्पना सौन्दर्यशास्त्र आदि प्रमुख हैं। परिचय में अतीत काल से ही साहित्य से जुड़े इन अनेक प्रश्नों पर विचार-विमर्श होने लगा था। परन्तु पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का शृंखलाबद्ध इतिहास प्लेटो से प्राप्त होता है। वस्तुतः पाश्चात्य समीक्षा का मूल यूनान से माना जाता है और प्लेटो को प्रथम पाश्चात्य समीक्षक। प्लेटो ने प्रत्येक ज्ञान और व्यवहार को सामाजिक उपयोगिता की कसौटी पर परखा था, साहित्य की परख के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण था। अत: उन्होंने अपने युगीन साहित्य पर निम्नलिखित आरोप लगाये–

(1) साहित्य अज्ञान-जन्य होता है।

(2) साहित्य सत्य से दूर होता है।

(3) साहित्य क्षुद्र मानवीय वासनाओं से उत्पन्न होता है और क्षुद्र मानवीय वासनाओं को उभारता है।

इस प्रकार सुप्रसिद्ध विचारक प्लेटो की साहित्य के प्रति धारणा-हीन दृष्टिकोण से प्रभावित है। यदि विवेचन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी यह धारणा किन्हीं अंशों में अपने युगीन जीवन और युगीन 'एरिस्टो फेनिस नाटकों' को केन्द्र में रखकर निर्धारित की गई। कालान्तर में उन्हीं के शिष्य अरस्तू ने अपने आचार्य प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर देते हुए साहित्य समीक्षा को नवीन दृष्टि प्रदान की। अरस्तू की मान्यता थी कि साहित्य सत्य से दूर नहीं होता उसमें इतिहास की अपेक्षा अधिक व्यापक और सार्व-भौम सत्य होता है। साहित्य वासनाओं का संपोषण नहीं करता है वरन् विवे-चन करता है और मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। इस प्रकार पाश्चात्य जगत में साहित्य के प्रति चिन्तन मनन का एक लम्बा सिलसिला अतीत काल से मिलता है। यूनानी चिन्तकों में प्लेटो और अरस्तू के उपरान्त तीसरा नाम लौंजाइनस का आता है जिन्होंने साहित्य समीक्षा को विस्तृत आयाम दिये। लेटिन के इन तीन समीक्षकों के उपरान्त पाश्चात्य समीक्षा

को अंग्रेजी साहित्य के पुनर्जागरणकाल (1400 ई० से 1660 ई०) ने बहुत अधिक समृद्ध किया जिसका क्रमबद्ध विवेचन आगे किया गया है।

यहाँ पर पश्चिमी-काव्यशास्त्र के कुछ उन प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा जिन्होंने भारतीय काव्यशास्त्रीय-मान्यताओं की ही भाँति आधुनिक काल में हिन्दी-समालोचना पर अपना गहरा प्रभाव डाला है। इसमें से प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं–

1. अनुकृति-सिद्धान्त (अरस्तू)
2. उदात्तता-सिद्धान्त (लोंजाइनस)
3 आदर्शवादी-सिद्धान्त (टॉलसटॉय)
4. अभिव्यंजनावादी (क्रोचे)
5. अव्यक्तिवाद (टी० एस० इलियट)
6. मनोवैज्ञानिक-मूल्यवाद (आई० ए० रिचर्ड् स)
7. मनोविश्लेषणवाद (सिगमंड फ्रायड)
8. मार्क्सवाद (कार्ल मार्क्स)

अनुकृति-सिद्धान्त

अरस्तू ने काव्य को कला की श्रेणी में रखा है उसे 'अनुकरणमूलक' कहा है। वह यह मानता है कि काव्य-भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनः सृजन होता है। उसने काव्य के रूप पक्ष को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है और यह कहा है कि काव्य अथवा कला का एक ही मूलतत्त्व होता है, वह है 'अनुकरण'। अरस्तू के अनुसार सामान्यतः कविता दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है और इन दोनों की ही जड़ें हमारे स्वभाव में गहरी हैं–

1. अनुकरण की सहज-प्रवृत्ति।
2. सामञ्जस्य और लय।

छन्द भी स्पष्टतः 'लय' के ही अनुभाग होते हैं। इसीलिए जो इस सहज-शक्ति से सम्पन्न थे, उन्होंने धीरे-धीरे अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों का विकास कर लिया और अन्त में उनकी आशु रचनाओं से कविता का जन्म हुआ।

अरस्तू ने कला को प्रकृति का अनुकरण माना है। यथा–काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। यह 'अनुकरण' शब्द अंग्रेजी के Imitation शब्द का अनुवाद है। पाश्चात्य चिन्तकों के अनुसार संसार के समस्त पदार्थ असत्य हैं, प्रतीति मात्र हैं, अनुकृति हैं। वे मूल सत्य का (Idia) अनुकरण हैं। इस हेतु काव्यरचना सत्य से दूर होती है। अरस्तू

ने कला को प्रकृति का अनुकरण तो बतलाया, किन्तु 'प्रकृति' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं किया, फलतः इसके अनेक अर्थ लगाये गए। वस्तुतः अरस्तू ने प्रकृति का अर्थ वाह्य एवं आन्तरिक सृजन की प्रक्रिया माना है।

अरस्तू ने तीन प्रकार की वस्तुओं को अनुकार्य माना है–

1. **रूप**–यथार्थजगत्, जिसका मूर्त अस्तित्व है।

2. **प्रतीयमानरूप**-मानसिक बिम्ब द्वारा सम्भावित रूप।

3. **आदर्शरूप**–जैसी उन्हें होनी चाहिए।

इसमें प्रथम में इन्द्रियजन्य लय की प्रधानता है, शेष दो में कल्पना का प्राधान्य है। बिना कल्पना के अनुकरण सम्भव भी नहीं है। हृदय का बिम्ब कल्पना द्वारा ही अंकित किया जा सकता है। कवि को इस अनुकरण में आनन्द की उपलब्धि भी होती है। इस प्रकार अरस्तू ने वस्तुतत्व और आनन्दतत्व को संपृक्त कर दिया है।

अनुकरण का माध्यम, विषय एवं विधि प्रत्येक में भिन्न होता है। प्रो० बूचर ने 'अनुकरण' का अर्थ 'सादृश्य विधान' माना है। 'पाटस' ने ने आत्माभिव्यक्ति से भिन्न, जीवन को (की अनुभूति) का पुनः सृजन माना है।

प्रो० जेम्स का मत है–अरस्तू के काव्यशास्त्र में अनुकरण से अभिप्राय है, साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुर्ननिर्माण कह सकते हैं।

निष्कर्ष–अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में काव्यरचना का तात्पर्य यथार्थ चित्रणमात्र नहीं है, उसमें कल्पना का मिश्रण है। कवि जो सृजन करता है, वह मौलिक न होकर वस्तु का पुनः सृजन होता है। इस सृजन में कवि को आनन्द की भी प्राप्ति होती है। इस मत ने काव्य में जीवनतत्त्व की प्रधानता स्थापित कर काव्य को जीवन से संपृक्त कर दिया, यह इसकी महत्त्वपूर्ण देन है।

उदात्तता का सिद्धान्त

यूनानी काव्यशास्त्र में अरस्तू के बाद 'लोंजाइनस' का विशेष महत्त्व है। उसकी मान्यताओं के आधार पर ही उदात्तता का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। लोंजाइनस ने भावुक के मन पर पड़ने वाले काव्यानन्द के प्रभाव का गहरा अध्ययन किया है और आनन्दानुभूति की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। उसने स्वीकार किया है कि हर प्रभाव अपने आप में मूल्यवान नहीं होता। अतः साहित्य का मूल्यांकन इस आधार पर होना चाहिए कि किसी रचना के अध्ययन के पश्चात् पाठक आनन्दानुभूति का अनुभव करता

है या नहीं। यदि वह आनन्दानुभूति का अनुभव करता है तो रचना मूल्य-वान् है। "क्योंकि लोंजाइनस ने यह माना है कि भावविचारों में जब तक महानता या 'उदात्तता' न होगी वह भावुक या पाठक को आनन्दानुभूति में तल्लीन नहीं कर सकती है।"

'लोंजाइनस' ने मानव की उच्चतम प्रवृत्तियों का सम्बन्ध काव्या-नुभूति से सम्बद्ध कर दिया। उनका कहना है कि "काव्य के विषय में भिन्न आदत, जीवन, महत्त्वाकांक्षा और युग के लोग समान दृष्टि रखते हैं।"

"For when men of diffirent habits lives ambitions ages take one and the same view about the same writing."

लोंजाइनस ने कल्पना को मानव-प्रेरित माना है और कल्पना का कविता में प्रमुख उद्देश्य शक्ति-सम्पन्नता उत्पन्न करना, मूर्ति-विधान करना तथा वस्तु, भाव एवं विचारों को स्पष्ट करना सिद्ध किया है। उसने काव्य में 'भावना-तत्त्व' और 'कल्पना-तत्त्व' की महत्ता को बराबर स्वीकार किया है। कविता की महत्ता मात्र आनन्द 'रमणीयता' हृदय अथवा बुद्धि पर पड़े हुए प्रभावों पर ही नहीं आश्रित होती है अपितु उस शक्ति पर आश्रित होती है जो भावुक के समूचे व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती है।

लोंजाइनस के अनुसार अच्छी कविता वही होती है जिसमें रमणी-यता तथा मन में भावनाओं को उत्पन्न करने की समर्थता होती है। उसने काव्य के कला पक्ष (अलंकार, गुण, रीति आदि) का स्रोत भावावेग माना है। काव्य का विषय असाधारण वस्तुएँ ही उत्पन्न करती हैं। उसने कविता को अलौकिक तथा दैवी मानकर आध्यात्मिक धरातल पर अधिष्ठित किया है। उसने स्वीकार किया है कि मनुष्य के सामान्य-जीवन का 'सत्य' ही उदात्त का भी सत्य है। उसने उदात्त-भाषा के 5 स्रोत माने हैं–

नैसर्गिक–1. विचारों को प्रकट करने की समर्थता।
2. प्रेरणा-प्रसूत एवं उद्दाम आवेग।

कला–3. समुचित अलंकार-योजना।
4. साधु-भाषा।
5. गौरवपूर्ण रचना-विधान।

इनमें प्रथम दो तत्त्व तो नैसर्गिक हैं तथा शेष तीन कला की निष्पत्ति हैं। उपर्युक्त वर्णित तत्त्वों का वैविध्य, अतिशयोक्ति तथा बहुवचन प्रयोग एक ओर सफलता और दूसरी ओर विफलता का कारण भी हो सकता है। लोंजाइनस के अनुसार कोई रचनाकार तभी महान हो सकता है, जब उसमें औदात्य का गुण हो। ऐसी स्थिति में औदात्य-गुण-सम्पन्न लेखक की रचना

स्वयमेव आनन्दोपलब्धि प्रदान करती है। रचना में उदात्त तत्त्वों का समावेश तभी होता है, जब उसके रचनाकार के विचार महान एवं व्यापक परिवेश पर निर्मित होते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त

महान उपन्यासकार और आलोचक 'टॉलस्टॉय' 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी थे। इसी के विरोध में उन्होंने आदर्शवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। टॉलस्टॉय के अनुसार कला वह माध्यम है जिसके अनुसार कलाकार अपनी अनुभूत भावनाओं के द्वारा दूसरों को प्रभावित करता है। यदि वह किसी को प्रभावित करने में असमर्थ है, तो उसकी रचना कला का स्वरूप नहीं हो सकती और न ही वह कलाकार श्रेष्ठ पद का ही अधिकारी हो सकता है। कोई भी कलाकृति किसी-न-किसी नवीनता की अभिव्यक्ति करती है और अनिवार्यत: उसमें वस्तु, रूप-विधान और सत्यता के तत्त्वों का समावेश हो ही जाता है। टॉलस्टॉय ने कला, कला के सम्बन्ध में तीन श्रेणियाँ बनाईं, जो इस प्रकार हैं–

1. एक वे जिनमें वस्तु-तत्त्व एवं सौन्दर्य के सद्भाव तथा निष्ठा की न्यूनता होती है।

2 दूसरी वे, जिनमें सद्भाव तो है, किन्तु निष्ठा एवं सौन्दर्य की न्यूनता होती है।

3. तीसरी वे जिनमें वस्तु-तत्त्व की न्यूनता होते हुए भी सौन्दर्य एवं निष्ठा होती है।

इसी आधार पर वर्ग बनाये जा सकते हैं और कलाकृतियों का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। कला वास्तव में आनन्द का साधन नहीं वरन् मानव जीवन का एक तत्त्व है। वह मानवीय जीवन से घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित है भाषा की भाँति कला भी मानव विचारों एवं अनुभवों का प्रेषण करती है तथा उनके संगठन के माध्यम का कार्य करती है। इस प्रकार वस्तुत: पूर्णरूप से मानवीय प्रक्रिया है।

'टॉलस्टॉय' ने साहित्य का आधार धर्म माना है, पर उसने यह भी स्वीकार किया है कि कला न ईश्वर की रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति है, न वह ऐसी क्रीड़ा, जिसमें मनुष्य अपनी संचय-शक्ति के अतिरेक का उत्सर्ग करता है; न वह केवल आनन्द है जैसा कि विभिन्न विचारधाराओं के लोग कहते हैं।

"सम्पूर्ण मानव जीवन विविध प्रकार की कलाओं से ओत-प्रोत है। लोरी, हास्य, स्वांग, घरों की सजावट, वेश-भूषा, वर्तनों से लेकर गिरजे की

प्रार्थनाओं, भवनों, स्मारकों तथा विजय-यात्राओं तक यह सब कलात्मक क्रियायें हैं। अत: संकुचित अर्थ में कला द्वारा हम भावनाओं का सम्प्रेषण करने वाली मानवीय क्रियाओं का अर्थ नहीं लेते, किन्तु केवल उसी अंश का अर्थ लेते हैं, जिसे हम किसी कारण से उसमें से चुन लेते हैं और जिसे हम विशिष्ट महत्त्व प्रदान करते हैं।"

टॉलस्टॉय के इन आदर्शवादी सिद्धान्तों से पाश्चात्य समालोचना के क्षेत्र में नूतन-क्रान्ति का आविर्भाव हुआ और कला को मानव जीवन से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया जाने लगा, जिससे कला को मानवीय-प्रतिक्रिया समझकर कला के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान स्थापित हुए।

अभिव्यञ्जनावाद (१८६६-१९५२)

इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक "बेनेडेटोक्रोचे" आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होंने सौन्दर्य-शास्त्र के नियमों पर आधारित अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया, जो 'अभिव्यञ्जनावाद' के नाम से प्रसिद्ध हुए। क्रोचे ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कला अन्तर्भूत भावना या सहज ज्ञान (Intuition) है। इसका सम्बन्ध किसी भी स्थिति में वाह्यवस्तु से नहीं किया जा सकता, क्योंकि वाह्यवस्तु यथार्थ नहीं है। क्रोचे ने यह भी स्वीकार किया है कि सौन्दर्य, सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति है। सहज-ज्ञान और अभिव्यञ्जना घनिष्ठ रूप में परस्पर सम्बन्धित हैं। अत: इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहज-ज्ञान है या सौन्दर्य ही अभिव्यञ्जना है।

क्रोचे ने ज्ञान के दो रूप माने हैं–सहजानुभूत-ज्ञान के लिए बौद्धिक-ज्ञान की आवश्यकता। सहजानुभूति अथवा अभिव्यञ्जनात्मक ज्ञान का सम्बन्ध सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्यों के साथ है। कला वास्तव में प्रभावों की अभिव्यञ्जना होती है, न कि अभिव्यञ्जना की अभिव्यञ्जना। क्रोचे के इस अभिव्यञ्जनावादी सिद्धान्त ने पश्चिम-साहित्य में ही सौन्दर्य-चिन्तन का विकास नहीं किया, वरन् भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन की परम्परा को उसने घनिष्ठ रूप से प्रभावित किया है।

अभिव्यक्तिवाद (१९१७)

टी० एस० इलियट वर्तमान अंग्रेजी साहित्य के युग प्रवर्त्तक कवि एवं विचारक माने जाते हैं। वे अव्यक्तिवाद के प्रवर्त्तक हैं। उन्होंने लिखा है कि "कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से पलायन है। कवि व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति नहीं देता, बल्कि एक विशिष्ट माध्यम को; जो सिर्फ माध्यम ही होता है। 'व्यक्तित्व' नहीं जिसमें मन पर पड़े प्रभाव और

अनुभूतियाँ विचित्र और अप्रत्याशित ढंगों से संयुक्त होती हैं, जो प्रभाव और अनुभूतियाँ मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण होती हैं सम्भव है कि कविता में उनको स्थान न मिले और जो अनुभूतियाँ कविता में महत्वपूर्ण होती हैं मनुष्य के अन्दर अर्थात् उसके व्यक्तित्व में उसकी भूमिका शायद नगण्य होती है।" इलियट ने यह स्वीकार किया है कि कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति से निर्लिप्त रहता है।

मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद

यूरोप के वर्तमान काव्यशास्त्र के इतिहास में 'डॉ० आई० ए० रिचार्ड्स' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। रिचार्ड्स ने आलोचना क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक मूल्यों पर बल दिया है। उन्होंने साहित्य और जीवन में अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया, क्योंकि उसका आविर्भाव जीवन से ही होता है और वह जीवन के लिए रचा जाता है। उनकी आलोचना-दृष्टि मानवतावादी है। उनके अनुसार कला और साहित्य को जीवन की उपयोगिता से अलग करके देखना और उस पर विचार-विमर्श करना असंगत है। उन्होंने कहा—कला और साहित्य की अनुभूतियाँ भी जीवन की अन्य अनुभूतियों के समान होती हैं। रिचार्ड्स ने आलोचक को जीवन के मूल्यों का निर्णायक एवं समाज के मानसिक स्तर की विशेषता की रक्षा करने वाला, नियामक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। आलोचक का सामाजिक मन के स्वास्थ्य से एक डाक्टर की भाँति ही सम्बन्ध होता है और उसकी उचित देख-भाल करनी पड़ती है।

जो लोग कला के नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण को अधिक महत्व नहीं प्रदान करते हैं और उसकी अपेक्षा कला को स्वतः साध्य-सृष्टि मानते हैं, रिचार्ड्स ऐसे विचारकों की मनोवृत्ति पर अपना असन्तोष प्रकट करते हैं। वे काव्य के माध्यम से विभिन्न-वृत्तियों का सामञ्जस्य सम्भव मानते हैं, साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि इसकी सहायता से व्यक्ति में आन्तरिक सामंजस्य भी स्थापित किया जा सकता है। सामञ्जस्य की दिशा का निर्धारण सामाजिक व्यवहार की मर्यादा तथा औचित्य के माध्यम से ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार रिचार्ड्स के मूल्यों की कसौटी एक ओर व्यक्तिगत मनोविज्ञान पर आधारित है, दूसरी ओर वह लोकमंगल से भी घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित है। उसकी यह मूल्य-दृष्टि देशकाल तथा पात्र के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इसीलिये वह गत्यात्मक कोटि की है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने जीवन तथा काव्य को नीति से सम्बन्धित किया है।

'कविता-कविता के लिए' की मान्यता से रिचार्ड्स ने यह निष्कर्ष

निकाला है कि यह अनुभूति अपने आप में साध्य है। दूसरे यह निहित-महत्ता ही उसका काव्य मूल है। 'रिचार्ड्स' ने मूल्य तथा प्रेषणीयता पर अधिक बल दिया है। उनका यह प्रेषणीयता का सिद्धान्त कलात्मक भाव अथवा अनुभूति से सम्बद्ध है। कला द्वारा प्राप्त अनुभूति को उन्होंने सामान्यीकरण सामान्यीकृत-अनुभूति या कल्पनापरक-अनुभूति के रूप में विवेचित किया है। साहित्य में प्रेषणीयता के तत्त्वों को उन्होंने इतना अधिक महत्व दिया कि यह कहना गलत न होगा कि बिना प्रेषणीयता के साहित्य सृजन की कल्पना असम्भव है; क्योंकि प्रेषणीयता काव्य का अचेतन-तत्त्व है। कोई भी 'स्वान्त:सुखाय' की भावना से क्यों न लिखा गया हो, प्रेषणीयता-तत्त्वों से वंचित नहीं रह सकता। इस प्रकार उन्होंने कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष को अधिक महत्ता प्रदान की। यह स्पष्ट है कि तर्क-सङ्गत आलोचना मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद द्वारा ही सम्भव हो सकती है, यह रिचार्ड्स द्वारा कलावादियों को एक जबरदस्त चुनौती थी।

मनोविश्लेषणवाद (१८५६-१९३९)

'सिगमण्ड फ्रायड' के मनोविश्लेषणावादी सिद्धान्त ने आधुनिक युग में जितनी क्रान्ति विचारों के क्षेत्र में उत्पन्न की है, उतनी किसी अन्य विचार-धारा में नहीं। फ्रायड ने यह स्वीकार किया कि कवियों के अवचेतन मन में साधारण व्यक्तियों की भाँति कुण्ठाएँ एवं वर्जनाएँ होती हैं, जिनका वह शमन करने का प्रयास करता है। परन्तु कर नहीं पाता। वह सामान्य से अधिक बौद्धिक होता है। इसलिये वह उसकी अभिव्यक्ति काल्पनिक जगत् में काव्य के माध्यम से कर अवचेतन में सन्तोष प्राप्त करता है। इस प्रकार काव्य का एकमात्र उद्देश्य–कवि द्वारा अपनी आत्मा को सन्तोष प्रदान करना है। फ्रायड ने काव्य की परख वैयक्तिक-मनोविज्ञान के माध्यम से करने का प्रयत्न किया। काव्य में कवि व्यक्तित्व का एकांगीभाव ही प्रकाशित होता है। जो अवचेतन मन की कुण्ठाओं से सम्बन्धित होता है। अस्तु इस कल्पनात्मक काव्यजगत की अवास्तविकता का साहित्यिक-प्रविधि पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

जिस आनन्द का उपभोग अपने जीवन में मानव एक बार कर लेता है, फिर उसका त्याग न चाहते हुए भी सरलता से नहीं कर सकता और मान लिया कि हम किसी वस्तु का त्याग करते भी हैं तो वह एक प्रकार का विनिमय ही होता है। फ्रायड के अनुसार अधिकांश मनुष्य जीवन भर काल्पनिक चित्रों का निर्माण करते रहते हैं। आदमी जीवन में सुखी है, वह

काल्पनिक चित्रों का निर्माण नहीं करता। काल्पनिक चित्रों का निर्माण जीवन में असन्तुष्ट व्यक्ति ही करते हैं। अतृप्त-इच्छाएँ एवं भावनाएँ ही इन काल्पनिक चित्रों को प्रेरणा प्रदान करती हैं। ये अतृप्त-इच्छाएँ या भावनाएँ दो प्रकार की होती हैं—या तो महत्वाकांक्षाएँ होती हैं या फिर काम-मूलक होती हैं।

फ्रायड ने कवियों का सम्बन्ध इन प्रवृत्तियों एवं दिवास्वप्नों से जोड़ते हुए बताया कि साहित्यकार अपने दिवास्वप्नों के अंहपूर्ण स्वरूप का रूपान्तरों एवं परिवर्तनों द्वारा परिहार कर सकता है और अपने दिवास्वप्नों की अभिव्यक्ति के द्वारा वह हमें शुद्धरूपात्मक अर्थात् सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी आनन्द प्रदान करने का प्रलोभन दे सकता है। हमें सौन्दर्य-बोध का जो आनन्द मिलता है, वह 'अग्रिम आनन्द' है और साहित्य के सच्चे आनन्द का उद्रेक हमारे मस्तिष्क के तनाव से मुक्त होने पर होता है। इस काव्य की प्राप्ति में कई उपकरणों का योग होता है। इन उपकरणों में सबसे महत्त्वपूर्ण शायद 'कौशल' है। यह हमें एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है, जहाँ हम बिना किसी तिरष्कार अथवा लज्जा का बोध किये अपने दिवास्वप्नों का रसास्वादन करते हैं। यहाँ हम एक ऐसे पथ पर पहुँच जाते हैं, जिसके सम्बन्ध में नए एवं रोचक तथा जटिल अनुसन्धान हो सकते हैं। इस प्रकार फ्रायड ने काम भावनाओं एवं दिवास्वप्नों को काव्य-सृजन की मूलप्रेरणा मानकर नवीन विचारधारा का सृजन किया।

मार्क्सवाद

साहित्यालोचन की दिशा में मार्क्सवाद का प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि कार्लमार्क्स (1818–1883) का साहित्यालोचन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं, फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित-दर्शन कला एवं साहित्य के सम्बन्ध में प्रकट की गई मान्यताएँ इतनी प्रभावशालिनी सिद्ध हुई हैं कि साहित्यालोचन उससे अछूता नहीं रह सका।

मार्क्सवादी, साहित्य का प्रधान उद्देश्य वर्गहीन समाज की स्थापना मानता है। साहित्य का सम्बन्ध युगीन-जीवन एवं वर्ग-संघर्ष से होना अनिवार्य मानता है। मार्क्सवाद काव्य का मूलाधार आर्थिक मानता है। इसीलिए काव्य-निर्माण-सम्बन्धी दिशाएँ देने की उत्पादन-प्रणाली एवं आर्थिक-व्यवस्था के अनुरूप परिवर्तित होती रहती हैं। इस प्रकार साहित्य का विकास मूलत: आर्थिक विकास पर ही निर्भर रहता है। कला का आस्वादन के सम्बन्ध में कलात्मक दृष्टि से संस्कृत होना अनिवार्य होता है। मार्क्स-

वाद का दार्शनिक दृष्टिकोण 'द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद' के नाम से विख्यात है। द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद के अनुसार सृष्टि का मूल 'सत्य पदार्थ' है। वह निरन्तर परिवर्तनशील अवस्था में रहती है। इसीलिए इसे द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही जाना जा सकता है। प्रत्यय और पदार्थ को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, क्योंकि सृष्टि में प्रत्यय, पदार्थ के बाद ही आया। प्रत्यय-पदार्थ प्रसूत है और उसका अस्तित्व स्वतन्त्र होता है। संसार के प्रत्येक परिवर्तन को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखना चाहिए। द्वन्द्वात्मक में संघर्ष एक अनिवार्य स्थिति है। यह संघर्ष मूलतः दो परस्पर विरोधी शक्तियों में होता है। इस सृष्टि का परिवर्तन मूल सत्य है। जिसे यह संघर्ष प्रभावित करता है। द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद 'हीगल' के द्वन्द्वात्मक-प्रत्ययवाद से आविर्भूत है। यह पूंजीवाद-व्यवस्था-शोषण पर आधारित है। 'शोषण' पूंजीवाद-वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग का होता हैं। परिश्रम तो सर्वहारा-वर्ग करता है, पर लाभ यह इने-गिने लोग उठाते हैं, जो पूंजीवाद-वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं। समाज में यह शोषण समाप्त होना चाहिए। पर चूंकि पूंजीवादी वर्ग शक्तिशाली है और सर्वहारा वर्ग शक्तिहीन, इसलिए यह शोषण सरलता से समाप्त नहीं होगा। इसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। मार्क्सवादी इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध साहित्य से जोड़कर उसमें इन्हीं विशेषताओं को खोजने का प्रयत्न करते हैं कि उसमें समाजवादी यथार्थ है या नहीं। यह दृष्टि बड़ी प्रगतिशील और उपयोगी है।

प्लेटो की काव्य-विषयक-धारणा

पाश्चात्य विद्वानों की साहित्य-समीक्षक-परम्परा में 'प्लेटो' का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है, क्योंकि इनका अस्तित्व प्रसिद्ध काव्याचार्य 'अरस्तू' से भी पूर्व माना जाता है। 'प्लेटो' नैतिकता एवं सदाचार के पक्षपाती थे, फलतः वे काव्य में भी इनका प्राधान्य देखना चाहते थे। इनके समय काव्य का स्तर भी 'मनोरंजन' के सस्ते उद्देश्य तक सीमित था। प्रायः तत्कालीन रचनाओं में ऐसे तत्त्वों की प्रधानता रहती थी, जो अवाञ्छनीय एवं अभद्र कहे जाते हैं। उनसे मानव-जीवन को कोई ऐसा सम्बल नहीं मिल सकता, जो समाज के उदात्तीकरण में सहायक हो। यद्यपि प्लेटो ने काव्यसिद्धान्त से सम्बद्ध किसी स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना नहीं की, किन्तु विचार उनकी तीन रचनाओं के माध्यम से ज्ञातव्य है। इनकी प्रारम्भिक रचना 'फीड्रस' (Fidrus) और 'आयोन' (Ayon) के अतिरिक्त परवर्ती रचना 'रिपब्लिक' (Republic) में भी इनके विचारों की झलक मिलती है।

इन्होंने अपनी प्रथम दो रचनाओं में काव्य के प्रति प्राचीन दृष्टि-

कोण अपनाया है । यथा–"The right gunction of art is to put before the soul of the images of what is intrinsically great and beautiful."

अर्थात् कला का सही कार्य यह है कि वह मानव-स्वभाव का सच्चा-चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करे कि उससे मानव-स्वभाव में जो कुछ भी महान् एवं सुन्दर है, उसकी समवृद्धि हो।

काव्य-रचना के सम्बन्ध में प्लेटो ने लिखा है कि ईश्वर की प्रेरणा से ही कवि काव्य रचना में प्रवृत्त होता है । उस प्रेरणा के होते ही कवि उन्माद की स्थिति में हो जाता है, क्योंकि काव्य-कला की अलौकिक दैवी शक्तियाँ उसके मानस पटल पर अधिकृत हो जाती हैं । इस स्थिति में कवि 'कल्पना' का आश्रय लेकर जीवन की गम्भीरता की प्रतीति कर लेता है और उसी की अभिव्यक्ति कर देता है । ईश्वर-प्रेरित कवि होता है, अत: वह कविता-पाठकों को आकृष्ट कर लेती है और पाठक श्रोताओं को आकृष्ट कर लेते हैं ।

प्लेटो की मान्यता है कि ईश्वर मूल सत्य का कर्ता है, उसकी अपूर्ण अनुकृति संसार है और संसार की अनुकृति काव्य है । इस प्रकार काव्य 'मूलसत्य' से पर्याप्त दूर है । यथा–

Poetry is twice removed from the reality.

अर्थात् कविता से द्विगुणित पृथक् है । इसका तात्पर्य यही है कि वह अनुकरण का अनुकरण है । काव्य को ही नहीं, अपितु समस्त कलाओं को भी 'प्लेटो' 'अनुकृतिमूलक' मानते हैं । इनकी दृष्टि में काव्य सत्यभाषित होने वाले विषयों का अनुकरण एव कवि-क्रीड़ा का एक भेदमात्र है । यथा–

"Imitation is only a kind & play or Sport."

प्लेटो की विचारधारा का मुख्य कारण उनकी दार्शनिकता एवं नैतिक दृष्टि थी । इसी आधार पर वे काव्य को भी कसना चाहते थे । आगे चलकर 'रिपब्लिकन' नामक ग्रन्थ में उन्होंने कवि पर आक्षेप किये और 'कविता' को असत्य ठहराया । मुख्यत: उनके 4 आक्षेप इस प्रकार हैं–

प्रथम आक्षेप–कवि ईश्वरीय प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर 'आवेश' की रचना करता है, अपनी इस स्थिति में वह अप्रकृतिस्थ रहता है। विवेक या ज्ञान की स्थिति में न रहने के कारण, वह जो भी रचना करता है वह भी अविवेकपूर्ण होती है, अत: उससे समाजकल्याण नहीं हो सकता ।

द्वितीय आक्षेप–काव्य अपने माध्यम से श्रोता या पाठक को मिथ्याचारी बनाता है । कवि तो प्रकृति का अनुकरण करता है और उसका अनु-

करण पाठक या श्रोता अथवा नाटकदर्शक करते हैं। इस प्रकार मिथ्याचरण को प्रोत्साहन मिलता है, जो समाज के लिए हितकर नहीं है।

तृतीय-आक्षेप—कवि प्रकृति का अनुकरण करता है, प्रकृति स्वयं सत्य का अनुकरण है, अतः मिथ्या है और इसी मिथ्या प्रकृति की अनुकृति होने से काव्य भी मिथ्या है। इस प्रकार काव्य समाज हितकारी नहीं प्रतीत होता।

चतुर्थ-आक्षेप—काव्य में 'आवेश' की प्रधानता होती है। आवेश और कुछ नहीं मानवीय-दुर्बलता का प्रतीक है। काव्य इन्हीं क्रोध, उत्साह, रति आदि आवेशों को हृदयवर्जक रूपों में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार काव्य मानवीय दुर्बलताओं का प्रचारक है। वस्तुतः कवि एक प्रमादी एवं अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति होता है, वह नैतिक प्राणी नहीं हो सकता। वह पाठकों तथा श्रोताओं में उन्माद का प्रचार एवं प्रसार करता है, जिससे नैतिक-अनाचार की अभिवृद्धि होती है। अतः आदर्शराज्य में कवि के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्लेटो ने अपने देशवासियों को कविता का बहिष्कार करने का परामर्श दिया था—"We should expel from the city such being her nature, in case she should accuse us of brutality and bourishness......Let us state the Pleasure of producing poetry and imitation have any arguments to show that she is in her right place in a well governed city we shall bevery glade to receive her back again."

प्लेटो के आक्षेप एकांगी हैं, जिनका समुचित उत्तर उनके शिष्य 'अरस्तू' ने दिया है। इसके अतिरिक्त उनके आक्षेप 'असत्-काव्य' पर घटित होते हैं, सत् काव्य पर नहीं। उदाहरणार्थ कविता केवल 'आवेशजन्य' ही नहीं है, उसमें शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास की आवश्यकता होती है। इस प्रकार कविता शिक्षा एव विकास के उद्देश्यों की पूर्ति करती है। जहाँ तक काव्य के मिथ्या-प्रचार का आक्षेप है, वह भी संगत नहीं है। कवि दृश्य पदार्थ के अर्थ को ग्रहण कर कविता में उसे मूर्त रूप देता है। इस प्रकार वह सत्य के सन्निकट ही रहता है।

जहाँ तक कविता के ऊपर मानवीय दुर्बलताओं के प्रचार का आक्षेप है, वह भी सङ्गत नहीं है। कवि काव्य के माध्यम से उनका 'विरचेन' करता हुआ, उन्हें शान्त करने का प्रयास करता है।

'प्लेटो' ने कवियों पर यह आक्षेप किया था कि वे व्यक्तिगत यश प्राप्ति के लिये पाठकों की भावना को उत्तेजित करते हैं और इस प्रकार

लोकप्रिय बनाने का प्रयास करते हैं।

इस आक्षेप में कुछ तथ्य भी हैं। बड़े-से-बड़े कवि को 'यश: कामना' होती है। आचार्य मम्मट ने भी "काव्य यशसे" (अर्थात् काव्य यश प्राप्ति के लिए लिखा जाता है।) लिखकर उक्त तथ्य की पुष्टि की है, किन्तु उक्त आक्षेप का उत्तरार्द्ध असंगत है। कवि पाठकों या श्रोताओं के उत्तेजित करने के उद्देश्य से काव्य नहीं लिखता। 'प्लेटो' का यह आक्षेप प्राय: उन्हीं सस्ते कवियों पर घटित होता है, जो वस्तुत: सस्ती-लोकप्रियता की प्राप्ति हेतु गन्दी एवं अश्लील रचनाओं को प्रस्तुत करने में संकोच नहीं करते।

निष्कर्ष यह कि प्लेटो काव्य में 'शिवं' तत्त्व के पक्षपाती थे, किन्तु 'सुन्दम्' तत्त्व के अभाव में काव्य में नीरसता-व्याप्ति का भय बना रहता है, इस ओर उनका ध्यान नहीं गया। उन्होंने कविता को इसीलिए 'असत्य प्रचारिका' कहा कि वे 'मूल-सत्य' का अनुकरण 'प्रकृति' को मानते हैं और प्रकृति के अनुकरण को 'काव्य' मानते हैं। इस प्रकार वे काव्य को मूल सत्य से दूर की वस्तु मानते हैं, जबकि काव्य मूलसत्य से दूर होता हुआ भी समीपस्थ है, क्योंकि कई स्थल ऐसे भी होते हैं, जहाँ कवि मानवीय-सम्वेदनाओं का, पात्रों की अन्त:प्रकृति का चित्रण करता है।

अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त

आलोचनात्मक

अरस्तू ने काव्य की परिभाषा नहीं की, विवेचन किया है। वैसे तो स्वभाव से तार्किक होने के कारण वे परिभाषा से बचने का प्रयत्न नहीं करते--वास्तव में परिभाषा उनकी विवेचन-शैली का एक अंग ही है, फिर भी काव्य का सूत्रबद्ध लक्षण उन्होंने कहीं नहीं किया, परन्तु उनके विवेचन के आधार पर प्राय: उन्हीं के शब्दों में काव्य-लक्षण का निर्माण और काव्य स्वरूप का निर्धारण हुआ है।

काव्य एक कला है

काव्यशास्त्र के आरम्भ में ही अरस्तू ने यह स्पष्ट कर दिया कि 'काव्य' एक कला है–'चित्रकार अथवा किसी भी अन्य 'कलाकार' की ही तरह कवि 'अनुकर्त्ता' है।" निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं–"काव्य एक कला है एक ओर संगीत चित्र आदि (ललित) कलाएँ और दूसरी ओर महाकाव्य त्रासदी आदि काव्य-कला के विभिन्न रूप 'अनुकरण' के ही प्रकार हैं। अर्थात् समस्त कलाओं का मूल तत्त्व एक ही है–'अनुकरण'। इस प्रकार कला जाति है और काव्य-प्रजाति, महाकाव्य, त्रासदी आदि इसके व्यष्टि-भेद हैं। इन भेद-प्रभेदों के आधार तीन हैं–विषय, माध्यम और रीति।

उपर्युक्त स्थापना के अनुसार अन्य कला-रूपों की भाँति काव्य की आत्मा है-"अनुकरण", 'अनुकरण' यूनानी काव्यशास्त्र का 'व्यष्टि' शब्द है जिसका विवेचन इस प्रकार है—

अनुकरण-सिद्धान्त

अनुकरण यूनानी शब्द 'मीमेसिस' (Mimeyesiyes) के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। हिन्दी में वास्तव में यह अंग्रेजी शब्द 'इमीटेशन' (Imitation) का रूपान्तर होकर आया है। प्लेटो और प्लेटो के भी पूर्ववर्ती यवन-आचार्यों ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग स्थूल अर्थ में 'नकल' या 'यथावत् प्रतिकृति' के अर्थ में किया है। उनके अनुसार विभिन्न कलाकार अपने-अपने माध्यम-उपकरणों के अनुसार भौतिक जीवन और जगत् का अनुकरण करते हैं। चित्रकार, रूप और रंग द्वारा, अभिनेता, वेशभूषा, आंगिक-चेष्टा तथा वाणी आदि के द्वारा, कवि, भाषा द्वारा। अरस्तू ने भी इसी प्रचलित शब्द को ग्रहण किया और उसमें नूतन अर्थ भर दिया—

1. **कला प्रकृति की अनुकृति है**

2. चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्त्ता है, अतएव इसका अनुकार्य अनिवार्यत: इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से ही कोई एक हो सकता है—जैसी वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं, अथवा जैसी वे होनी चाहिए।

3. कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है, परिणामत: काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है—और इतिहास विशेष की।

4. अनुकृत-वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से ये निष्कर्ष निकलते हैं—

काव्यात्मक अनुकरण के विषय प्रकृति अथवा जीवन का वहिरंग अथवा नाम आकार-धारी जड़-जंगम रूप ही नहीं है, वरन् उसका अंतरंग अथवा अनुभूति, विचार कल्पना आदि भी हैं।

5. इन दोनों में भी अंतरंग का ही प्राधान्य है, क्योंकि वहिरंग अर्थात् वस्तु के भी तो यथार्थ रूप का नहीं, वरन् प्रतीयमान-रूप का ही अनुकरण किया जाता है और वही सम्भव है, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान यहीं तक सीमित है। अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष रूप की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक तथा भावात्मक-विचारात्मक-रूप ही अधिक ग्राह्य है। इस प्रकार काव्य में वस्तु

के प्राय: तीन रूपों का अनुकरण किया जाता है।

1. प्रतीयमान-रूप (जैसा अनुकर्ता को प्रतीत होता है)

2. सम्भाव्य-रूप (जैसा वह हो सकता है)

3. आदर्श-रूप (जैसा वह होना चाहिए)

प्रतीयमान रूप के अनुकरण का अर्थ है, वस्तु के मानस प्रतिबिम्ब को शब्द आदि के माध्यम से व्यक्त करना। इस प्रक्रिया में मानस प्रतिबिम्ब में भाव-तत्त्व और शब्द द्वारा प्रस्तुति में कल्पना की अवस्थिति अनिवार्य है। सम्भाव्य रूप का चित्रण तो निश्चय ही कल्पनापेक्षी है और आदर्शरूप अनुकर्त्ता की इच्छा और विचार से पोषित कल्पना की सृष्टि होती है। अतएव अनुकरण का अर्थ 'यथार्थ प्रत्यंकन' किसी भी रूप में नहीं है–वह भावात्मक एवं कल्पनात्मक 'पुन: सृजन' का ही पर्याय है, इसमें सन्देह नहीं।

4. अनुकरण में आनन्द का तत्त्व अनिवार्यत: निहित होने का अर्थ भी यही है कि उसमें आत्म-तत्त्व का प्रकाशन निहित रहता है, क्योंकि आनन्द की उपलब्धि आत्म-तत्त्व के प्रकाशन के बिना सम्भव नहीं, किन्तु भाव-तत्त्व और उसमें सन्निहित 'आत्म-तत्त्व' का निश्चित सद्भाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध आत्माभिव्यंजन का पर्याय नहीं है; क्योंकि उसमें वस्तु-तत्त्व का प्राधान्य अनिवार्य है।

अरस्तू के अनुसार काव्य की परिभाषा

1. अरस्तू के अनुसार कला के अनेक प्रकार हैं–काव्य, चित्र, संगीत आदि, जो माध्यम के आधार से एक दूसरे से भिन्न हैं। अर्थात् इन सबका मूलतत्त्व तो सम्भवत: एक ही है, किन्तु माध्यम भिन्न है। काव्य का माध्यम भाषा, चित्र का रंग-रेखा, और संगीत का स्वर इत्यादि। इसका अर्थ यह हुआ कि "काव्य, कला का वह प्रकार है जिसका माध्यम है भाषा।"

'कला' अरस्तू के मत से प्रकृति का अनुकरण है, शब्द के स्थान पर परिभाषा का नियोजन कर देने से यह निष्कर्ष निकला कि 'काव्य प्रकृति के अनुकरण का वह प्रकार है जिसका माध्यम है भाषा। अत: अरस्तू के अनुसार काव्य का यह लक्षण बन जाता है–काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। किन्तु प्रकृति अरस्तू के लिए केवल वाह्य जगत् का ही नहीं, वरन् उससे भी अधिक अन्तर्जगत् का एक शब्द में 'जीवन' का पर्याय है और अनुकरण का अर्थ है 'अनुभूति' तथा कल्पना के द्वारा 'पुनर्निर्माण' या पुन:–सृजन। इस प्रकार प्रकृति के अनुकरण से अभिप्राय है–अनुभूति तथा कल्पना के द्वारा जीवन का पुन: सृजन इस व्याख्या के आधार पर उपर्युक्त काव्य-लक्षण का वास्तविक अर्थ यह हो जाता है–"काव्य भाषा

के माध्यम से अनुभूति और कल्पना के द्वारा जीवन का पुन: सृजन है।
अरस्तू–काव्य भाषा के माध्यम से (जो गद्य तथा पद्य दोनों ही हो सकती है) प्रकृति का अनुकरण है। आधुनिक शब्दावली में–

"काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुन: सृजन है।"

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त

"मैं काव्य के सामान्य रूप और उसके विभिन्न प्रकारों का प्रत्येक के मूल गुण पर विचार करते हुए विवेचन करना चाहता हूँ। मेरा विचार है कि सत्काव्य के लिए आवश्यक कथानक के संगठन काव्य के अंगों की संख्या एवं स्वरूप और इसी प्रकार इस अध्ययन की परिधि में आने वाले अन्य विषयों का अनुशीलन किया जाये।"

अनुकरण के माध्यम

जिस प्रकार कुछ लोग सचेष्ट शिल्प-विधान अथवा केवल अभ्यास द्वारा रंग-रूप या स्वर के माध्यम से विभिन्न विषयों का अनुकरण या अभिव्यंजन करते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त कलाओं में समग्र रूप में अनुकरण की प्रक्रिया लय, भाषा अथवा सामंजस्य में से किसी एक या एकाधिक द्वारा सम्पन्न होती है।

एक और कला है जिसमें अनुकरण का साधन केवल भाषा होती है–यह भाषा गद्य हो या पद्य और पद्य में भी चाहे अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया हो या एक का किन्तु इसका नामकरण अभी तक नहीं हुआ। हमारे पास कोई ऐसा सामान्य शब्द नहीं है, जिसका एक ओर तो सोफ्रौन और क्सेनारखस के विडम्बन और सोक्रेतस के सम्वादों तथा दूसरी ओर द्विमात्रिक छन्द 'शोक-गर्वितछन्द' या ऐसे ही किसी अन्य छन्द में चर्चित काव्यात्मक अनुकृतियों के लिए समान रूप से प्रयोग किया जा सके। छन्द के नाम के साथ 'रचयिता' या 'कवि' शब्द जोड़ दिया जाता है और शोक-गीति-कवियों अथवा महाकाव्य कवियों की चर्चा की जाती है। मानो वे अनुकृति के नहीं, वरन् छन्द के ही आधार पर निर्विवेक रूप से कवि-पद के अधिकारी हों।

अनुकरण के विषय

अनुकरण के विषय, कार्य एवं व्यक्ति होते हैं और ये व्यक्ति या तो उच्चतर कोटि के होंगे या निम्नतर कोटि के। यह विभाजन मुख्यत: नैतिक आचरण पर आधृत है और नैतिक-अन्तर के विभेदक लक्षण हैं–सद्‌वृत्ति तथा तथा दुर्वृत्ति। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें उनका या तो यथार्थ-जीवन से श्रेष्ठतर रूप प्रस्तुत करना होगा या हीनतर। या फिर यथावत्

रूप। रौद्रस्तोत्र और राग-प्रधान कविताओं के विषय में भी यही सत्य है—इनमें भी कोई विभिन्न मानव-रूपों का चित्रण कर सकता है। जैसे 'तिमोथेउस' 'फिलोक्सेनस' दोनों ने चक्राक्ष दैत्यों का चित्रण भिन्न प्रकार से किया। त्रासदी कामदी में भी यही भेद है। कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा-मानव का हीनतर चित्रण और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण।

अनुकरण की विधि

जब माध्यम एक हो और विषय भी एक हो। एक हो फिर भी कवि या तो समाख्यान द्वारा अनुकरण कर सकता है और इस स्थिति में भी वह चाहे तो 'होमेरस' की तरह कोई अन्य व्यक्तित्व धारण कर सकता है या अपने निजी रूप में भी बोल सकता है—अथवा अपने सभी पात्रों को जीवित-जाग्रत चलते-फिरते प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार जैसा कि हम आरम्भ में कह आये हैं—कलात्मक अनुकरण में विभेद करने वाले ये ही तीन उपादान हैं माध्यम, विषय, रीति।

काव्य का उद्भव

अनुकरण

सामान्यत: कविता दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है और इन दोनों की ही जड़ें हमारे स्वभाव में गहरी हैं। पहला—अनुकरण की वृत्ति मनुष्य में शैशव से ही सन्निहित रहती है। उसमें और अन्य प्राणियों में एक अन्तर यह है कि जीवधारियों में वह सबसे अधिक अनुकरणशील होता है। आरम्भ में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा सीखता है, अनुकृत-वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं अनुभव होता, इसका प्रमाण है जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है। जैसे किसी अत्यन्त जघन्य-पशु अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल-आनन्द प्राप्त होता है केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य मनुष्य को भी जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कहीं सीमित होती है। अत: किसी प्रकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है-शायद वह अपने मनमें कहता है अरे! यह तो अमुक है, क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु नहीं देखी तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा—वह अक्रम-रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।

सामंजस्य और लय

अत: अनुकरण हमारे स्वभाव की एक सहजवृत्ति है दूसरी वृत्ति है—सामंजस्य और लय की। छन्द भी स्पष्टत: लय के ही अनुराग होते हैं। इसलिए जो इस सहज शक्ति से सम्पन्न थे, उन्होंने धीरे-धीरे अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों का विकास कर लिया और अन्त में उनकी भोंडी आशु-रचनाओं से कविता का जन्म हुआ।

काव्य का विकास

लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य-धारा दो दिशाओं में विभक्त हो गई। गम्भीर-चेतना-मुक्त लेखकों ने उदात्त व्यापारों और सज्जनों के क्रिया-कलापों का अनुकरण किया। जो क्षुद्र वृत्ति के थे, उन्होंने अधमजनों के कार्यों का अनुकरण किया और जिस प्रकार प्रथम वर्ग के लेखकों ने 'देव-सूक्त' और यशस्वी पुरुषों की प्रशस्तियाँ लिखीं, उसी प्रकार इन लोगों ने पहले-पहल व्यंग्यकाव्य की रचना की।

आज कोई ऐसा व्यंग्य-काव्य नहीं, जिसे होमेरस के पूर्ववर्ती किसी कवि की रचना कह सकें। यद्यपि ऐसे कई लेखक थे अवश्य, परन्तु होमर और उसके बाद के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। प्राच्य कवियों के प्राय: दो भेद थे—वीरकवि और व्यंग्य कवि!

होमेरस गम्भीर शैली के कवियों में सर्वश्रेष्ठ है—क्योंकि नाट्य-रूप और अनुकरण-कौशल का संश्लेष केवल उनके ही काव्य में मिलता है। उसी तरह व्यक्ति-परक-व्यंग्य रचना के स्थान पर अभिजात्य तत्त्वों को नाट्यरूप में उपस्थित कर सर्वप्रथम कामदी की रूप रेखा भी उन्होंने ही निर्धारित की है। उनके 'मरगीतेस' का कामदी से वही सम्बन्ध है जो त्रासदी से 'ईलियट' का। जब त्रासदी और कामदी का विकास हो गया तब भी दोनों वर्गों के कवि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही अनुसरण करते रहे। अवगीतिकार 'कामदी' लिखने लगे और महाकाव्य रचयिताओं का स्थान त्रासदी-लेखकों ने ले लिया, क्योंकि उस समय नाटक कला का महत्तर और श्रेष्ठतर रूप बन गया था।

त्रासदी के विविध प्रकार अपने पूर्ण विकास प्राप्त कर चुके हैं, या नहीं और उसका निरपेक्ष मूल्यांकन किया जाना है अथवा सामाजिक-सापेक्ष भी, यह एक भिन्न प्रश्न है। कुछ भी हो त्रासदी और कामदी भी आरम्भ में एक प्रकार को आशुरचना-मात्र थी, जो आवश्यकता पूर्ति के लिए तत्काल प्रस्तुत कर दी जाती थीं। एक का प्रवर्त्तन रौद्र-स्तोत्रकारों द्वारा सम्पन्न हुआ, दूसरी का लैंगिक गीतों के रचयिताओं द्वारा ये लैंगिक-गीत अब भी

हमारे कई नगरों में प्रचलित हैं त्रासदी का विकास धीरे-धीरे हुआ। जो भी कोई नया तत्व प्रस्फुट हुआ, क्रमशः विकास किया गया इस प्रकार कई परिवर्तनों में से गुजरने के बाद अन्त में उसने अपना सहज स्वरूप प्राप्त कर लिया और वहीं वह रुक गई।

ऐस्ख्यूलस ने सर्व प्रथम दूसरे पात्र का समावेश किया। उसने समवेत-गान का महत्व कम करके सम्वाद को प्रमुख स्थान दिया। 'सौफोक्लेस' ने पात्रों की संख्या बढ़ाकर तीन कर दी और दृश्य-विधान भी जोड़ दिया, किन्तु लघु कथानक को त्यागकर विस्तृत-कथानक का ग्रहण और पूर्ववर्ती व्यंग्यात्मक रूप की विषम-पदावली के स्थान पर त्रासदी की उदात्त 'रीति' का प्रयोग काफी बाद में चलकर हुआ। गुरु-लघु-क्रम से युक्त द्विमात्रिक 'चतुष्पदी' का स्थान लघुगुरु क्रम वाले द्विमात्रिक वृत्त ने ले लिया। इस चतुष्पदी का प्रयोग उस समय होता था, जब कविता व्यंग्य-कोटि की थी और नृत्य के साथ उसका अधिक लगाव था। वैसे ही सम्वाद का समावेश हुआ, वैसे ही मानव प्रकृति ने स्वयं उपयुक्त वृत्त ढूँढ़ निकाला। क्योंकि वृत्तों में द्विमात्रिक सबसे अधिक संलापोचित है यह इससे सिद्ध है कि बातचीत किसी अन्य छन्द की अपेक्षा प्रायः द्विमात्रिक छन्द में ही अधिक होती है-षट्पदी में भी यदा-कदा होती है और उसमें भी बोल-चाल के लहजे को छोड़ देना पड़ता है। यहाँ उपाख्यानों और अंकों की संख्यावृद्धि तथा परम्परा-प्रोक्त अन्य उपादानों का भी विवेचन हो चुका, यही मान लेना चाहिये, क्योंकि इन सबका सविस्तार विवेचन अपने आप में वृहत् कार्य होगा इसमें सन्देह नहीं।

त्रासदी

त्रासदी किसी गम्भीर स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार के रूप में होती है और जिसमें करुण तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।

त्रासदी की आधार-भूत कथा गम्भीर होती है वह अपने आपमें पूर्ण होती है। उसका निश्चित आयाम होता है। इसके मूलभाव करुण और त्रास होते हैं तथा भावपक्ष प्रबल होने के कारण अलंकृत एवं गम्भीर होती है।

त्रासदी के अंग

प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यतः 6 अंग होते हैं, जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—कथानक, चरित्र चित्रण, पद रचना, विचारतत्व, दृश्य-

विधान, गीत। इनमें कथानक चरित्र-चित्रण तथा विचारतत्व, अनुकरण के विषय हैं। दृश्य-विधान-माध्यम तथा पदरचना एवं गीत अनुकरण की विधि है। अरस्तू के समय तक इसका उपयोग प्रत्येक त्रासदीकार ने किया है।

कामदी

'कामदी' काव्य का प्रमुख रूप है। अरस्तू ने कामदी पर सम्यक् प्रकाश डाला था, परन्तु वह भाग उपलब्ध न होने के कारण कामदी के विषय में अरस्तू की धारणाओं का प्रामाणिक प्रतिपादन आज सम्भव नहीं।

'त्रासदी' और 'कामदी' में यही भेद है कि कामदी का लक्ष्य होता है–यथार्थ-जीवन की अपेक्षा मानव का "हीनतर-चित्रण" और त्रासदी का लक्ष्य होता है 'भव्यतर चित्रण।'

कामदी का मूलभाव 'हास्य' है, 'हर्ष' नहीं। परवर्ती रोमानी सुखान्त (कामद) नाटक अरस्तू की परिभाषा में नहीं आते। इस दृष्टि से कॉमेडी के लिए प्रयुक्त हमारा पर्याय 'कामदी' वास्तव में उसके स्वरूप से दूर है, परन्तु हमने इसका प्रयोग अर्थ साम्य की अपेक्षा ध्वनि-साम्य के आधार पर रूढ़ रूप में किया है।

'कामदी' का विषय व्यक्तिगत न होकर प्राय: वर्गगत या सार्वजनीन ही होता है। इस दृष्टि से अवगीति से कामदी भिन्न होती है, क्योंकि अवगीति के लक्ष्य जहाँ व्यक्तिगत दोष होते हैं, वहाँ कामदी के लक्ष्य प्राय: सार्वजनीन दोष होते हैं। अतएव कामदी की कथावस्तु प्रसिद्ध न होकर प्राय: काल्पनिक या उत्पाद्य ही होती है।

अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त

'विरेचन' शब्द अंग्रेजी के Catharsis 'कैथार्सिस' शब्द का अनुवाद है। वस्तुत: यूनान के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री 'अरस्तू' ने अपनी प्रसिद्ध-काव्य-धारणाओं के प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग किया था, किन्तु अंग्रेजी में इसका समुचित पर्यायवाची शब्द न मिल सकने के कारण अंग्रेज विद्वानों ने इस यूनानी शब्द को ज्यों-का-त्यों इंगलिश में गृहीत कर लिया। हिन्दी में 'विरेचन' शब्द उसी 'कैथार्सिस' शब्द का पर्यायवाची माना जाता है। इसका कारण यह है कि संस्कृत में 'विरेचन' शब्द चिकित्साशास्त्र में "रेचक औषध द्वारा उदरविकारों की शुद्धि" इस अर्थ में प्रयुक्त होता है और लगभग Catharsis शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं के उक्त शब्द तुल्यार्थक हैं।

काव्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम आचार्य 'अरस्तू' ने अपने दो ग्रन्थों–राजनीति', 'पोइटिक्स' में 'विरेचन-सिद्धान्त' की चर्चा की है। इनके पूर्ववर्ती

आचार्य एवं इनके गुरु 'प्लेटो' ने अपनी प्रसिद्ध-पुस्तक 'रिपब्लिक' में 'काव्य' एवं 'कवि' पर अनेक आक्षेप किये थे। यथा–

"काव्य मानव वासनाओं का दमन करने के स्थान पर पोषण करता है, इस कारण गणतन्त्र में स्थान पाने योग्य नहीं है।" अरस्तू ने प्लेटो के उक्त आक्षेपों के उत्तर देने में 'विरेचन-सिद्धान्त' का आश्रय लिया है। यद्यपि उन्होंने 'विरेचन' (Catharsis) शब्द की कोई परिभाषा नहीं दी और न कोई ऐसी व्याख्या ही की, जिससे उक्त शब्द का अभिप्राय निर्भ्रान्तरूप से जाना जा सकता, किन्तु विद्वानों ने सन्दर्भ के अनुसार 'विरेचन' के अनेक अर्थ लगाकर उक्त सिद्धान्त की पुष्टि की है।

विरेचन का स्वरूप

अरस्तू ने 'त्रासदी' के प्रसंग में 'कैथार्सिस' का प्रयोग किया है। उन्होंने 'प्लेटो' द्वारा किये गये इस आक्षेप को तो स्वीकार किया–'काव्य वासनाओं और मनोवेगों का दमन नहीं करता' किन्तु उन्होंने यह नहीं स्वीकार किया कि काव्य वासनाओं और मनोवेगों का पोषण और सिंचन करता है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार रेचक और औषधों द्वारा आन्तरिक विकार निकल जाते हैं और उदर शुद्धि हो जाती है, ठीक इसी प्रकार काव्य-नाटक आदि में मनोभावों की अभिव्यक्ति होने से चित्त की शुद्धि होती है, शान्ति मिलती है।

"Tragedy, then, is an imitation at action that is Serious, Complete and of a Certain magnitude, in Language embellished with each kind of artistic ornament, the several kind being found in Seperate parts of the Play, in the form of action, not of narative, through pity and fear effecting the Proper purgation of these emotions."

('त्रासदी' किसी गम्भीर, पूर्ण एवं निश्चित ढाँचे से युक्त कार्य का अनुकरण है, जिसका माध्यम नाटक के विभिन्न रूपों में प्रयुक्त समस्त आभूषणों से अलंकृत भाषा है, जो वर्णनात्मक न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें 'करुणा' तथा 'भय' के उत्कर्ष द्वारा इन मनोभावों का उचित विरेचन (Purgation) होता है।")

इस प्रकार 'त्रासदी' का उल्लेख करते हुए अरस्तू ने लिखा कि 'त्रासदी' एक प्रक्रिया है। वह हमारे अन्दर करुण तथा भय की भावना को जाग्रत करके हमारे मनोवेगों के लिए एक प्रकार का व्यंजना-मार्ग प्रस्तुत करती है। काव्य के विषय में ही नहीं, अरस्तू ने संगीत का अध्ययन भी

'विरेचन' के लिए आवश्यक माना है। इसका कारण यह है कि इसके माध्यम से भी मनोभावों की अभिव्यक्ति होने से चित्त शुद्धि होती है।

विरेचन का तात्पर्य

प्राय: सभी मनुष्यों के अवचेतन मन में 'मनोभाव' प्रसुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। यदि उनकी अभिव्यक्ति के लिए मार्ग न मिलेगा, तो परिणमस्वरूप अनेक भयानक रोग हो सकते हैं। काव्य में उन मनोभावों के व्यक्त होने का अवसर मिलता है। वे मनोभाव 'मनोविकार' कहलाते हैं। उनके निकल जाने से चित्त को शान्ति मिलती है। इन्हीं मनोविकारों के निकलने का नाम 'विरेचन' है। आयुर्वेद में 'विरेचन' मल को या विकार को बाहर निकालने वाली औषधि के लिए प्रयुक्त होता है। यथा—'हरीतिका (हर्र) एक विरेचन है।' यह विरेचन उदरशुद्धि का साधन है और काव्य या संगीतरूपी विरेचन 'मन:शुद्धि' का साधक है। मन की शुद्धि होने पर आनन्द की उपलब्धि होती है। इस प्रकार अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त के अनुसार काव्यानन्द की उपलब्धि होती है, अत: काव्य की रचना और उसका पठन-पाठन समाज के लिए अकल्याणकारी न होकर कल्याणकारी ही सिद्ध होता है।

'विरेचन' शब्द के अनेकार्थ

अरस्तू के पश्चात् विद्वानों ने अपने-अपने विचार से 'विरेचन' शब्द के अनेक अर्थ लगाए हैं। सामान्यतया हम उन अर्थों को चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—1. चिकित्साशास्त्रपरक अर्थ 2. धर्मपरक अर्थ 3. नैतिक अर्थ 4. कलापरक अर्थ। उपर्युक्त चारो प्रकार के अर्थों का विश्लेषण भी अपेक्षित है—

1. चिकित्साशास्त्रपरक अर्थ—'विरेचन' शब्द का भारतीय अर्थ 'रेचक औषध' है, जिसके सेवन से उदर विकार बाहर निकल जाते हैं और उदर के निर्विकार होने से मन भी निर्विकार हो जाता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने 'विरेचन' शब्द का 'लाक्षणिक अर्थ' लिया है। जिस प्रकार उदर-विकार 'विरेचन' के द्वारा उत्तेजित होकर शान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार मनोविकार भी काव्य एवं नाटकादि के सेवन से उत्तेजित होकर शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ 'विरेचन' का लाक्षणिक अर्थ 'विरेचनवत्' हुआ। इसका आधार 'गौणीलक्षणा' है, जिसके बल पर विरेचन का अर्थ 'त्रासदी आदि कला' से सम्बन्धित माना गया।

2. धर्मपरक अर्थ-पाश्चात्य-विद्वान 'गिल्टर्ब मरे' एवं 'लिल्ली' आदि 'विरेचन' (Catharsis) का धर्मपरक अर्थ मानते हैं। इस प्रकार इनका

अर्थ है–वाह्य उत्तेजना और अन्तत: उत्तेजना के शमन होने पर आन्तरिक शुद्धि और मानसिक-शान्ति। इस अर्थ की भी एक सुन्दर पृष्ठभूमि है। यूनान में धार्मिक उत्सवों पर नाटकादिकों का अभिनय होता था और प्राय: ये सभी 'त्रासदी' से सम्बद्ध माने जाते थे। यूनानी जनता इस बात पर विश्वास करती थी कि नृत्य, संगीत एवं अभिनयादि के द्वारा आत्मा शुद्ध होती है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से 'काव्य' भी 'आत्मशुद्धि का कारण माना गया और 'विरेचन' का अर्थ 'आत्मशुद्धि कारक' समझा गया। यह अर्थ भी गौणी लक्षणा के आधार पर घटित होता है। प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर भी यह देखा जाता है कि यदि काव्य या नाटक में 'रसवत्ता' हुई तो दर्शक के एक विचित्र प्रकार की शान्ति प्रतीत होती है।

3. नीतिपरक अर्थ–प्रसिद्ध जर्मन विद्वान 'वारनेज' ने 'विरेचन' की नीतिपरक अथवा मनोवैज्ञानिक-व्याख्या की है। ये 'विरेचन' का अर्थ मानते हैं–मनोविकारों की उत्तेजना के पश्चात् उनकी शान्ति। इनका कथन है कि सृष्टि में 'करुणा' और 'भय' नामक मनोविकार अत्यन्त प्रबल हैं, ये दोनों दु:खमूलक भाव हैं। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसमें 'वासनारूप' में या बीजरूप में इनकी स्थिति न हो। 'त्रासदी' आदि में इन मनोविकारों का अतिरंजित रूप प्रस्तुत किया जाता है। पाठक या दर्शक के चित्त में बीज रूप में स्थित उक्त मनोविकार 'त्रासदी' के प्रभाव से उदभूत रूप धारण कर हमारे अवचेतन से 'चेतनमन' में आकर अभिव्यक्ति होते हैं। इस प्रकार इस अभिव्यक्ति से हमारा चित्त विशद होता है और शान्ति की अनुभूति होती है। प्रत्येक दार्शनिक इस बात से सहमत है कि मनोविकारों के शमन होने पर चित्त में शान्ति आती है। इस प्रकार चित्त की शान्ति होने पर आत्मशुद्धि होती है।

4. कलापरक अर्थ–अंग्रेजी-साहित्य के रोमांटिक कवियों एवं समीक्षकों ने 'विरेचन' का कलापरक अर्थ लगाया है। इनका कहना है कि 'विरेचन' एक कला सिद्धान्त का व्यञ्जक है। 'त्रासदी' में 'त्रास' अथवा 'करुणा' नामक मनोविकारों की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं होती। अपितु 'त्रासदी' हमारे मनोभावों को 'कला' के साँचे में ढाल देती है। इस प्रकार कला के भाव के रूप में इन भावों का परिष्कार हो जाता है। ये भाव कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त कर लेते हैं, जिनके माध्यम से एक विशेष प्रकार की 'आनन्दानुभूति' होती है। आचार्य 'गोइटे' ने उक्त अर्थ का संकेत किया था, परन्तु परवर्ती आचार्य 'बूचर' ने इसकी विशद-व्याख्या प्रस्तुत की।

उपर्युक्त सभी अर्थों में सत्य का अंश विद्यमान है। अरस्तू ने 'विरेचन'

का अर्थ केवल आयुर्वेद की परिधि तक ही नहीं सीमित रखा, अपितु उसको मनोविज्ञान के क्षेत्र तक ले गया है। विरेचन से शरीर शुद्धि होती है, किन्तु मनोविकारों के विरेचन से आत्मशुद्धि होती है। जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान 'लेसिंग' ने 'विरेचन' शब्द का शुद्ध अर्थ में ही प्रयोग किया है और 'कैथार्सिस' शब्द का धातुजन्य अर्थ भी 'स्वच्छ करना' या 'चयन करना' अर्थ है।

विरेचन किसका ?

यहाँ आनुषंगिक रूप से यह प्रश्न भी उठाना स्वाभाविक है कि 'विरेचन' का सम्बन्ध किससे है और किस प्रकार है। यह शंका लगभग वैसी ही है, जैसे भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार 'रस' की स्थिति का प्रश्न है। 'विरेचन' की स्थिति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में मतभेद है। कोई तो 'पाठक' या 'दर्शक' के मन में 'विरेचन' की स्थिति मानते हैं और कोई अन्यत्र। 'लेसिंग' के अनुसार पाठक या दर्शक के मन में 'विरेचन' होता है और 'रिचर्ड्स' के अनुसार भावनाओं की 'समाधानता' का ही नाम 'कैथार्सिस' (विरेचन) है। इस प्रकार भाव तो कवि, पाठक तथा श्रोता एवं दृष्टा सभी में होते हैं, अत: सभी के मनोभावों का विरेचन होता है। 'रिचर्ड्स' का यह अर्थ भारतीय 'साधारणीकरण' के समकक्ष पहुँचता हुआ प्रतीत होता है।

विरेचन और आनन्द

प्रश्न यह है कि 'त्रासदी' तो दु:ख या भय से परिपूर्ण रचना है, पुन: अरस्तू के 'विरेचन सिद्धान्त' के अनुसार आनन्दानुभूति किस प्रकार होती है, इसके उत्तर में अरस्तू ने कहा है कि मनोभावों के विरेचन होने से शोक और भय का उद्वेजक अंश निकल जाता है, इससे पाठक, श्रोता अथवा दर्शक मानसिक शान्ति का अनुभव करता है, तत्पश्चात् उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार आनन्द की अनुभूति को दो प्रकार से मान सकते हैं–एक तो भावात्मक पद्धति द्वारा और द्वितीय अभावात्मक पद्धति द्वारा। प्रथम में तो मनोवेगों के उत्तेजित होकर उनके वहिर्भूत होने के पश्चात् शान्ति का अनुभव और तदनु आनन्दानुभूति होती है तथा द्वितीय के अनुसार 'विरेचन' होने से 'दु:खाभाव' हो जाता है, यही दु:खाभाव ही शान्ति का जनक है, जिसे आनन्द की संज्ञा दी जाती है। प्रो० बूचर के अनुसार 'करुणा' और 'त्रास' लौकिक जीवन में दु:खद हैं, किन्तु काव्य या 'त्रासदी' में दु:खद नहीं है, क्योंकि उनका 'साधारणीकरण' हो जाता है। अपने-पराये का भेद रहने पर ही दु:ख उद्वेजक होता है, किन्तु साधारणीकरण की स्थिति में पाठक, श्रोता अथवा दर्शक स्वार्थ की निम्नभूमि से

उठकर उच्च धरातल में प्रतिष्ठित हो जाता है, जहाँ उसे 'करुणा' एवं 'त्रास' के भाव भी उदात्तरूप में आनन्दप्रद लगते हैं। यदि ऐसा न हो, तो लोग पैसा खर्च करके 'करुणनाटक' देखने के लिए क्यों जायँ? इस कारण के अतिरिक्त 'बूचर' ने 'विरेचन' में आनन्दानुभूति का द्वितीय कारण यह बतलाया है कि 'कला' की ऐसी विशेषता है कि उसमें करुणादि भावों का सात्विकीकरण हो जाता है, जिससे उक्त भाव सुखद प्रतीत होते हैं। इस उत्तर में 'बूचर' की महत्ता स्वीकार की है, जो वस्तुत: समुचित प्रतीत होती है।

विरेचन सिद्धान्त के दोष

कुछ विद्वानों का आक्षेप है कि 'त्रासदी' द्वारा भावों की उत्तेजना होती है, तदनु उनका शमन हो जाता है, यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता। इस आक्षेप का उत्तर स्पष्ट है कि यदि 'त्रासदी' में 'उत्तेजना' का शमन न हो, तो दर्शक प्रेक्षागृहों में व्यर्थ ही न जाँय और अपने समय तथा धन का अपव्यय कदापि न करें। जानबूझकर कोई रोने के लिए कहीं जाता नहीं। द्वितीय आक्षेप यह है कि 'त्रासदी' में 'करुणा' या 'भय' की जो परिस्थितियाँ प्रदर्शित की जाती हैं, वे तो अवास्तविक होती हैं, अत: उनसे मनोभावों में उत्तेजना कैसे उत्पन्न होती है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यदि 'त्रासदी' में अभिनय देखने से भावों में उतेजना न हो, तो दर्शक प्रेक्षागृह में क्यों जाँय? इसके अतिरिक्त साहित्य में 'त्रासदी' का इतना अधिक महत्व ही न होता, यदि वह भावोत्तेजना के पश्चात् आनन्दानुभूति न कराती। इस प्रकार इसकी 'कला' संज्ञा ही न होती, क्योंकि 'कला' तो मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।

विरेचन सिद्धान्त का महत्व

अरस्तू के 'विरेचन-सिद्धान्त' का सर्वोपरि महत्व इस बात में है कि उसके द्वारा प्लेटो के काव्याक्षेपों का निराकरण हुआ है। जहाँ प्लेटो ने काव्य को मिथ्याप्रचारक और कवि को उन्मादग्रस्त प्राणी मानकर दोनों को हेय माना था, वहाँ अरस्तू ने काव्य को मन:शोधक और शान्तिप्रद सिद्ध किया और कवि को उन्मादग्रस्त प्राणी न मानकर उसे 'कलाकार' माना।

इस प्रकार अरस्तू के 'विरेचन-सिद्धान्त' द्वारा काव्य के मूल-प्रयोजन की स्थापना हुई है। अरस्तू ने बड़ी अच्छी आधारशिला पर अपने मतरूपी महल को प्रतिष्ठित किया है। दु:खमूलक भावों द्वारा सुख की अनुभूति किस प्रकार होती है, इस सिद्धान्त को पाठकों के समक्ष स्पष्ट किया।

अरस्तू ने यह नहीं माना कि काव्य अनैतिक होता है। और अश्लीलता का प्रचारक होता है। इस पक्ष में उन्होंने उत्तर दिया है कि यदि काव्य में अनैतिक या अश्लील बातें आती हैं, तो वे केवल भावोत्तेजना के रूप में, किन्तु उनके शमन होने के पश्चात् शान्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार काव्य को अनैतिक एव अश्लील कहना असंगत है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर अरस्तू के 'विरेचन-सिद्धान्त' की सत्यता प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ—यदि हमें किसी व्यक्ति पर क्रोध आया है और हम आवेश में आकर उसे जीभरकर 'खरी-खोटी' सुना देते हैं, तो हमारा क्रोध शान्त हो जाता है, क्योंकि उसके अभिव्यक्त होने का अवसर मिल जाता है। यही बात काव्य या 'त्रासदी' में भी है। हमारे चित्त में बीजरूप में स्थिति करुण आदि भाव उत्तेजित होकर अभिव्यक्त हो जाते हैं, जिससे चित्त को शान्ति मिल जाती है।

इस प्रकार इस सिद्धान्त ने 'मनोविज्ञान' के क्षेत्र में प्रवेश कर आगामी आलोचकों का पथ प्रशस्त कर दिया। 'आई० ए० रिचर्ड्स' के 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' की आधारशिला के रूप में अरस्तू के 'विरेचन-सिद्धान्त' को गौरव मिलना ही चाहिए।

विरेचन सिद्धान्त की रूपरेखा तथा निष्कर्ष

1. विरेचन-सिद्धान्त के जन्मदाता 'अरस्तू' थे। इन्होंने प्लेटो द्वारा किये गये काव्याक्षेपों का उत्तर देने के लिये इस सिद्धान्त का प्रणयन किया था।

2. 'विरेचन' शब्द (Catharsis) यूनानी भाषा से अंग्रेजी में यथावत् ले लिया गया है।

3. 'विरेचन' शब्द का धातुजन्य अर्थ 'स्वच्छ करना' अथवा 'चयन करना' है।

4. 'विरेचन' का लाक्षणिक अर्थ स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार 'रेचक दवा' द्वारा मल उत्तेजित होकर बाहर निकल जाता है और उदर की शुद्धि होती है, उसी प्रकार 'काव्य' द्वारा मनोभाव उत्तेजित होकर अभिव्यक्त हो जाते हैं, जिससे उनका परिष्कार होने पर मानसिक शुद्धि और शान्ति होती है।

5. विद्वानों ने 'विरेचन' की चार प्रकार की व्याख्याएँ की हैं—1. दस्तावर दवा के रूप में 2. धार्मिक भावना के रूप में 3. नैतिक भावना के रूप में 4. कलात्मकता के रूप में।

6. अरस्तू ने अपनी 'राजनीति' और 'काव्यशास्त्र' नामक पुस्तकों में 'विरेचन' की चर्चा की है।

7–अरस्तू 'संगीत' को भी 'विरेचन' मानते हैं, क्योंकि इससे भी अन्तत: मनोभावों का परिष्कार होता है।

8. 'विरेचन-सिद्धान्त' में 'आनन्द प्राप्ति' का सम्बन्ध 'अभावात्मक पद्धति' द्वारा घटित होता है, क्योंकि मनोवेगों का अभाव (शान्ति) ही शान्ति का जनक माना गया है, जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

9. इस सिद्धान्त ने काव्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रवेश कराकर नूतन पथ प्रशस्त किया है।

10. इससे काव्य का कलंक दूर हुआ है और साहित्यिक तथा सामाजिक क्षेत्र में काव्य की प्रतिष्ठा हुई है।

11. यद्यपि यह सिद्धान्त शत प्रतिशत सही नहीं है, किन्तु पर्याप्त अंश में इसकी महत्ता स्वीकार की जाती है।

रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद

अंग्रेजी-साहित्य के मूर्धन्य आलोचकों में 'आई० ए० रिचर्ड्स' का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने साहित्य तथा मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है और इस बात की आवश्यकता पर बल दिया है कि साहित्यकार को मनोविज्ञान से परिचित होना चाहिए और आलोचक के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व 'रिचर्ड्स' 'मनोविज्ञान' एवं 'अर्थविज्ञान' के क्षेत्र के अध्येता रहे हैं। फलत: साहित्य के क्षेत्र में आने पर भी वे अपने पूर्व अध्ययन की सामग्री की उपेक्षा नहीं कर सके। आलोचना के क्षेत्र में ये पाश्चात्यजगत् में 'रूपवादी-आलोचक' के नाम से विख्यात हैं, क्योंकि इन्होंने 'रूपक' को आधार माना है। काव्यालोचना के सम्बन्ध में इनके दो ग्रन्थ परम प्रसिद्ध हैं–(1) काव्यालोचन के सिद्धान्त (Principles of Literary Criticism) (2) व्यावहारिक आलोचना (Practical Criticism) इन ग्रन्थों में इन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर काव्यशास्त्र की विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है।

इन्होंने यह मान्यता स्थापित की है कि 'साहित्य' एक उपयोगी वस्तु है और उसकी उपयोगिता मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर सिद्ध की जा सकती है। इसी हेतु इनका सिद्धान्त 'मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद' के नाम से आलोचना एवं साहित्य के क्षेत्र में विख्यात है। इन्होंने 'मूल्यों' (Values) के साथ साहित्य का सम्बन्ध माना है, जबकि परवर्ती रूपवादी आलोचकों ने जीवन मूल्यों के साथ साहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं माना। 'रिचर्ड्स' ने उन

कोरे कलावादियों की भर्त्सना की है, जो कला को स्वतन्त्र, निरपेक्ष और 'स्वत:साध्य' मानते हैं। वे इन लोगों की इस मान्यता को भ्रान्ति की संज्ञा देते हैं।

मान्यता

'रिचर्ड्स' ने यह मान्यता स्थापित की है कि साहित्य हमारे लिए वैसा ही उपयोगी है, जैसी जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ। जहाँ तक काव्य की प्रभावशीलता का प्रश्न है, वह प्रभावशील नहीं होता कि उसमें प्रेषणीयता का गुण विद्यमान रहता है अथवा उसमें भावविनियोग की क्षमता है या उसमें कोई विशेष सौन्दर्य होता है, बल्कि वह इसलिए प्रभावशील होता है कि काव्य में जो अनुभव व्यक्त रहते हैं, वे उसे प्रभावशील बनाते हैं, इसके साथ-ही-साथ उन अनुभवों में जीवन मूल्य (Life-Values) भी स्यूत रहते हैं, जिनसे प्रभविष्णुता में वृद्धि होती है। इस प्रकार रिचर्ड्स ने काव्य में नीति का एक विशिष्ट स्थान माना है और जिन आलोचकों या साहित्यकारों ने नीति को साहित्य में स्थान नहीं दिया, उनकी भर्त्सना की है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन्होंने नीति के प्रचलित रूप को संकुचित एवं भ्रामक स्वीकार कर उसके स्थान पर जीवन-मूल्यों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है और साहित्य सेवी तथा अध्येता के लिए उन मूल्यों की अवधारणा करना अनिवार्य माना है।

'रिचर्ड्स' ने 'सार्वजनीनता' का गुण शैलीगत न मानकर भावगत माना है, क्योंकि साहित्य भावविनियोग से परिपूर्ण एक सार्वजनिक वस्तु है। भले ही उसकी रचना स्वान्त: सुखाय की गई हो, किन्तु उसमें भी 'प्रेषणीयता' का गुण तो विद्यमान ही होगा। यह पूर्ण सत्य है कि मूल्ययुक्त में प्रेषणीयता अवश्य होती है।

मनोवैज्ञानिक मूल्य का तात्पर्य

'रिचर्ड्स' ने मनोविज्ञान के आधार पर 'मूल्य' (Values) शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा–मानवीय मनोप्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं–1. अनुरति (Appertency) 2. विरति (Aversion) इन्हीं को दूसरे शब्दों में क्रमश: 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' भी कह सकते हैं। 'अनुरति' या 'प्रवृत्ति' के द्वारा हम वस्तुओं की ओर प्रवृत्त होते हैं, उन पर हमारी आसक्ति होती है और 'निवृत्ति' या 'विरति' के द्वारा हम सांसारिक वस्तुओं से दूर हटते हैं, उनके प्रति एक प्रकार का वैराग्य-सा हो जाता है। कोई भी वस्तु ऐसी हो सकती है, जो मूल्यवती हो और जिसकी प्राप्ति से हम संतुष्ट हो सकते हैं। इतना निश्चित है कि सभी प्रवृत्तियों की तुष्टि असम्भव है, अत:

ऐसी कोई भी मूल्यवती वस्तु हो सकती है, जो न्यूनाधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को कठिन किए बिना ही किसी प्रवृत्ति की तुष्टि करे।

'रिचर्ड्स' ने मूल्यों की मान्यता को दृष्टिपथ में रखकर ही भाषा के वैज्ञानिक एवं काव्यगत प्रयोगों के भेद करते हुए शब्दों के दो अर्थों का निरूपण किया है–(1) सांकेतिक अर्थ (2) भावात्मक अर्थ।

सांकेतिक अर्थमयी भाषा का स्वरूप वैज्ञानिक होता है, क्योंकि उसमें पारिभाषिक शब्दों अथवा तकनीकी शब्दों का बाहुल्य होता है और इनमें अभिधेय अर्थ से काम नहीं चलता। उदाहरणार्थ रेडियो, एक्सरे, टेलीविजन आदि शब्दों में इनका सांकेतिक अर्थ ही गृहीत होगा। इसी प्रकार काव्यों में भावना का प्राधान्य रहता है, फलत: काव्य की भाषा 'भाषात्मक अर्थ-मयी' होती है। उदाहरणार्थ–'जीवन विरह का जलजात' (महादेवी वर्मा) यहाँ पर इसका अभिधेयार्थ तो यही होगा–'विरह जीवन का कमल है।' किन्तु इसका भावार्थ इससे बहुत कुछ भिन्न है। यहाँ कवयित्री इस बात को ध्वनित करती है कि वस्तुत: जीवन का मूल विरह है, यदि विरह न रहे तो जीवन की सत्ता भी नहीं रहेगी। इस प्रकार 'रिचर्ड्स' ने काव्यभाषा को यदि 'भावात्मक अर्थमयी' भाषा की संज्ञा दी है, तो सर्वथा उचित ही किया है। उन्होंने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

काव्य की परिभाषा

कविता कवि के मन में उत्पन्न होने वाले एक मूल्यवान् मनोवैज्ञानिक-सन्तुलन को पाठक के मन में प्रेषण करने का साधन है।

यद्यपि 'रिचर्ड्स' का 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' एकांगी प्रतीत होता है, क्योंकि यह कला के क्षेत्र में उन मूल्यों को ही मान्यता देता है, जिन्हें हम मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से जीवन पर लागू करते हैं, किन्तु फिर भी यह अपने आप में महत्वपूर्ण है। उक्त दोष के अतिरिक्त इसमें यह भी दोष है कि प्रवृत्तियों की विशेष तृप्ति को वास्तविक मूल्य की संज्ञा दी जाती है और विशेष प्रतिभा को उचित महत्व नहीं दिया जाता। सामान्य जीवन की सामान्य कामनाएँ ही साहित्यिक-मूल्य की साधिका बनी रहती हैं। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त सार्वकालिक नहीं हो सकता, क्योंकि हर युग की सामाजिक आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

निष्कर्ष यह कि रिचर्ड्स का उक्त सिद्धान्त साहित्य में जीवन मूल्यों का प्रतिष्ठापक है, यह 'कला कला के लिए' इस मत का पोषण नहीं करता। साहित्य में 'उपयोगितावाद' की प्रतिष्ठा करना इसका लक्ष्य प्रतीत होता है, सौन्दर्यवाद का तिरस्कार करके इन्होंने एकांगी दृष्टिकोण अपनाया है,

जबकि काव्य में सौन्दर्य और उपयोगिता का समन्वय अपेक्षित है। काव्य के क्षेत्र में 'नीति' को अधिक प्रश्रय देने में कलात्मकता का ह्रास स्वाभाविक है। इस प्रकार काव्य में जीवनमूल्यों का प्रतिष्ठापक यह सिद्धान्त साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त मौलिक माना जाता है।

टी० एस० इलियट के काव्य सिद्धान्त

बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य कवियों एवं आलोचकों में 'टी० एस० इलियट' का नाम परम प्रसिद्ध है। ये एक ही साथ कवि एवं आलोचक थे। ये साहित्य को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। विचार करने पर यह दृष्टिकोण यथार्थवादी प्रतीत होता है, क्योंकि जीवन तो कटुताओं से भरा हुआ है, अतः इन्हीं की अभिव्यक्ति काव्य में होने से कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का मूल्य समाप्त हो जाता है। इलियट ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि कलाकार की उन्नति निरन्तर आत्मत्याग एवं निरन्तर व्यक्तित्व के बहिष्कार पर निर्भर होती है–

"The progress of an artist is a continual, self-sacrifice, a continual extinction of personality."

इस प्रकार 'इलियट' अभिव्यक्ति में कवि की वैयक्तिक-भावना को महत्त्व नहीं देते। वे कवि को एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति वस्तुनिष्ठ मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य या साहित्य में सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। यद्यपि साहित्यकार अपने ही अनुभवों को काव्य, साहित्य में वाणी देता है, किन्तु यहाँ उसके अनुभव सर्वसाधारण के अनुभवों का प्रतिनिधित्व करके व्यक्त होते हैं। यथा–"मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है।" निष्कर्ष यह कि इलियट मानते हैं कि–'साहित्य अमूर्त भावनाओं का मूर्तरूप है।' साहित्यकार अपनी अमूर्त-भावनाओं को मूर्तरूप में अभिव्यक्ति देने के लिये, अपने सम्वेदनों एवं अनुभवों को प्रकट करने के लिये वस्तुमूलक चिह्नों की सहायता लेता है। यथा–

"The only ways of expressing emotion in the from of art is by finding an objective, in otherwards, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of the particular emotion, so that when the external facts··· are given the emotion is immediately evoken."

इस प्रकार इलियट ने साहित्य या काव्य को आत्मा से पलायन के

रूप में स्वीकृति दी है। यहाँ पर 'पलायन' का तात्पर्य व्यक्तिगत भावों के पलायन से ही है, जिससे कवि सर्वसाधारण के भावों को काव्य में व्यक्त करे, किन्तु इनके परवर्ती कवियों ने इसका तात्पर्य 'संसार से पलायन करना' लगाया, जिससे निराशावाद की सृष्टि होने लगी।

काव्य की भाषा

काव्य अथवा नाटक की भाषा के सम्बन्ध में 'इलियट' की धारणा है कि नाटक में गद्य का ही प्रयोग करना चाहिये, पद्य का नहीं। इसका कारण यह है कि गद्य के माध्यम से विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार कविता की भाषा उच्चगुणों से अलंकृत होनी चाहिये। जहाँ तक काव्य में कल्पना का प्रश्न है, उसे अतिरंजना की श्रेणी तक नहीं ले जाना चाहिए। इस प्रकार 'इलियट' विचारों की तीव्रता के स्थान पर कलात्मक-प्रक्रिया की तीव्रता पर बल देते हैं। कलात्मक-प्रक्रिया संवेदन की ही प्रक्रिया है और सृष्टि की भी इस प्रकार उक्त दोनों अभिन्न हैं। जब हमारे आवेग भावना की तीव्रता की अपेक्षित सीमा पर और कलात्मक-प्रक्रिया के अनुरूप दबाव के नीचे सन्तोषजनक रीति से अभिव्यक्त होते हैं, तब ही कविता असाधारण एवं सार्थक बनती है। इलियट ने इसे 'उपसापेक्ष' की संज्ञा दी है। इसकी उपलब्धि तभी होती है, जब भावना और विचार में विभिन्नता हो। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है, अत: कवि को अभिलषित भावों की अभिव्यक्ति के लिये सांकेतिक एवं अप्रत्यक्ष शैली का आश्रय लेना ही पड़ता है। इस स्थिति में भाषा को संयत रखना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

कवि और कविता

'इलियट' काव्य रचना के सम्बन्ध में कवि के हृदय का विशेष मूल्य मानते हैं। उनकी मान्यता है कि–कवि मानस वह पात्र है, जिसमें असंख्य भाव एवं चित्र गृहीत एवं संचित होते हैं और उनमें तब तक बने रहते हैं, जब तक ऐसे सभी तत्त्व एक साथ एकत्र नहीं हो जाते और एक नवीन पदार्थ का निर्माण नहीं कर पाते। इस प्रकार इलियट कवि हृदय को विभिन्न-भावों के केन्द्रबिन्दु के रूप में मान्यता देते प्रतीत होते हैं। कवि हृदय को यह गौरव प्राप्त है कि वह अनेक अनुभवों विभिन्न अध्ययनों एवं चिरन्तन ज्ञानतन्तुओं को एकत्र कर उन्हें एक नवीन एवं सजीव रूप में अभिव्यक्त कर देता है।

'इलियट' कवि को केवल वर्तमान का दृष्टा ही नहीं मानते, वे उसे अतीत से सम्बद्ध मानते हैं। यथा–"किसी कवि को रचना करनी चाहिये तो

न केवल अपनी पीढ़ी को ही अपनी हड्डियों में लेकर, बल्कि इस भावना के साथ कि 'होमर से लेकर योरोप का समस्त साहित्य और उसके अन्तर्गत उसमें स्वदेश तथा विदेश का समस्त साहित्य एक कालीन अस्तित्व रखता है और अभिन्न-स्थिति तथा व्यवस्था का निर्माण करता है।" इस प्रकार इलियट ने काव्य के अन्दर से संकीर्णता को निकाल दिया है। उनकी दृष्टि में देश और काल की सीमाएँ क्षुद्र है, संकुचित हैं। कवि के लिये समस्त मानवता आधार बिन्दु है।

काव्यालोचना

इलियट स्वयं एक सफल कवि एवं आलोचक भी थे। उन्होंने कवि में दो शक्तियों का होना आवश्यक बतलाया है–1. कारयित्रीशक्ति 2. भावयित्रीशक्ति। ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे की पूरिका हैं। प्रथम के द्वारा कवि रचना करता है और द्वितीय के द्वारा वह उसे आलोचना की कसौटी पर तौलता है कि मैंने जिन भावों को हृदय में रखकर रचना की है, क्या वस्तुत: वही भाव श्रोता या पाठक के हृदय में उमड़ सकते हैं, यदि हाँ, तब तो काव्य श्रेष्ठ है, अन्यथा नहीं। इलियट ने आलोचना की दो सैद्धान्तिक सीमाएँ स्वीकार की हैं–प्रथम के द्वारा हम बात का उत्तर देने का यत्न करते हैं कि 'कविता क्या है ?' और द्वितीय के द्वारा यह उत्तर देना चाहते हैं कि "क्या यह उत्कृष्ट कविता है ?" इसमें कोई भी सैद्धान्तिक-कौशल द्वितीय प्रश्न का उत्तर देने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं हो सकता, जो उत्कृष्ट कविता के प्रत्यक्ष अनुभव पर अवलम्बित न हो। लेकिन दूसरी ओर कविता का हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बहुत दूर तक विवेचन के सामान्यीकरण पर आश्रित रहता है।"

इस प्रकार 'इलियट' काव्य को जीवन से पलायन मानते हैं और कवि को वर्तमान के साथ अतीत दृष्टा भी मानते हैं। उनके अनुसार कवि को स्वत: अपनी आलोचना करनी चाहिये, जैसा कि उन्होंने स्वयं किया है। आलोचना का उद्देश्य 'सहृदय में रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न करना, होना चाहिए।

शैली और शैली विज्ञान

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने कविता के सम्बन्ध में समय-समय पर भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ व्यक्त करते रहे हैं। प्राचीन काल से मध्यकाल तक कविता को 'दिव्य चेतना' का प्रतिभास कहा जाता था। आत्मवादी चिन्तकों प्लेटो आदि ने कविता को आत्मतत्व की अभिव्यक्ति माना किन्तु मध्यकाल में रोमांटिक कवि आचार्यों ने उसे 'भावोच्छ्वास की सहज अभिव्यक्ति' माना।

कालान्तर में मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण कविता को कलाकार की अनुभूति कहा गया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कालों में समीक्षकों ने अपने-अपने अलग मत दिये। वर्तमान पाश्चात्य समीक्षा कविता को मात्र 'भाषिक कला' मानती है। आज पाश्चात्य समीक्षकों का एक बड़ा वर्ग प्रमुखत: कविता की भाषा के आधार पर ही समीक्षा करना उचित समझता है। उनका मानना है कि कविता का इतिहास भाषा के परिवर्तनों के इतिहास से घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ है। प्रमुख समीक्षक वीटसन का कहना है–

"The real history of poetry is the history of the changes in the kind of language in which successive poems have been written."

कविता और भाषा का अटूट घनिष्ठ सम्बन्ध है इसीलिए कुछ समीक्षक इसे 'भाषिक कला' कहते हैं। अर्थात् कविता एक भाषिक विधान है। अत: कविता का अध्ययन वास्तव में उसकी भाषा-शैली का ही अध्ययन है जिसके अन्तर्गत काव्य में प्रयुक्त शब्दों की ध्वनि और संरचना, बलाघात, बिम्ब, प्रतीक, पदविन्यास, वाक्यरचना, अर्थ परिवर्तन तथा शब्दों की व्युत्पत्ति आदि का अध्ययन किया जाता है।

शैली विज्ञान

शैली विशेष 'भाषिक संरचना' है। ऐरिफ वेलाण्डर ने कहा है "भाषिक अर्थ में शैली शब्द प्राय: सामान्य से भिन्न विशेष प्रयोग का वाचक है।" शैली विज्ञान इसी विशेष प्रयोग का अध्ययन करता है। जिसमें साहित्य की वस्तुनिष्ठ समीक्षा होती है व्यक्तिगत रुचि-विरुचि का तत्व निश्शेष हो जाता है। प्रसिद्ध समीक्षक जे० एन० लीच ने शैली विज्ञान को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

"शैली विज्ञान केवल साहित्यिक शैली का अध्ययन है या और स्पष्ट शब्दों में साहित्य में प्रयुक्त भाषा का अध्ययन है।" अत: साहित्य की समीक्षा का वैज्ञानिक रूप है। इस प्रकार शैली विज्ञान को किसी रचना की समीक्षा करते समय उस युग की सामान्य प्रचलित भाषा और साहित्य की भाषा में अन्तर देखना होता है और इसके लिए वह भाषा विज्ञान की भी सहायता लेता है। समीक्षा की इस पद्धति को कुछ आलोचकों ने नव्यशास्त्रवादी आलोचना भी कहा है।

नव्यशास्त्रवादी आलोचना

नव्यशास्त्रवादी आलोचना काव्या-भाषा के अध्ययन पर अधिक बल देती है। इस पद्धति में भाषा-सौष्ठव को काव्य का महत्त्वपूर्ण अग माना

जाता है पर कथन-भंगिमा को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हुए भी इस आलोचना में कथ्य-रागतत्व एवं विचारतत्व को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार नव्यशास्त्रवादी आलोचना काव्य-भाषा अध्ययन के साथ रागतत्व और विचारतत्व के अध्ययन को भी महत्व देता है।

अन्तर

शैली वैज्ञानिक आलोचना और नव्यशास्त्रीय आलोचना में यही प्रमुख अन्तर है कि शैली वैज्ञानिक आलोचना में रागतत्व और विचारतत्व को नगण्य मानकर काव्य को भाषिक कला का पर्याय मानते हुये भाषा को आलोचना का केन्द्र बनाया जाता है जबकि नव्यशास्त्रीय आलोचना में काव्य-भाषा का अध्ययन करने के साथ-साथ कथन की भंगिमा को काव्य का महत्व-पूर्ण अंग मानते हुये राग-तत्व और विचार-तत्व को भी आलोचना के केन्द्र में रक्खा जाता है। अत: शैली वैज्ञानिक भाषा-विज्ञान की प्रविधि-प्रक्रिया का उपयोग जिस रूप में करता है नव्यशास्त्रीय आलोचक उस रूप में नहीं करता है।

शैली-विज्ञान की सीमाएँ

शैली वैज्ञानिक अध्ययन साहित्यिक रचना के उन गुणों का विश्लेषण करता है जो प्राय: पारम्परिक साहित्य-समीक्षा की परिधि से छूट जाती है। इसका मुख्य कारण यही है कि शैली वैज्ञानिक के पास भाषा-विज्ञान की जो प्राविधिक-प्रक्रिया है वह पारम्परिक समीक्षक के पास नहीं है। शैली विज्ञान इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण समीक्षा पद्धति है किन्तु समीक्ष्य कृति के देश काल की पहचान-परख करने के लिये शैली-विज्ञान अपनी भूमिका नहीं अदा करता इसे उसकी सीमा ही कहा जा सकता है।

शैली विज्ञान कविता के शिल्प-गुणों का उद्घाटन कर सकता है पर कविता मात्र शिल्प ही नहीं है वह उससे भी कहीं आगे बढ़कर कवि की मानसी-सृष्टि है और मानसी सृष्टि का अध्ययन होना अत्यन्त आवश्यक है। शैली वैज्ञानिक कवि के व्यक्तित्व से कविता के सम्बन्ध की उपेक्षा करता है। वह सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों के आलोक में रचना का अध्ययन करना आवश्यक नहीं मानता। वह कविता में केवल भाषिक सौन्दर्य को खोजता है उसी की विवेचना करता है।

मेरे विचार से मात्र भाषिक अध्ययन द्वारा ही रचना के सम्बन्ध में सब कुछ जान लेने का दावा करना ठीक नहीं है। यह धारणा एकांगी है। इसीलिये शैली वैज्ञानिक आलोचना को यदि एकाँगी आलोचना कहा जाता है तो कोई गलत कथन नहीं है। यह सच है कि कविता के सौन्दर्य को पह-

चानने के लिये भाषिक अध्ययन के साथ-साथ उसके राग-तत्व और विचार-तत्व को भी पहचानना और अध्ययन करना आवश्यक है। भारतीय काव्य-शास्त्र इसीलिए दोनों को महत्व देता है और समीक्षा में वाह्यसौन्दर्य के साथ-साथ आभ्यान्तरिक सौन्दर्य की महत्ता को स्वीकार करता है।

मिथक बिम्ब और प्रतीक

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में परम्परागत कलामूल्यों, साहित्यिक अभिरुचि, काव्य-भाषा और कविता सम्बन्धी धारणा में मौलिक परिवर्तन हुआ। स्वच्छन्दतावादी युग से भिन्न अब कविता को राग-द्वेष और विचार कवि की अनुभूति और उसके भावावेगों की सहज अभिव्यक्ति मात्र न मान-कर प्रमुख रूप से कलात्मक रचना माना जाने लगा। इस सम्बन्ध में टी० एस० इलियट के विचार उद्धरणीय हैं–

"Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion it is not the expression of personality but an escape from personality."

इस प्रकार कविता की सार्थकता अर्थ में न लगाकर उसके रूप में मानी जाने लगी और कहा जाने लगा कि–"A poem should not mean but be." अर्थात् कविता एक विशिष्ट अनुभव है जो अपने रूप से सर्वथा अभिन्न है। कविता को विशिष्ट अनुभव माने जाने से कविता में शब्द-अर्थ का सामान्य या साधारणीकृत प्रयोग न होकर उसके विशेष और मूर्त प्रयोग को महत्व मिला। कवियों ने शब्द-विधान, बिम्ब-योजना, प्रतीक-रचना, रूपक, वर्ण-विन्यास आदि को विशिष्ट सन्दर्भ में प्रयोग करने लगें। एजरा पाउण्ड ने कहा है कि–"Content and expression are Co-terminus from its meaning." अर्थात् कविता में सम्प्रेषणीयता के लिये मिथक बिम्ब-विधान, प्रतीक-योजना आदि को महत्व दिया जाना स्वाभाविक है।

मिथक

मिथक किसी जाति अथवा समुदाय की रागात्मक चेष्टाओं का कथा रूप में प्रकाशन मात्र है जिसमें सामूहिक आकांक्षाएँ और प्रतिक्रियाएँ मुख-रित होती हैं वह जन-सामान्य के विश्वास और जन-श्रुति में दीर्घकाल से संचरित होने वाली घटना, वस्तु, पात्र या वृत्तान्त है। मिथक प्राय: धार्मिक विधि-विधानों (Ritual) से सम्बन्धित होते हैं इसीलिये मिथक बुद्धिमूलक न होकर सहजात वृत्ति संजात होते हैं वह सामूहिक अवचेतन मन से सम्बद्ध होते हैं इनमें अनेक तत्वों का निरूपण प्रतीकात्मक शैली में होता है। प्राय: मिथकों से सम्बद्ध कथा मानवेत्तरों से सम्बन्धित होती है।

मानव आकांक्षाओं एवं प्रवृत्तियों के संघात के कारण उनमें चित्र-मयता, रंगीनी और काव्य का सन्निवेश रहता है। यहाँ सूर्य घोड़ों वाले रथ में बैठकर दिशाओं में दौड़ता है और चन्द्रमा मृगया करता है। नियन्त्रण के लिये वायु को पर्वत की कन्दराओं में बन्द कर दिया जाता है और विन्ध्याचल को प्रणाम के लिये झुके सिर को ऊपर न उठाने का आदेश दिया जाता है। इन तमाम चित्रों की पीठिका कौतूहल, विस्मय, भय या आह्लाद द्वारा तैयार होती है।

निष्कर्षत: मिथक में घटनाक्रम पर आग्रह नहीं होता उसमें भावात्मकता एवं कल्पना-तत्व की प्रधानता होती है। मिथकों में देवता और मानव एक ही स्तर पर कार्य करते हैं दोनों का अन्तर बहुत मिट जाता है। जड़ पदार्थ भी सजीव एवं शक्ति सम्पन्न मान लिये जाते हैं। जो पहले कपोल-कल्पना और व्यवस्थाविहीन किंवदन्तियाँ मानी जाती वही धीरे-धीरे सुस्पष्ट रूप-विधान धारण कर मानवचिन्तन अनुभूतियों को प्रभावित करने लगती हैं। इस सन्दर्भ में रिचर्ड्स का मत उल्लेखनीय–

Myths are not fancies they are the utterance of the whole soul of man, as such inex haustible to meditation.

मिथक दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं–(1) मौलिक मिथक–वे मिथक जो मनुष्य के अचेतन में वर्तमान 'अर्थ' के वाहक हैं और जिसकी सृष्टि के पीछे कवि कल्पना अथवा अन्य कोई प्रयास नहीं रहता। (2) सायास मिथक–वे मिथक जिन्हें मन समझ-बूझकर विशेष प्रयोजन के लिये रचता है। ऐसे मिथकों को सायास रचित मिथक कहते हैं।

मिथक और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। वेदों, पुराणों, रामायण तथा महाभारत में अनेक ऐसे मिथक मिलते हैं जिनका साहित्यिक मूल्य है और अनेक कवियों ने अवसरानुकूल प्रयोग किया है। पाश्चात्य साहित्य में विशेष कर प्रसिद्ध प्रेम कथाओं पर 'कैल्टिक' मिथक तथा प्रकृति के आतंकवादी रूप का चित्रण करने वाले साहित्य पर नार्स मिथक का प्रभाव देखा जा सकता है। कालान्तर के होमर के 'इलियड़', शेक्सपियर के 'हैमलेट', तथा 'किंगलियर' पर मिथकों के कलात्मक प्रभाव का मूल्यांकन किया जा सकता है। समकालीन साहित्य भी मिथकों के प्रभाव और प्रयोगों से अछूता नहीं है। मिथक-अध्ययन का महत्व आज भी है और भविष्य में भी रहेगा।

बिम्ब

'बिम्ब' अंग्रेजी के Image शब्द का हिन्दी रूपान्तर है इसका अर्थ

है किसी पदार्थ को मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना तथा मानसी प्रतिकृति उतारना। विम्ब एक प्रकार का भाव गर्भित शब्द-चित्र है। डॉ० नगेन्द्र ने विम्ब के सम्बन्ध में लिखा है–'काव्य-विम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है। अर्थात् भाव की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही कवि अपनी कल्पना द्वारा एक ऐसी मानस छवि का निर्माण करता है जो उसकी सम्प्रेषणीयता की वृद्धि करता हो तथा कथन की प्रभावोत्पादकता को वृद्धि प्रदान करता है। अर्थात्

"विम्ब शब्दों से बुना वह चित्र है जो कवि के तीव्र भावावेश को पाठक तक सम्प्रेषित करता है।" इस सन्दर्भ में सी० डी० लूइस का कथन उद्धरणीय है–

The Poetic image is a more or less sensuous picture in words to same degree metaphorical with on undertone of some human emotion in its context but also charged with and releasing into the reader a special poetic emotion or passion."

विम्ब-विधान संवेग-संकुल प्रयास होता है। वस्तुत: कवि अनेक विविध विपरीत वस्तुओं, मन:स्थितियों और धारणाओं को अपनी कल्पना से परस्पर मिलाकर एक ऐसे नवीन पदार्थ का अनुक्रम करता है जिससे वह सहृदय के चित्त पर अनेक संवेदनों को उद्बुद्ध करने में सफल हो जाता है।

काव्य विम्ब का मुख्य कार्य सम्प्रेषणीयता है। वह कवि या कलाकार की अनुभूति और प्रभावकता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला सूत्र है। विम्ब कथ्य को स्पष्ट करते हैं तथा अनुभूति को तीव्रता प्रदान करते हैं। विम्ब पाठक में एक ऐसी संवेदना जाग्रत करते हैं जिसकी उपलब्धि नित्य-प्रति के जीवन में नहीं होती है।

प्रतीक

यदि कल्पना से विम्ब जन्म लेते हैं तो विम्बों से प्रतीक आविर्भूत होते हैं। जब कल्पना मूर्तरूप धारण करती है तब विम्ब की सृष्टि होती है और जब विम्ब व्युत्पन्न अथवा बार-बार प्रयुक्त होने लगते हैं और किसी निश्चित अर्थ को निर्धारित करने लगते हैं तभी वे प्रतीकों का निर्माण करते हैं या प्रतीक बन जाते हैं। प्रतीक की परिभाषा करते हुये भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने कहा है–

"जब एक ही शब्द या अप्रस्तुत किसी सम्पूर्ण अर्थ-सन्दर्भ को

व्यञ्जित करने की शक्ति अर्जित कर लेता है तब वह प्रतीक बन जाता है।" अर्थात् प्रतीक प्रतिरूप (Reproduction) न होकर निरूपण (Representation) होता है वह कवि के भावों के प्रेषण का माध्यम होता है जिसके द्वारा वह भावनाओं के तुमुल घनत्व को व्यक्त करने के लिये कुछ दूरवर्ती अप्रस्तुतों को समतुल्य उपस्थित करता है। पाश्चात्य समीक्षक साइमन्स ने 'प्रतीक' की परिभाषा करते हुये लिखा है–

"A symbol might be defind as a representation which does not aim at being reproduction." प्रतीक में अर्थ उसी प्रकार छिपा रहता है जैसे तिल में तेल।

काव्य के प्रतीकों में व्यञ्जना-शक्ति प्रचुर मात्रा में होती है, वे प्रस्तुत का निगरण किये रहते हैं और तथ्यों की सूचना देने के साथ-साथ वक्ता की मानसिक प्रवृत्ति का भी संकेत करते हैं।

प्रत्येक कलाकृति में प्रतीक केन्द्र बिन्दु रखता है उसी केन्द्र से अर्थ-छवि की ज्योति फूटकर सम्पूर्ण-वृत को आलोकित करती है। प्रतीक ही अदृश्य सत्य को इन्द्रियग्राह्य रूप में सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है तथा काव्य-जगत के सूक्ष्म सौन्दर्य को व्यक्त करता है। □

काव्य के विभिन्न रूप

काव्य

काव्य को चाहे हम 'मानव-जीवन रुचिर विश्लेषण का लयात्मक पदविधान' कहें अथवा प्रेषणीय भाषा-शैली में उदात्त-स्पृहणीय भावों की अभिव्यक्ति कहें; वह लोक में एक ऐसा अनोखा तत्त्व है, जिससे मानव-जीवन चिरकाल से प्रभावित होता आया है और भविष्य में भी होता रहेगा।

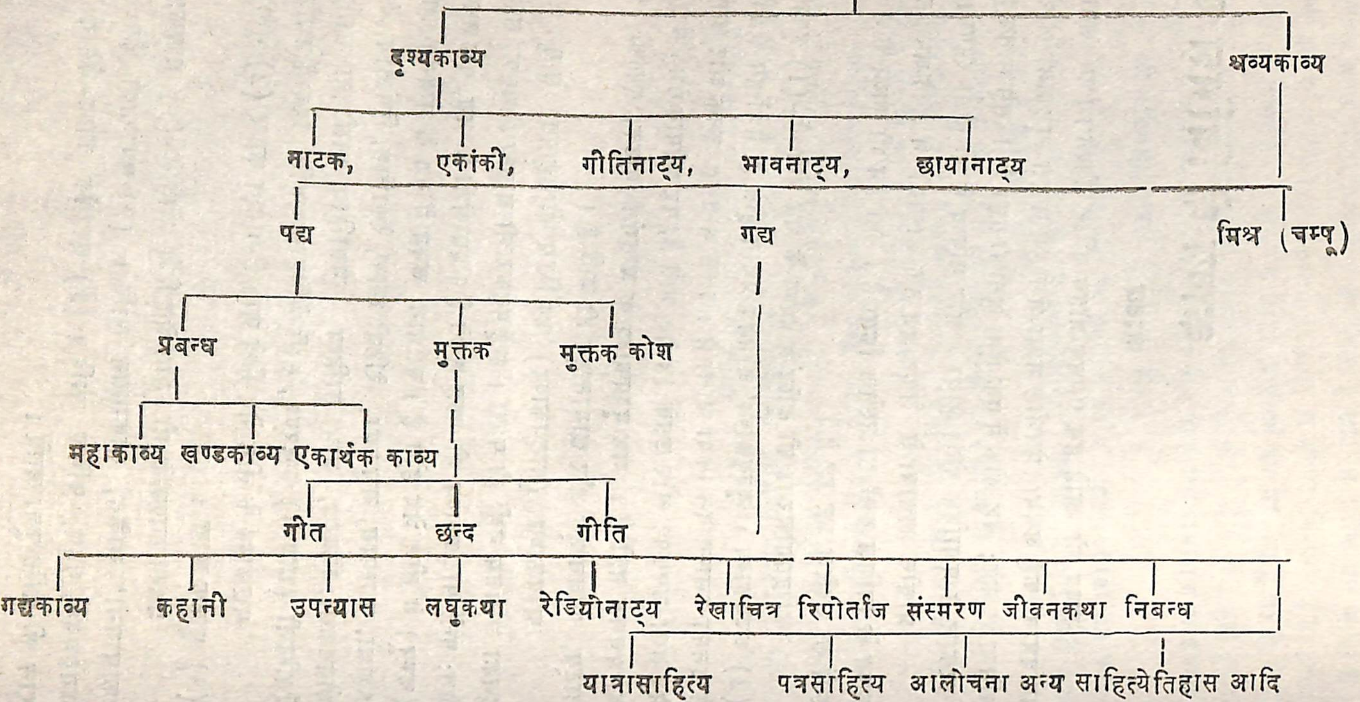
प्राचीन आचार्यों से लेकर अब तक आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से काव्य के विभिन्न रूपों का उल्लेख किया है। यहाँ हम भी काव्य के प्रचलित रूपों का उल्लेख कर रहे हैं।

इन्द्रियगोचरता की दृष्टि से काव्य के भेद होते हैं–(1) दृश्यकाव्य (2) श्रव्यकाव्य। 'दृश्यकाव्य' अभिनय प्रधान होते हैं, नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से इनका रसास्वादन किया जाता है। इसके अन्तर्गत रूपक और उसके 10 भेद तथा उपरूपक और उसके 18 भेद आते हैं, पर वर्तमान समय में इन सब का प्रचलन नहीं है। अब दृश्यकाव्य के अन्तर्गत नाटक, एकांकी, गीति-नाट्य, भावनाट्य और छायानाट्य ही आते हैं।

श्रव्यकाव्य (पाठ्यकाव्य) कर्णेन्द्रिय की सहायता से सुने जाते हैं, इनका अभिनय नहीं हो पाता। इन्हें पढ़कर भी आनन्द लिया जा सकता है, अतः इन्हें पाठ्यकाव्य भी कह सकते हैं। इस श्रेणी में गद्य, पद्य तथा मिश्र (चम्पू) ये तीन भेद होते हैं। वर्तमान समय में गद्य के अन्तर्गत गद्यकाव्य, कहानी, उपन्यास, लघुकथा, रेडियो रूपक, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, जीवनकथा, निबन्ध, यात्रा साहित्य, पत्रसाहित्य, आलोचना साहित्य एवं दैनन्दिनी (डायरी) इण्टरव्यू, साहित्येतिहास प्रभृत्ति विधायें प्रचलित हैं।

पद्यकाव्य के तीन भेद किये जाते हैं–प्रबन्ध काव्य (2) मुक्तक काव्य (3) मुक्तक कोश।

प्रबन्ध काव्य के भी तीन भेद किये जाते हैं–(1) महाकाव्य–जैसे 'कामायनी' साकेत, लोकायतन आदि। (2) खण्डकाव्य–जैसे पंचवटी, जयद्रथवध, नहुष, पथिक आदि। (3) एकार्थक काव्य–जैसे गंगावतरण, राम की शक्ति पूजा आदि।


काव्य
दृश्यकाव्य
श्रव्यकाव्य
नाटक, एकांकी, गीतिनाट्य, भावनाट्य, छायानाट्य
पद्य
गद्य
मिश्र (चम्पू)
प्रबन्ध
मुक्तक
मुक्तक कोश
महाकाव्य खण्डकाव्य एकार्थक काव्य
गीत
छन्द
गीति
गद्यकाव्य
कहानी
उपन्यास
लघुकथा
रेडियोनाट्य
रेखाचित्र
रिपोर्ताज
संस्मरण
जीवनकथा
निबन्ध
यात्रासाहित्य
पत्रसाहित्य
आलोचना अन्य साहित्येतिहास आदि

महाकाव्य में जीवन का सर्वाङ्गीण एवं प्रभावपूर्ण चित्रण किया जाता है किन्तु खण्डकाव्य में जीवन की किसी एक घटना अथवा अंश का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। 'एकार्थक काव्य' इन दोनों के बीच की विधा है, इसमें किसी संक्षिप्त प्रसंग या घटना को एक विस्तृत कविता के रूप में प्रकट किया जाता है। इसमें कथावस्तु का क्रम विद्यमान रहता है, अतः इसे मुक्तक से भिन्न मानते हैं।

मुक्तककाव्य--जिस संक्षिप्त गीत, छन्द या गीति में पूर्वापर प्रसंग के बिना ही कोई भावचित्र, वस्तुचित्र या किसी एक तथ्य का प्रकाशन होता है, उसे मुक्तक काव्य कहते हैं। जैसे–सूर, तुलसी, मीरा के पद, बिहारी आदि के दोहे एवं विद्यापति, प्रसाद, पन्त, निराला आदि के गीत। मुक्तक के तीन भेद होते हैं–(1) गीत (2) छन्द (3) गीति।

गीतकाव्य–सुख-दु:ख की भावातिशयी अवस्था विशेष का गिनेचुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। (महादेवी वर्मा)

छन्दकाव्य–किसी सम्वदेन को सीमित शब्दों में अगेव छन्द के माध्यम से व्यक्त कर देना मुक्तक छन्दकाव्य है। यथा-कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय आदि।

गीतिकाव्य–इसे 'प्रगीत मुक्तक' भी कहते हैं। इसमें कवि संगीतात्मक छन्दों में स्वानुभूति का तीव्रतम प्रकाशन करता है। उदाहरणार्थ 'मेघदूत' (कालिदास)

गीत और गीति में अन्तर

सामान्यतया दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दोनों में कवि की स्वानुभूति होती है और दोनों में संगीतात्मकता के साथ कलापूर्ण अभिव्यक्त भी होती है, किन्तु जहाँ गीत में कवि की स्वानुभूतिमात्र की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ 'प्रगीत' या 'गीति' स्वानुभूति की अतिशयता की तीव्रतम अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ मीरा और महादेवी वर्मा के 'गीति' या 'प्रगीतमुक्तक' की कोटि में आते हैं और 'प्रसाद' के गीत 'गीत' की कोटि में। निष्कर्ष यह कि गीत की अपेक्षा 'गीति' अधिक वैयक्तिक है, उसमें कवि का मनोवेग तीव्रतम हो जाता है।

मुक्तक-कोष–इस श्रेणी में कोष-ग्रन्थों के वे स्फुटिक छन्द आते हैं, जिनमें कवि की स्वानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। सम्भवत: इसी कारण इसे काव्यरूपों में मान्यता नहीं दी जाती। यह विधा अब समाप्तप्राय है।

मिश्रकाव्य–गद्यपद्य मिश्रित रचना को मिश्रकाव्य कहते हैं। इसे ही

'चप्पू' की संज्ञा प्राप्त है। 'चप्पू' संस्कृत-साहित्य में लिखे जाते हैं। यथा-नलचम्पू, रामायण चम्पू आदि। हिन्दी में इनकी प्रथा नहीं प्रचलित हो सकी।

काव्य के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त कवि की मन:प्रवृत्ति, जीवनदृष्टि तथा व्यंग्यार्थ आदि के आधार पर अनेक भेद किये जाते हैं, जो किसी-न-किसी प्रकार इन रूपों के अन्तर्गत ही आते हैं। यहाँ पर हम गद्यकाव्य और पद्यकाव्य के प्रमुख भेदों के रचना सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे। सर्वप्रथम गद्य के क्षेत्र में दृश्यकाव्य की श्रेणी में नाटक का महत्व है, अत: उसी का विवेचन प्रस्तुत है—

नाटक

दृश्यकाव्य में 'नाटक' सर्वाधिक प्रसिद्ध विधा मानी जाती है। वस्तुत: यह 'रूपक' का एक प्रमुख भेद है, परन्तु अब रूपक के स्थान पर 'नाटक' शब्द ही प्रचलित हो गया है। प्रभावकारिता की दृष्टि से काव्य में 'नाटक' को ही सर्वोपरि स्थान मिला है-'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। भारतीय नाट्याचार्य भरत ने नाटक की व्यापकता का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऐसा कोई योग, कर्म, शास्त्र, कलाशिल्प आदि नहीं, जो नाटक में न पाया जाता हो—

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥—नाट्यशास्त्र

नाटक के लक्षण

भारतीय परम्परा के अनुसार 'साहित्यदर्पण' में आचार्य विश्वनाथ के 'नाटक' के ये लक्षण बतालाये हैं—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धि समन्वितम।
विलासर्द्धयादि गुणवद्युक्तं नाना विभूतिभि: ॥ 1 ॥
सुख:दुख समुद्भूति र्नानारस निरन्तरम्।
पञ्चाधिका दशपरा स्तत्राङ्का: परिकीर्तिता: ॥ 2 ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षि धीरोदात्त: प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मत: ॥ 3 ॥
एक एव भवेदंगी श्रृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसा: सर्वे कार्या निर्वहणेऽदभुतम ॥ 4 ॥
चत्वार: पञ्च वा मुख्या: कार्य व्यापृतपूषा:।
गोपुच्छाग्रसमानं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ 5 ॥

अर्थात् नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध होनी चाहिए और पंचसन्धियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श निर्वहन)से युक्त हो। उसमें विलास, समृद्धि

आदि गुण हों तथा अनेक विभूतियों का वर्णन हो। सुख-दुःख की उत्पत्ति हो और निरन्तर अनेक रसों का अस्तित्व हो। नाटक में कम-से-कम पाँच और अधिक-से-अधिक दस अंक होने चाहिए। इसका नायक प्रख्यातवंश का राजर्षि, धीरोदात्त, प्रतापवान् अलौकिक (देवादि) अथवा दिव्यादिव्य 'देवावताररूप पुरुष एवं गुणी व्यक्ति होना चाहिए। नाटक में श्रृंगार अथवा वीर रस की प्रधानता हो और शेष रस गौण होने चाहिए। निर्वहण सन्धि (उपसंहृति, पंचम सन्धि) में अद्भुत रस होना चाहिए। नाटक में केवल चार या पाँच पुरुष (पात्र) कार्यव्यापार में मुख्य होने चाहिए और इसकी रचना गोपुच्छ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए।

नाटक के उपर्युक्त लक्षण आज की परिवर्तनशील परिस्थितियों में अनुकूल नहीं रह गए हैं। पाश्चात्य प्रभाव के कारण सम्प्रति नाटक का प्रचलित रूप प्राचीन मान्यताओं से बहुत कुछ भिन्न प्रतीत होता है।

नाटक के तत्त्व

सामान्यतया लोग यह जानते हैं कि भारतीय विद्वान नाटक के तीन ही तत्त्व मानते हैं–(1) वस्तु (2) नेता (3) रस

''वस्तुनेता रसस्तेषां भेदका:'' (दशरूपक)

किन्तु वास्तविकता यह है कि आचार्य भरत ने 'अभिनय' को विशिष्ट महत्व दिया है, उसके बिना तो नाटक खेला ही नहीं जा सकता। इस प्रकार 'अभिनय' भी नाटक का अनिवार्य अंग या तत्त्व सिद्ध होता है। इसी के अन्तर्गत 'सम्वाद' (कथोपकथन) 'भाषाशैली' तथा 'देशकाल-वातवरण, (नाट्यदृश्य, प्रबन्ध तथा अभिनय) आ जाते हैं। इस प्रकार भारतीय नाट्य-तत्त्वों और पाश्चात्य नाट्यतत्त्वों में लगभग ऐक्य है, पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रियों ने 'केवल रस' को 'तत्व' के रूप में जानने का प्रयास नहीं किया।

जहाँ तक 'उद्देश्य' तत्त्व का प्रश्न है, उसका उल्लेख तो नहीं किया गया, किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) में से किसी एक की प्राप्ति का लक्ष्य या उद्देश्य तो बहुत पहले से मान्य है। इस प्रकार भारतीय मतानुसार नाटक के तत्त्व इस प्रकार हैं–

(1) कथावस्तु (2) पात्र (3) रस (4) उद्देश्य (5) अभिनय।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों के अनुसार नाटक के सात तत्त्व इस प्रकार हैं–

(1) कथावस्तु (Plot) (2) पात्र-चरित्र-चित्रण (Characters) (3) सम्वाद (Dialogue) (4) देशकाल-वातावरण (Atmosphere and envir onment) (5) उद्देश्य (Purpose) (6) भाषाशैली (Language and

style) (7) अभिनय (Stage-acting)।

यदि समन्वय की दृष्टि से 'रस' को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो नाटक के 8 तत्त्व माने जा सकते हैं।

कथावस्तु

भारतीय आचार्यों ने इस तत्त्व पर विस्तृत एवं गम्भीर विचार प्रस्तुत किया है। मुख्यततया कथावस्तु के दो प्रकार हैं–

(क) **आधिकारिक कथावस्तु**–जिस कथा के सूत्र आदि से अन्त तक बने रहते हैं, वह आधिकारिक कथावस्तु कहलाती है। इसका सम्बन्ध कथा के मुख्य नायक से होता है। इस प्रकार इसे मुख्य कथावस्तु भी कह सकते हैं।

(ख) **प्रासङ्गिक कथावस्तु**–जो कथायें मुख्य कथा की सहायिका के रूप में प्रसंगवश बीच में आ जाती हैं, उहें प्रासङ्गिक कथावस्तु कहते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं-(1) पताका (2) प्रकरी।

पताका–वह प्रासंगिक कथावस्तु है जो मुख्य कथावस्तु के साथ अन्त तक चलती है। जैसे–'चन्द्रगुप्त' नाटक में 'सिंहरण' और 'अलका' का कथानक अथवा 'रामायण' में हनुमान का कथानक।

प्रकरी–वह प्रासंगिक लघुकथावस्तु है, जो मुख्य कथावस्तु की सहायिका होकर बीच में आती है और कुछ ही दूर चलकर समाप्त हो जाती है। यथा–'चन्द्रगुप्त' नाटक में सुवासिनी और चाणक्य की प्रेमकथा अथवा 'रामायण' में 'सुतीक्ष्ण सम्वाद'।

"प्रासङ्गिकमित्तिवृत्तं पताका स्यात् प्रकरी तु प्रदेशभाक्।" –दशरूपक

आधार-भेद से कथावस्तु के तीन भेद माने जाते हैं–(1) प्रख्यात (2) उत्पाद्य (3) मिश्र।

प्रख्यातमितिहासादेरुपपाद्यं कविकल्पितम्।
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदत: ॥

अर्थात् जो कथावस्तु इतिहास-पुराणादि से प्राप्त हो या लोक प्रसिद्ध हो उसे 'प्रख्यात' कहते हैं। जो कथावस्तु पूर्णतया कविकल्पना प्रसूत हो उसे 'उत्पाद्य' कहते हैं और जिस कथावस्तु में प्रख्यात तथा उत्पाद अर्थात इतिहास तथा कल्पना का मिश्रण हो उसे 'मिश्र कथावस्तु' कहते हैं। नाटककार प्राय: इसी का प्रयोग करते हैं।

'नाटक' में कथाविकास या कार्यव्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थायें मानी जाती हैं–

कार्य-अवस्थाएँ

1. प्रारम्भ 2. प्रयत्न 3. प्राप्त्याशा 4. नियताप्ति 5. फलागम।

1. **प्रारम्भ**–नाटक के प्रारम्भ में मुख्य फल की इच्छा का प्रकट होना ही प्रारम्भ है।

2. **प्रयत्न**–मुख्य फल की प्राप्ति के लिए संघर्ष तथा यत्न करना 'प्रयत्न' है।

3. **प्राप्त्याशा**–जहाँ प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मुख्यफल के प्राप्त होने की सम्भावना हो जाय, वहाँ 'प्राप्त्याशा' है।

4. **नियताप्ति**-जब सभी विघ्नों के दूर हो जाने पर मुख्यफल की प्राप्ति निश्चित हो जाय, तब वहाँ 'नियताप्ति' होती है।

5. **फलागम**–जब सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय तो वह 'फलागम' अवस्था कहलाती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने कार्य की 6 अवस्थायें मानी हैं–

1. **व्याख्या** (Exposition)-इसमें फल की उद्‌घाटनामात्र होती है।

2. **प्रारम्भिक संघर्ष** (Incident)–इसमें फल प्राप्ति के लिए संघर्ष प्रारम्भ होता है।

3. **कार्य का चरमसीमा की ओर बढ़ना** (Rising action)–इसमें संघर्ष की तीव्रता से वद्धि होती है।

4. **चरमसीमा** (Climax) अथवा (Crisis)–इसमें संघर्ष अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है'

5. **उतार या निगति** (Denoument)–इसमें एक पक्ष की विजय निश्चित हो जाने से कथावस्तु में उतार आ जाता है।

6. **अन्त या समाप्ति** (Catastrophe)–यह समाप्ति अवस्था है, जहाँ संघर्ष से विनाश आदि रूप फल उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित कार्य दशायें भारतीय कार्य दशाओं से पर्याप्त साम्य रखती हैं, अन्तर इतना है कि भारतीय कार्य दशायें फल की ओर उन्मुख रहती हैं और पाश्चात्य कार्यदशायें संघर्ष की ओर।

फल अथवा प्रयोजन की सिद्धि के लिए भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने पंचकार्यावस्थाओं के साथ ही पंच अर्थ प्रकृतियों की भी कल्पना की है। ये कथावस्तु के वे चमत्कारपूर्ण अंग हैं, जो कथावस्तु को फल की ओर ले जाते हैं।

अर्थ-प्रकृति

1. बीज 2. विन्दु 3. पताका 4. प्रकरी 5. कार्य।

> बीजं विन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
> अर्थ प्रकृतयः पञ्चज्ञाला योज्या यथाविधि ।।–साहित्य दर्पण

1. **बीज**–जहाँ अवान्तर कथाओं के कारण फल छिपा रहता है, केवल उसका स्वल्पकथन प्रारम्भ में होता है, उसे 'बीज' कहते हैं।

2. **बिन्दु**–जहाँ प्रासंगिक कथा समाप्त हो जाय, किन्तु मुख्यकथा प्रस्फुट होती रहे, उसे 'बिन्दु' कहते हैं।

3. **पताका**–वह प्रासंगिक कथा है, जो प्रधान कथा को विकसित करने के लिए अन्त तक चलती है।

4. **प्रकरी**–वह लघुकथा होती है, जो प्रधानकथा के साथ कुछ दूर चल कर समाप्त हो जाती है।

5. **कार्य**–इसमें नायक अपने मुख्य लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों में अन्तर–अवस्थायें कार्यसिद्धि की श्रेणियाँ हैं और अर्थप्रकृतियाँ कार्यसिद्धि की साधन हैं।

पञ्च संन्धियाँ

एक ही प्रधान प्रयोजन के लिए बीच के अवान्तर प्रयोजनों की सिद्धि का नाम 'सन्धि' है। प्राय: एक-एक अवस्था अथवा क्रमश: एक-एक अर्थप्रकृति से मिलकर एक-एक सन्धि को जन्म देती है। सन्धियाँ भी 5 हैं–

1. मुख 2. प्रतिमुख 3. गर्भ 4. विमर्श 5. निर्वहण

अर्थ-प्रकृति	**अवस्था**	**सन्धि**
1. बीज	1. आरम्भ	1. मुख
2. विन्दु	2. यत्न	2. प्रतिमुख
3. पताका	3. प्राप्त्याशा	3. गर्भ
4. प्रकरी	4. नियताप्ति	4. विमर्श
5. कार्य	5. फलागम	5. निर्वहण

नोट–एक 'अर्थप्रकृति' और एक 'कार्यावस्था' मिलकर एक सन्धि को जन्म देती है, यह कोई अकाट्य नियम नहीं है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि कुछ नाटकों में 'प्रकरी' होती ही नहीं है।

1. **मुखसन्धि**–इसमें कथावस्तु का प्रारम्भ होता है, 'बीज' अर्थ-प्रकृति और 'प्रारम्भ' कार्यावस्था का संगम रहता है।

2. **प्रतिमुखसन्धि**–इसमें नायक के फल की प्राप्ति कभी लक्षित और कभी अलक्षित प्रतीत होती है।

3. **गर्भसन्धि**–इसमें नायक का मुख्य फल निहित होता है। विघ्नादि के पड़ने पर भी प्राप्ति की सम्भावना बनी रहती है।

4. **विमर्श सन्धि**–इसमें मुख्यफल की प्राप्ति की आशा हो जाती है,

किन्तु शापदि के कारण कुछ बाधा पड़ जाती है।

5. **निर्वहण सन्धि**–इसमें नायक को अपने मुख्यफल की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष-नाटकों में उपर्युक्त पंच अवस्थाओं, पंच अर्थप्रकृतियों और पंच सन्धियों का वास्तविक निर्वाह होना कठिन है। वर्तमान परिस्थितियों में तो कथावस्तु के विकास की पाँच अवस्थाओं का ही निर्वाह हो पाता है।

अभिनय के आधार पर कथावस्तु दो प्रकार की होती है–1. दृश्य 2. सूच्य, दृश्य कथावस्तु से तात्पर्य उस कथानक से है, जिसका अभिनय रंगमंच में प्रदर्शित किया जा सके और 'सूच्य' कथावस्तु का तात्पर्य कथानक या उन बातों से है, जिनको रंगमंच में न दिखलाकर उनकी सूचनामात्र दी जाय, क्योंकि नाट्यशास्त्र में कुछ ऐसी बातें हैं जो रंगमंच में प्रदर्शित करने के लिए वर्जित हैं। उदाहरणार्थ मृत्यु, विवाह आदि।

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः॥
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्यू रतिस्तथा।
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्॥
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम्।
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः॥

अर्थात् दूर बुलाना, वध, युद्ध, राज्य और देशादि का विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रति, दन्तक्षति, नखक्षति तथा लज्जास्पद कार्य, शयन, अधरपानादि नगरादि का घेरा डालना, स्नान, अनुलेपन आदि नाटक में वर्जित हैं और अतिविस्तार भी वर्जित है।

विशेष

आधुनिक नाटकों में वध, युद्ध, विप्लव, विवाह, शाप आदि अनेक वर्ज्यदृश्य दिखलाये जाते हैं, परन्तु वस्तुतः ये वर्ज्यदृश्य अव्यवस्था फैलने के भय से अथवा अश्लीलता के संकोच से वर्ज्य माने जाते रहे हैं। आधुनिक चलचित्रों में तो किसी भी दृश्य का प्रदर्शन वर्ज्य नहीं माना जाता। प्राचीन नाटकों में इन वर्जित दृश्यों को सूचनामात्र दे दी जाती थी, इन्हीं को 'अर्थोपक्षेपक' की संज्ञा दी जाती थी।

अर्थोपक्षेपक

नाटक में जिन वर्ज्य दृश्यों को प्रत्यक्ष नहीं दिखलाया जा सकता था, वे सभी 'सूच्य' कहलाते थे, क्योंकि आगे चलकर उन दृश्यों या घटनाओं की सूचना किसी पात्र के माध्यम से दे दी जाती थी। इन सूच्य तत्त्वों को ही 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। इनके 5 भेद हैं–(1) विष्कम्भक (2) चूलिका

(3) अंकास्य (4) अंकावतार (5) प्रवेशक ।

1. **विष्कम्भक**–इसमें दो अप्रधान पात्रों के माध्यम से पूर्व अथवा पश्चात् घटने वाली घटना की सूचना वार्तालाप द्वारा दिलाई जाती है। यह प्राय: दो अंकों के बीच में अथवा नाटक के प्रारम्भ में रखा जाता है।

2. **चूलिका**–इसमें पर्दे के पीछे से किसी बात की सूचना दी जाती है।

3. **अंकास्य**–इसमें अंक के अन्त में उन्हीं पात्रों द्वारा अगले अंक की गतिविधि की सूचना दी जाती है।

4. **अंकावतार**–इसमें अंक के अंत के पात्र ही अगले अंक में आ जाते हैं।

4. **प्रवेशक**–दो अंकों के बीच में नीच पात्रों द्वारा किसी घटना की सूचना दिलाने में 'प्रवेशक' का प्रयोग होता है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

नाटककार अपने पात्रों के माध्यम से ही अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है, अत: नाटक में इनका विशिष्ट स्थान है। पाश्चात्य नाटकों में तो पात्रों के मध्य 'नायक' कल्पना होने पर भी उसके स्वरूप का कोई निर्धारण नहीं हुआ, किन्तु भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने पात्रों में 'नायक' के स्वरूप पर निश्चित विचार प्रकट किये हैं। सामान्यतया नाटक में नायक, प्रतिनायक, नायिका तथा शेष अन्य स्त्री-पुरुष पात्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

'नायक' शब्द संस्कृति की 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ ले जाना होता है। वास्तव में 'नायक' ही नाटक की कथावस्तु को आगे बढ़ाता है, अत: इसका 'नायक' नाम यथार्थ है। 'प्रतिनायक' नायक का विरोध 'खलनायक' होता है, जो नायक के मार्ग पर रोड़े अटकाता है, संघर्ष करता है और अन्तत: नायक प्राय: पराजित हो जाता है। 'नायिका' नायक की 'पत्नी' अथवा 'प्रेयसी' होती है, जो नायक को प्रेरणा देती है और नाटक में आकर्षण केन्द्र बनी रहती है। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र नायक अथवा प्रतिनायक के सहायक रूप में आते हैं।

नायक के लक्षण

भारतीय मान्यता के आधार पर नायक में निम्नलिखित गुण आवश्यक होते हैं–

> नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष: प्रियम्वद: ।
> रक्तलोक: सुचिर्वाग्मी रूढ़वंश: स्थिरो युवा ।।
> बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामान समन्वित: ।
> शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक: ।।

–दशरूपक: धनञ्जय

अर्थात् नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रियभाषी, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, कुलीन, स्थिर, युवक, बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञावली तथा मान से युक्त होना चाहिए। वह शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता और धार्मिक हो।

प्रकृति के अनुसार नायक के चार प्रकार होते हैं–(1) धीरोदात्त (2) धीरललित (3) धीरप्रशान्त (4) धीरोद्धत।

1. **धीरोदात्त नायक**–यह नायक महान् बलवान्, गम्भीर, क्षमावान्, अविकत्थन (बहुत अधिक न बोलने वाला=मितभाषी) स्थिर, विनम्र तथा दृढ़व्रत होता है। यथा–श्रीराम, भरत आदि।

2. **धीरललित नायक**–यह निश्चिन्त, मृदु, कलाप्रिय और सुखी होता है। यथा–'वत्सराज उदयन'।

3 **धीरप्रशान्त**–यह सामान्य गुणों से युक्त, शान्तिप्रिय, धैर्यशाली कोई ब्राह्मणादि होता है। यथा–'मालतीमाधव' का 'माधव'।

4. **धीरोद्धत**–यह घमण्डी, प्रचण्ड, शूर, मायावी, चंचल, धूर्त, मत्सरी, छली और आत्मप्रशंसक होता है।

पत्नियों के आधार पर नायक चार प्रकार के होते हैं–(1) दक्षिण-नायक (2) धृष्टनायक (3) अनुकूलनायक (4) शठ नायक।

दक्षिण नायक कई पत्नियों के होते हुए भी सब में समान अनुरागी होता है। धृष्टनायक अपराधी होकर भी निर्लज्ज होता है, वह असत्यभाषी, निःशङ्क तथा स्त्रीवचन सहिष्णु होता है। अनुकूलनायक एक पत्नीव्रती होता है और 'शठनायक' किसी अन्य नायिका में अनुरक्त रहता हुआ भी अपनी प्रथम नायिका से स्नेह प्रदर्शित करता रहता है।

नायिका

नायिका में भी नायक की भाँति विशेषताएँ होती हैं। भारतीय नियमानुसार 'नायिका' नायक की पत्नी या प्रेयसी होती है, पर पाश्चात्य विचारों के अनुसार कोई भी स्त्री 'नायिका' हो सकती है। कर्म, जाति, परिस्थिति, वय तथा प्रेमादि के आधार पर इनके अनेक भेद किए गए हैं, किन्तु नाटक में परिस्थिति के अनुसार 8 भेद माने गए हैं–

(1) स्वाधीनपतिका (2) कलहान्तरिता (3) अभिसारिका (4) विप्रलब्धा (5) खण्डिता 6) उत्कण्ठिता (7) वासकसज्जा (8) प्रोषित-पतिका।

नाटक की सजीवता एवं प्रभावकारिता में 'चरित्रचित्रण' का विशेष महत्व है। जहाँ तक हो सके प्रत्येक पात्र का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक होना चाहिये। तभी उसमें स्वाभाविकता आ सकती है। इसकी तीन विधियाँ हैं–

(1) कथोपकथन द्वारा (2) स्वगतकथन द्वारा (3) पात्रों के कार्य-कलाप द्वारा ।

इस प्रकार नाटक में चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक न होकर सदैव व्यंग्य होता है । लेखक को यह ध्यान देना पड़ता है कि उसके पात्र स्वाभाविक ढंग से विकसित हो रहे हैं या नहीं । वह अपने पात्रों को अपने हाथ की कठपुतली नहीं बनाता । नाटककार जिन पात्रों के चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन करता है, उसका मनोवैज्ञानिक कारण भी देता है । इसके अभाव में उक्त पात्र में अस्वाभाविकता आ जानी निश्चित है । इस प्रकार प्रत्येक पात्र का चरित्र इसके संस्कार प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों के अनुकूल प्रस्तुत करना चाहिए ।

सम्वाद या कथोपकथन

पात्रों की पारस्परिक बातचीत का नाम सम्वाद या कथोपकथन है । इसमें नाटककार की कुशलता एवं अभिव्यक्ति-शैली के दर्शन होते हैं । सम्वाद जितने ही चुस्त फड़कते हुए; प्रभावशील एवं सूक्ष्म होंगे, नाटक उतना ही चमत्कारपूर्ण लगेगा । उत्तम कथोपकथन में सरलता, सुन्दरता, धारावाहिकता, संक्षिप्तता, पात्रानुरूपता, सार्थकता, चतुरता एवं चमत्कारिता के गुण होते हैं । इन सम्वादों द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और कथावस्तु को गति मिलती है । नाटककार को इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि उसके पात्र एक भी अनावश्यक वाक्य न बोलें, अन्यथा रोचकता में न्यूनता आ ही जायगी ।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने 'सम्वाद' के तीन भेद बतलाए हैं-(1) सर्वश्राव्य (2) नियतश्राव्य (3) अश्राव्य ।

1. **सर्वश्राव्य**-वे सम्वाद कहलाते हैं, जो सबके सुनाने के लिए होते हैं । अर्थात् कहने वाला पात्र अपना उक्त कथन सभी को सुनाना चाहता है ।

2. **नियतश्राव्य**-इसमें बात कहने वाला पात्र कुछ निश्चित पात्रों को ही वह बात सुनाना चाहता है, क्योंकि उसमें कुछ गोपनीयता रखता है । यह दो प्रकार का होता है-(1) अपवारित (2) जनान्तिक । अपवारित में वक्ता पात्र किसी पात्र विशेष को अपनी बात सुनाने का अभिनय करता हुआ उसकी ओर से मुख फेर कर बात करता है, मानो अपर पात्र उसकी बात सुन ही नहीं रहा । 'जनान्तिक' में वक्तापात्र तीन उँगलियों की ओट से जनता की ओर मुख करके बात करता है, मानो अन्य पात्र उसकी बात सुनते ही नहीं ।

3. **अश्राव्य**-इसमें कोई पात्र अपने अन्तर्द्वन्द्व को स्वत: प्रकट करता

है, मानो वह किसी को सुना नहीं रहा। इसे ही 'स्वगत कथन' कहते हैं। इसी को 'आकाशभाषित' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें पात्र आकाश की ओर देखता हुआ स्वयं अपने से ही बातें करता हैं। उसके हृदय की प्रच्छन्न या रहस्यात्मक बातें प्रकट होती हैं। पाश्चात्य नाटकों में इसको स्वाभाविक मानकर ऐसा किया गया है कि नाटककार किसी पात्र के आन्तरिक गूढ़ विचार को व्यक्त कराने के लिए उक्त पात्र के किसी अतिशय विश्वस्त व्यक्ति को प्रस्तुत कर देता है, जिससे उक्त पात्र निःसंकोच होकर अपनी गोपनीय बात बतला देता है। स्वाभाविकता की दृष्टि से यह उचित भी है।

देशकाल तथा वातावरण

औचित्य की दृष्टि से केवल 'नाटक' में ही नहीं, अपितु साहित्य की प्रत्येक विधा से देशकाल तथा वातावरण का यथार्थ-चित्रण होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि मुगलकालीन किसी घटना से सम्बद्ध नाटक है, तो उसमें तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति से विरुद्ध चित्रण करना असंगत एवं अनुचित प्रतीत होता। इस तत्त्व की अवतारणा तीन प्रकार से की जा सकती है—(1) पात्रों की वेषभूषा द्वारा (2) पात्रों की भाषा के द्वारा (3) तत्कालीन अवस्था के चित्रण द्वारा।

नाटककार को यह ध्यान देना चहिए कि जिस स्थान में और जिस समय लोग जैसे वस्त्राभूषण धारण करते रहे हों, उसके पात्र भी वैसी ही वेशभूषा धारण करें। इस प्रकार जिस स्थान में और जिस समय कोई भाषा प्रचलित रही हो, उससे सम्बद्ध पात्र भी वैसे ही भाषा बोलता हो। ऐसा नहीं कि वैदककालीन पात्र 'अंग्रजी' तथा 'उर्दू' बोलने लगे। ऐसा करने से नाटककार हास्य का पात्र बन जायगा। इसी प्रकार घटना चक्र एवं रंगमंचादि की रचना भी वातावरण के अनुकूल होनी चाहिए। पाश्चात्य नाटकों में "संकलन-त्रय" (Three unites) को इसी उद्देश्य से विशेष महत्व दिया गया है। 'संकलन-त्रय' अन्तर्गत 'स्थान की एकता' (unity of place), काल की एकता (unity of time) और कार्य की एकता (unity of action) आती है। यह बात दूसरी है कि आज के नाटकों में इनका यथार्थ ढंग से पालन नहीं हो पाता।

स्थान की एकता—इसकी तात्पर्य यह है कि जिस स्थल की जो घटना जिन व्यक्तियों से सम्बद्ध है, वही वहाँ उपस्थित रहें। जो पात्र एक दृश्य में कहीं अन्यत्र दिखाये गये हों, वे तुरन्त ही दूसरे दृश्य में किसी दूसरे स्थान पर न दिखाये जाँय, क्योंकि कुछ ही क्षणों, में लम्बे स्थान की दूरी तय कर लेना अस्वाभाविक है।

काल की एकता–इसका तात्पर्य यह है कि घटनाओं के कालक्रम का ध्यान रखना चाहिए। जो घटना पूर्व घटी हो, उसका चित्रण पूर्व और जो पश्चात् घटी हो, उसका पश्चात् चित्रण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाटक में प्रदर्शित दो घटनाओं की समय दूरी इतनी न हो कि दशाब्दियों का व्यवधान हो।

कार्य की एकता–इसका तात्पर्य यह है कि कथावस्तु का कोई एक मुख्य सिद्धान्त हो, प्रासंगिक कथायें उसमें बाधक न बन जाँय। वस्तुत: मुख्यकथा की ही प्रधानता रहनी चाहिए, गौण कथायें उसकी सहायक बनकर रह सकती हैं।

उद्देश्य

पाश्चात्य नाट्यशास्त्री 'उद्देश्य' को नाटक का मुख्य तत्व मानते हैं। उनका दृष्टिकोण जीवन का यथार्थ चित्रण करना है। अत: वे नाटक में सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक समस्या का उद्घाटन करते हैं। भारतीयनाट्यशास्त्री चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम मोक्ष) में से किसी एक की प्राप्ति को उद्देश्य मानते थे। सम्प्रति पाश्चात्य प्रभाव से हिन्दी के नाटकों में भी भौतिक उद्देश्य की अभिव्यक्ति देखी जाती है। नाटककार इन भौतिक उद्देश्यों की अभिव्यक्ति पात्रों के सम्वादों द्वारा करता है। उसका उद्देश्य जितना ही महान् होगा, उसकी कृति भी उतनी महत्वशील होगी। उद्देश्य का सम्बन्ध आन्तरिक एवं वाह्य संघर्षों से होता है, जिसे नाटककार पात्रों द्वारा अभिव्यंजित कराता है। अब यह उत्तरदायित्व पाठकों पर है कि वे नाटककार का उद्देश्य समझते हैं या नहीं अथवा समझते हैं तो किस मात्रा में। उद्देश्य की अभिव्यक्ति का एक मार्ग 'कथानक' भी है, जिसके माध्यम से नाटककार का उद्देश्य समझा जाता है। नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति कर सामाजिकों के मन को आकृष्ट कर लेता है और समाज का यथार्थरूप प्रस्तुत कर मानव-समाज की सहानुभूति भी अर्जित करता है।

भाषा-शैली

नाटकों में 'सम्वाद' सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं और इनको सरस एवं प्रभावशील बनाने के लिए 'भाषा शैली' का आश्रय लेना अनिवार्य है। नाटक की भाषा सरल, सरस, रोचक, प्रभावपूर्ण एवं पात्रानुकूल होनी चाहिए। इन गुणों के अभाव में सम्वाद फीके पड़ जाते हैं और नाटक नीरस प्रतीत होने लगता है। भाषा के साथ ही शैली का सम्बन्ध है क्योंकि शैली भी भाषा को लेकर चलती है। नाटकीय शैली में 'अभिनेयता' का गुण

होना बहुत आवश्यक है। गीत एवं नृत्य की सहायता से नाटक की शैली विशेष प्रभावपूर्ण हो जाती है।

शैली के अंग

(1) गुण (2) रीति (3) वृत्ति।

गुण तो 'ओज', 'प्रसाद' और 'माधुर्य' हैं, जो शौर्यादि की भाँति 'रस' के गुण माने जाते हैं, परन्तु कुछ आचार्य इनका सम्बन्ध व्यंजकवर्णों से मानकर इन्हें शैली के अंग मानते हैं। इसी प्रकार 'गौड़ी' 'वैदर्भी' और 'पाञ्चाली' ये तीन रीतियाँ मानी जाती हैं, जिनका उल्लेख 'रीति-सम्प्रदाय' के वर्णन में कर दिया दिया गया। 'वृत्ति' की चार विधायें हैं–(1) कौशिकी (2) सात्वती (3) आरभटी (4) भारती। इनमें कौशिकी वृत्ति का सम्बन्ध श्रृंगार एवं हास्यरस से माना जाता है। इसमें गीत तथा नृत्य का योग रहता है। 'सात्वती वृत्ति' का सम्बन्ध शौर्य, दान, दया तथा कौशल से माना गया है। 'आरभटी वृत्ति वहाँ होती है, जहाँ 'मायाजाल' का प्रदर्शन किया जाता है और 'भारती वृत्ति' प्राय: सब रसों में प्रयुक्त होती है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें स्त्री पात्रों का अभाव रहता है।

विशेष–आजकल के नाटकों में इन शैलीगत प्रकारों का मूल्य नहीं रह गया, न कोई इनका पालन करता है।

अभिनय

नाटक में 'अभिनय' ही एक ऐसा तत्त्व है, जो उपन्यास आदि में नहीं पाया जाता। इसी कारण 'नाटक' को 'दृश्यकाव्य' की संज्ञा प्राप्त है। जो नाटक 'अभिनेय' नहीं होते, वे उतने महत्वशील नहीं माने जाते। आचार्य भरत ने अभिनय के चार प्रकार बतलाये हैं–(1) आंगिक (2) वाचिक (3) आहार्य। (4) सात्विक।

आंगिक अभिनय

इसमें पात्र अपने विभिन्न अंगों के संचालकों से अनेक भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। यह तीन प्रकार का होता है–शारीरिक, मुखज और चेष्टाकृत। शारीरिक अभिनय का तात्पर्य शरीर की विविध गतियों से है। 'मुखज' का तात्पर्य मुख द्वारा व्यक्त किये गये हावभावों से है और 'चेष्टाकृत' का तात्पर्य भावप्रेरित प्रयत्नों की मुद्राओं से है।

वाचिक अभिनय

वाणी द्वारा व्यक्त किये गये भाव इसी श्रेणी में आते हैं। छन्द:शास्त्र, व्याकरण, स्वरशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि समस्त कलायें इसके अन्तर्गत ले ली गई हैं। पात्र जो वाणी बोलते हैं, उसमें इन सबका न्यूनाधिक प्रदर्शन रहता है। इस प्रकार यह अभिनय विशेष व्यापक एवं महत्वपूर्ण है।

आहार्य अभिनय

इसके अन्तर्गत पात्रों की वेशभूषा, परिधान सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री आदि वाह्य वस्तुयें आती हैं। ये साधन पात्र को सुसज्जित कर देते हैं, जिससे दर्शक पात्र की सुन्दरता (वाह्य अलकरण) से मुग्ध हो जाता है। मन को अपहरण करने की क्षमता, इन वाह्य अलंकरणों में होती हैं, अतः 'आहार्य अभिनय' के रूप में इन्हें भी महत्व दिया गया है।

रस

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने 'रस' को नाटक का प्रमुख तत्त्व माना था। पाश्चात्य विद्वान 'रस' के स्थान पर 'उद्देश्य' को स्वीकार करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि नाटक में संगीत, नृत्य, सम्वाद, अभिनय आदि सभी 'रसपरिपाक' में सहायक होते हैं। नाटक में शृंगार, वीर और करुण में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिए, शेष रस गौणरूप में आ सकते हैं। आचार्य 'भरत' ने शान्त रस को नाटक के अनुकूल नहीं माना, क्योंकि वह 'विरक्तिमार्ग' की वस्तु है, जबकि नाटक अनुरक्ति प्रधान होता है। वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर ही दश रूपकों की कल्पना हुई थी।

रूपक के भेद

भारतीय आचार्यों ने 'रूपक' के 10 भेद और उपरूपकों के 18 भेद स्वीकार किये थे। रंगमंच पर अभिनेय रस भावमय साहित्यिक रचनायें 'रूपक' कहलाईं और केवल नृत्य, नृत्त आदि 'उपरूपक' कहे गये।

रूपक के दश भेद

(1) नाटक (2) प्रकरण (3) भाण (4) व्यायोग (5) वीथी (6) अंक (7) प्रहसन (8) समवकार (9) डिम (10) ईहामृग।

1. **नाटक**–प्रसिद्ध कथावस्तु हो, पंचसन्धियाँ हों, धीरोदात्त नायक हो, वीर शृंगार अथवा करुण रस अंगी शेष रस सहायक हों, पाँच से 10 तक अंक हों, 64 संध्यङ्ग हों, संक्षेप में ऐसी अभिनयात्मक रचना नाटक कहलाती है। अब ये मान्यतायें ध्वस्त प्राय हैं।

2. **प्रकरण**–यह वह रूपक है, जिसकी कथावस्तु कल्पित होती है, नायक धीर प्रशान्त ब्राह्मण या मन्त्री होता है। शेष बातें नाटक के समान होती हैं।

3. **भाण**–इस एक अंक के रूपक में 'आकाशभाषित' के रूप में कोई धूर्त या चतुर व्यक्ति अकेले ही हास्य-व्यंग्ययुक्त कथावस्तु प्रस्तुत करता है। इसमें मुख सन्धि तथा निर्वहरण सन्धि, केवल दो ही सन्धियाँ होती हैं।

4. **व्यायोग**–इस एक अंक के रूपक में वीररस की प्रधानता होती है, प्रायः स्त्री पात्रों का अभाव रहता है, कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक होती है, जिसमें युद्ध की प्रधानता होती है। मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण, ये तीन ही संधियाँ होती हैं।

5. **वीथी**–यह एक अंक का रूपक होता है, जिसमें कल्पित कथा-वस्तु श्रृंगार की प्रधानता, दो तीन पात्र मुख तथा निर्वहण, ये दो सन्धियाँ और कौशकीवृत्ति होती हैं।

6. **अंक**–इस एक अंक के रूपक में प्रसिद्ध कथावस्तु, करुणरस प्रधान, मुख एवं निर्वहण सन्धियाँ तथा भारतीवृत्ति होती है।

7. **प्रसहन**–इस एकांकी में हास्य प्रधान, मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ धूर्तों एवं पाखण्डियों का हास्यात्मक चित्रण होता है।

8. **समवकार**–इस तीन अंक के रूपक में वीर रस प्रधान, कोई रोमांचक युद्ध, अनेक प्रमुख पात्र, सबको विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है और 'विमर्श' सन्धि का अभाव होता है।

9. **डिम**–यह चार अंक का रूपक है, इसमें प्रसिद्ध कथावस्तु, रौद्र रस की प्रधानता, अलौकिक पात्र, 16 पात्र, जादू-टोना, युद्धादि की क्रियायें होती हैं, किन्तु 'विमर्श' सन्धि नहीं होती।

10. **ईहामृग**–इसमें चार अंक, श्रृंगार की प्रधानता, इतिहास और कल्पना से मिश्रत कथावस्तु, धीरोदात्त नायक और प्रतिनायक के साथ संघर्ष का वर्णन होता है।

उपरूपक

1. नाटिका 2. नोटक 3. गोष्ठी 4. सट्टक 5. नाट्य 6. रासक 7. प्रस्थानक 8. उल्लाप्य 9. काव्य 10. प्रेंखण 11. संलापक 12. श्रीगदित 13. शिल्पक 14. विलासिका 15. दुर्मल्लिका 16. प्रकरणिका 17. हल्लीस 18. भाणिका।

विशेष–इनके लक्षण प्राचीन नाट्यग्रन्थों में देखे जा सकते हैं, सम्प्रति इनका प्रचलन नहीं है।

नाटक और उपन्यास में अन्तर

नाटक दृश्यकाव्य है, उपन्यास श्रव्यकाव्य है। नाटक का अभिनय होता है, उपन्यास का नहीं। नाटक की कथावस्तु संक्षिप्त होती है, उपन्यास की विस्तृत। नाटक में देशकाल का बन्धन रहता है, उपन्यास इससे मुक्त रहता है। नाटक के सम्वाद चुस्त होते हैं, उपन्यास के शिथिल। उसमें तो सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या भी सम्भव है। नाटक

में बहुत सी बातें संकेतित होती हैं, पर उपन्यास में उन सबका उल्लेख करना होता है। नाटक का आनन्द 'रंगमंच' पर ही लिया जा सकता है, उपन्यास का आनन्द घर बैठे और यात्रा में भी लिया जा सकता है, नाटक में कुछ घटनाओं का संकेत मात्र होता है, उपन्यास में उनका विस्तार रहता है। नाटक में हर कथावस्तु अभिनीत नहीं हो सकती, क्योंकि रंग-मंच की समस्या के अतिरिक्त प्रसाधन सामग्री सब तरह की नहीं मिल पाती, परन्तु उपन्यास में यह समस्या नहीं रहती। नाटकीय घटनायें तीव्र एवं अधिक प्रभावपूर्ण होती हैं, उपन्यास में वे मन्थरगति पर व्यापक होती हैं।

नाटक में पात्रों का चरित्र व्यंग्य होता है, पर उपन्यास में पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। लेखक स्वयं उसका विश्लेषण करता है, जबकि नाटक में लेखक स्वत: कुछ भी नहीं कहता। नाटक में दृश्यविभाजन होता है, उपन्यास में नहीं। नाटक में अन्तर्द्वन्द्व का प्रकाशन कम हो पाता है, उपन्यास में इसके लिये पर्याप्त स्थान रहता है। नाटक में सीमित पात्र ही स्थान पाते हैं, उपन्यास में इनकी संख्या अधिक हो सकती है। नाटक के सम्वाद सजीव, सरस एवं सूक्ष्म होते हैं, किन्तु उपन्यास में यह चुस्ती, सरसता और प्रभावकारिता नहीं होती। नाटक में पर्दे, रंगशाला, वेश-भूषादि वातावरण के निर्माण में सहायक होते हैं, किन्तु उपन्यास में केवल शब्दों द्वारा ही वातावरण का निर्माण करना पड़ता है। नाटक में पाठक को कम कल्पना करनी पड़ती है, उपन्यास में अधिक नाटक जीवन की विस्तृत व्याख्या नहीं कर पाता, उपन्यास उसकी विस्तृत व्याख्या करता है।

इस प्रकार नाटक 'उपन्यास' से उत्कृष्टतर सिद्ध होता है। इसी कारण भारतीय आचार्यों ने इसे 'पंचमवेद की संज्ञा प्रदान की है।

एकांकी

'एकांकी का प्रचलन तो संस्कृत-साहित्य से ही देखने को मिलता है। दसरूपकों की परम्परा में भाण, व्यायोग, वीथी अंक और प्रहसन, ये पाँच भेद एक प्रकार के एकांकी ही हैं, किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में एकांकी की टेकनीक का प्रचलन है, वस्तुत: वह अंग्रेजी-साहित्य की देन है। "एकांकी एक स्वतन्त्र विधा है, वह नाटक से भिन्न वस्तु है। इसमें जीवन की किसी विशिष्ट घटना, स्थिति विचार एवं परिस्थति का मार्मिक चित्रण एक अङ्क के माध्यम से किया जाता है।

एकांकी का स्वरूप

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार "स्पष्टतया एकांकी एक अंक में समाप्त

होने वाला नाटक है और यद्यपि इस अंक के विस्तार के लिए विशेष नियम नहीं हैं फिर भी छोटी कहानियों की तरह उसकी एक सीमा तो है ही।… एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्तक्षण का चित्र मिलता है।

डॉ० सत्येन्द्र एकांकी के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार रखते हैं-"एकांकी में एक अंक होना चाहिये और एक दृश्य। उसमें स्थल और काल का भी संकलन होना चाहिये। जिन एकांकियों में उनका निर्वाह नहीं हुआ है, वे फोटो के 'आउट आफ फोकस' के चित्र जैसे लगते हैं जिनमें वस्तु तो आ गई दिखाती है पर जिसकी रेखायें अस्वाभाविक रूप से फैलायी होती हैं। उसमें स्थल, काल और व्यापार के संकलन मिलने चाहिये। यह तो एकांकी की सीमाओं की स्थापना है। अब उसकी आन्तरिक गति और आन्तरिक विकास की अवस्था देखनी चाहिये। इसमें एक तो प्रारम्भ बहुत छोटा होना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि पर्दा खुलते ही पात्र वस्तु पर टूट पड़े। सबसे पहले मुख्य वस्तु से किसी भिन्न वस्तु को लेकर आरम्भ हो सकता है, जब आरम्भकर्ता पात्रों का परिचय देलें तो शीघ्र मुख्य वस्तु दृष्टिगोचर हो जानी चाहिये।"

परिभाषा

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से एकांकी की परिभाषायें दी हैं, यहाँ कुछ परिभाषाओं का उल्लेख किया जा रहा है–

1–"एकांकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है, उसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या चित्रित होती है। कार्यकरण की घटनावली अथवा गौणपरिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का इसमें कोई स्थान नहीं होता।"

2–एकांकी की समाप्ति एक ही बैठक में अनिवार्य है। यह एक ही बार और एक ही समय में खतम होने वाली कृति है। बिजली की रफ्तार सी ही उसकी गति है, उसका विषय एक ही होता है, सहायक विषयों के लिये इसमें कोई स्थान नहीं। एकांकी फौरन प्रारम्भ हो जाता है, शीघ्र ही विन्दु तक उसे पहुँचना होता है और अन्त भी उसी प्रकार आकस्मिक होता है। इसका क्षेत्र संकुचित होता है और प्रभावसाम्य अनिवार्य होता है। इसमें सहायक घटनायें कभी-कभी आ सकती हैं किन्तु वे मुख्य घटनाओं से अलग न जान पड़ें। मेजर घटना जो चुम्बक सदृश उसका ध्यान आकर्षित करती है, अनिवार्य है। एकांकी का विषय जीवन की एक घटना ही है।

इसकी कथावस्तु जटिल नहीं होती, ऐक्य एकांकी का आवश्यक अंग है। एकांकी जरूरी नहीं कि छोटा हो। अक्सर यह छोटा है, क्योंकि ऐक्य उसका ध्येय होता है। एकांकी के विषय और समय की किफायत में ही कल्याण है।

—प्रो० अमरनाथ

3–'मेरे सामने एकांकी की भावना वैसी ही है जैसे तितली फूल पर बैठकर उड़ जाय। उसकी घटनावस्तु से जीवन मनोरंजन के साथ निखरे रूप में आ जाय। समझने में न तो प्रयास की आवश्यकता हो न थकावट ही, जीवन का एक पृष्ठ उलट जाय और उसके उलटते हुये आपके मुख पर सन्तोष और सुख हो।

–डॉ० रामकुमार वर्मा

इसी प्रकार सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट आदि विद्वानों ने एकांकी की परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, किन्तु एकांकी के क्षेत्र में इतने अधिक प्रयोग हुए हैं और होते जा रहे हैं कि उन सबको किसी एक परिभाषा में बांध पाना कठिन है। ऊपर जो परिभाषायें दी गई हैं, उनसे आंशिक रूप में एकांकी के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसी प्रकार अपूर्ण परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, जिनमें कुछ परिभाषायें इस प्रकार हैं —

1–'सिडनी वोक्स' ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'टेकनिक आफ वन एक्टप्ले' में एकांकी की परिभाषा इस प्रकार दी है–

The one act form is not one which lends itself easily to much subtilty of characterisation. It is essentially conce-rtrated single of purpose, and for this reason impose the strictest discipline upon the play-wright who make use of it. It should aim at making a single impression, should possess singleness of situation and should concentrate its interest on a single character or a group of characters."

अर्थात् एकांकी का स्वरूप ऐसा नहीं होता, जिसमें चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मताओं को महत्व दिया जा सके। इसका एक आवश्यक केन्द्रीभूत उद्देश्य होता है और इस हेतु एकांकी लेखन में कठोर अनुशासन होता है जो इसको प्रयोग में लाता है। एकांकी का लक्ष्य होना चाहिये कि वह एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करे, एक स्थिति रखे और उसका ध्यान एक पात्र अथवा विशिष्ट पात्र समुदाय पर केन्द्रित हो।

2–'प्रिवर्ड ईटन' ने अपने ग्रन्थ "चीफ फाल्टर्स इन राइटिंग वन एक्टप्ले" में एकांकी का यह रूप स्वीकार किया है –

"The one act play, be its nature and the rigid restriction of medium has to confine itself to a single episode or situation and this situation, in turn has to grow and develope out of itself."

अर्थात् एकांकी नाटक की ऐसी प्रकृति होनी चाहिये कि उसमें किसी एक ही घटना अथवा विशेष परिस्थिति का नियोजन ऐसा हो कि वह स्वत: धीरे-धीरे बढ़े और विकसित हो जाय।

विचार करने पर ये परिभाषायें भी अपूर्ण प्रतीत होती हैं। प्राय: सभी परिभाषाओं का निष्कर्ष इस प्रकार है-

(क) एकांकी में किसी एक घटना, परिस्थिति, समस्या अथवा पक्ष का चित्रण होना चाहिये।

(ख) उसमें संक्षिप्तता, कुतूहल, मनोरंजन, ऐक्य एवं सजीवता के गुण होने चाहिये।

(ग) एकांकी में संकलनत्रय के निर्वाह के साथ ही लेखक की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में समन्वय होना अनिवार्य है।

(घ) एकांकी में एक अंक के माध्यम से ही, गिनेचुने पात्रों को लेकर संघर्ष का चित्रण करना चाहिये।

समन्वित परिभाषा

हमारे विचार से एकांकी की समन्वित परिभाषा इस प्रकार हो सकती है-"एकांकी वह नाट्य विधा है, जिसमें एक अंक के आकार में लेखक जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष, घटना, समस्या, कार्य, भाव अथवा परिपार्श्व को सीमित पात्रों, रंगमञ्चीय संकेतों एवं कलात्मक तत्त्वों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है और इस अभिव्यक्ति की सफलता के लिए संकलनत्रय का पालन, यथार्थ और आदर्श का समन्वय तथा कुतूहल एवं संघर्ष का प्रस्तुतीकरण करता है।"

एकांकी के तत्त्व

(1) कथावस्तु (2) पात्र तथा चरित्र-चित्रण (3) सम्वाद (4) देशकाल (5) भाषाशैली (6) उद्देश्य (7) अभिनेयता।

कथावस्तु

एकांकी की कथावस्तु असीमित है। लेखक कभी इतिहास या राजनीति से, कभी समाज या संस्कृति से कभी सामयिक समस्याओं एवं मनोभावों से इसका चयन करता है। इस प्रकार एकांकी की कथावस्तु

जीवन के यथार्थ से ली जाती है। कथानक में रोचकता एवं गतिशीलता का होना आवश्यक है। उसमें एक भी प्रसङ्ग-अनावश्यक नहीं होना चाहिये। स्पष्टता, कुतूहल तथा कलात्मकता के गुणों से विभूषित कथावस्तु दर्शक को प्रभावित करती है। उसमें वर्णनात्मकता गौण हो और अभिनयात्मकता की प्रधानता होनी चाहिये। लेखक को कथानक में अन्तर्द्वन्द्व एवं स्वाभाविकता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सामान्यतया एकांकी की कथावस्तु 4 अवस्थाओं में समाप्त होनी चाहिये–(1) प्रवेश (2) अवरुन्धन (3) उत्कर्ष (4) अन्त।

प्रवेश में एकांकी की पृष्ठभूमि आकर्षक ढंग से प्रस्तुत की जाती है और साथ ही प्रमुख पात्रों का परिचय, परिस्थिति, समस्या आदि का भी संकेत कर दिया जाता है। द्वितीय सोपान 'अन्तर्द्वन्द्व' में एकांकीकार स्वाभाविक एवं रहस्यात्मक-संकेतों के द्वारा अन्तर्द्वन्द्व का आकर्षक चित्रण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कथावस्तु क्षिप्रगति से अग्रसर होती है। तृतीय सोपान 'उत्कर्ष' या 'चरमसीमा' में द्वन्द्व अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है और लेखक अन्तिम परिणाम का संकेत कर देता है। चतुर्थ सोपान 'अन्त' में परिणाम सामने आ जाता है, किन्तु समस्या प्रधान नाटकों में अपूर्णता ही रहती है। एकांकी की सफलता के लिये देश, काल तथा कार्य की एकता (संकलनत्रय) भी आवश्यक प्रतीत होती है। निष्कर्ष यह कि एकांकी की कथावस्तु में एकता, एकाग्रता तथा विस्मय या कुतूहल, इन तीन तत्त्वों का होना आवश्यक है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

एकांकी में 5 या 6 पात्रों से अधिक पात्र न होने चाहिये, क्योंकि पात्रों की भरमार से कथावस्तु में शिथिलता आ जाती है और मुख्य पात्रों के भी चरित्रों की रूपरेखायें नहीं अंकित हो पातीं। इसमें मुख्यतया नायक पर ही लेखक का ध्यान केन्द्रित रहता है और उसी का चरित्र कुछ अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हो पाता है। पात्रों की चारित्रिक रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए लेखक को पात्रों के मन, वचन, कर्म में सजीवता, स्वाभाविकता एवं मनोवैज्ञानिकता का ध्यान रखना होता है। सामान्यतया नायक, प्रतिनायक तथा सामान्य पात्र, ये तीन प्रकार के पात्र ही इसमें स्थान पा सकते हैं।

सम्वाद

सम्वाद या कथोपकथन ही एकांकी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। ये सम्वाद जितने ही सार्थक, सरस, चुटीले, संक्षिप्त, गम्भीर एवं स्वाभाविक होंगे, एकांकी उतना ही प्रभावपूर्ण होगा। डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है–

"कथोपकथन संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाग्वैदग्ध्ययुक्त, चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करने वाला होना चाहिये। बहुधा एकांकी कथोपकथनों में होकर समस्त गति और शक्ति संचित करता हुआ कथोपकथन द्वारा ही चरम पर पहुँचता है। अथवा कथोपकथन या संभाषण में ही वह अपनी परिसमाप्ति पा लेता है।"

सम्वाद के द्वारा पात्रों के भाव व्यक्त होते हैं और उनके भावों से चरित्र का पता चलता है और सम्वादों से ही कथावस्तु को गति मिलती है। अत: संवादों में एक भी शब्द निरर्थक नहीं होना चाहिये। प्रत्येक पात्र अपनी योग्यता, मर्यादा आदि के औचित्य के अनुसार ही बोले, किन्तु भाषण न देने लगे। इन बातों पर ध्यान रखने से ही एकांकी सफल हो पाता है।

४. देशकाल

एकांकी में देशकाल का पृथक् एवं विस्तृत चित्रण करना असम्भव है। इसकी झलक मिलती है। पात्र जैसी वेशभूषा धारण करते हैं, जैसा आचरण करते हैं और जिस संस्कृति की अभिव्यंजना करते हैं, उससे भी देशकाल का परिज्ञान होता है।

५. भाषाशैली

एकांकी एक दृश्य काव्य है, अत: उसकी भाषाशैली अत्यन्त सरल एवं सुबोध होनी चाहिये। सम्वादों को शक्तिशाली बनाने में भाषाशैली का बड़ा महत्व है। कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों की अभिव्यक्ति करने में ही कलाकार की सफलता होती है। लेखक को पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिये, किन्तु ऐसा न हो कि एकांकी अनेक भाषाओं के उदाहरण का स्वरूप बन जाय। इसी भाषाशैली द्वारा पात्रों के चरित्र का भी ज्ञान होता है, अत: स्वाभाविकता की रक्षा के लिये एकांकी की भाषाशैली बोधगम्य एवं स्वाभाविक होनी चाहिये। इसी भाषाशैली से लेखक की कलाकुशलता का भी परिचय प्राप्त होता है।

६. उद्देश्य

एकांकी जीवन के अधिक समीप होता है क्योंकि वह संघर्ष का चित्रण करता है, यथार्थ को मूर्तरूप देता है। लेखक कभी किसी समस्या को चित्रित्र करने के उद्देश्य से एकांकी लिखता है और कभी अन्य उद्देश्यों से भी। इन उद्देश्यों में समाजसुधार, नवजागरण, राष्ट्रीयता, देशप्रेम, परिवार आदि किसी को लेकर एकांकी की सृष्टि हो सकती है। लेखक अपने इस उद्देश्य को अप्रत्यक्ष रखकर पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। उसका मूललक्ष्य आनन्द की सृष्टि करना है।

७. अभिनेयता

अभिनेयता तो दृश्यकाव्य का अनिवार्य अंग है, इसके अभाव में चाहे नाटक हो या एकांकी या और कोई रूपक, उसे 'श्रव्यकाव्य' ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। एकांकीकार एकांकी के प्रारम्भ में ही विस्तृत रंगमञ्चीय संकेत दे देता है। पात्रों की वेशभूषा, दृश्यों की साज-सज्जा, वातावरण, स्थान, समय आदि के संकेत इसीलिए दिये जाते हैं, कि एकांकी के अभिनय करने में सुविधा हो सके। अभिनेयता के लिये एकांकीकार को पात्रों की संख्या 5 या सात से अधिक नहीं रखनी चाहिये, अन्यथा रंगमंच में सभी पात्र सम्हल नहीं सकते। अभिनेय एकांकी की भाषा सरल होनी चाहिये, सम्वाद चुस्त, संक्षिप्त एवं प्रभावपूर्ण होने चाहिये। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि एकांकी आधे घण्टे के अन्दर अभिनीत हो सके। एकांकी में ऐसी ही सामग्री का संकेत हो जो सरलता से अल्पव्यय करने पर भी प्राप्त की जा सके। इन सबके अतिरिक्त अभिनेय एकांकी की कथावस्तु रोचक एवं सरल होनी चाहिये।

एकांकी का वर्गीकरण

विषयवस्तु की दृष्टि से एकांकी के 11 वर्ग हो सकते हैं–1. सामाजिक एकांकी 2. राजनीतिक एकांकी 3. ऐतिहासिक एकांकी 4. प्रगतिशील एकांकी 5. पार्टी एकांकी 6. मानवतावादी एकांकी 7. धार्मिक-पौराणिक-नैतिक एकांकी 8. वैज्ञानिक एकांकी 9. मनोवैज्ञानिक एकांकी 10. रेडियो एकांकी 11. गीति नाट्य एकांकी।

सामाजिक एकांकियों में मानव समाज की समस्याओं एवं सुख-दुःखों का प्रतिबिम्ब रहता है। राजनीतिक एकांकियों में राजनीतिक आन्दोलनों, विचारधाराओं तथा नेतागीरी की पोल-पट्टियों का चित्रण किया जाता है। ऐतिहासिक एकांकी किसी ऐतिहासिक घटना को लेकर लिखे जाते हैं, उनमें कुछ कल्पना का मिश्रण रहता है। प्रगतिशील एकांकियों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रधान रहता है, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह व्यक्त किया जाता है और आर्थिक वैषम्य पर तीक्ष्ण प्रहार दृष्टिगोचर होता है। पार्टी एकांकियों में समाजवादी, कम्यूनिस्ट, कांग्रेस, हिन्दू महासभा तथा सरकारी प्रचार-साहित्य का अस्तित्व होता है। मानवतावादी एकांकियों में समस्त विश्व के मानव को एक इकाई समझकर उसकी समस्याओं का अंकन रहता है। धार्मिक-पौराणिक-नैतिक एकांकी प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक ग्रंथों पर आधारित रहते हैं। इनमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की जाती है। वैज्ञानिक

एकांकियों में विज्ञान को आधार बनाकर उसके गुणों अथवा दोषों पर प्रकाश डाला जाता है। मनोवैज्ञानिक एकांकियों में पात्रों के चरित्र को अधिकाधिक मनोविज्ञान की कसौटी पर परखा जाता है। ये एकांकी अधिक गम्भीर होते हैं। रेडियो एकांकी आज की नयी विधा है। इन्हें 'ध्वनि एकांकी' भी कह सकते हैं। वस्तुत: इनका अभिनय नहीं होता, केवल निर्देशों के माध्यम से कथावस्तु अग्रसर होती है, शेष सभी विशेषतायें ध्वनि तरंगों से व्यक्त की जाती हैं। 'गीतिनाट्य' भी एक नवीन विधा है, इसमें प्रतीकात्मक पद्धति से कथावस्तु ग्रथित की जाती है, किन्तु उसका रूप पद्यात्मक होता है।

इस प्रकार अभी एकांकी विकास के नित्य नये आयामों की खोज में है। टेलीविजन के आविष्कार से इस दिशा में भी नूतनता आ रही है। वर्तमान एकांकीकार पाठ्य एकांकियों की भी रचना कर रहे हैं। कुछ लोग कई छोटे-छोटे एकांकियों की एक माला-सी बनाकर 'एकांकीमाला' का प्रयोग कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि आजकल 'लघुकथा' से भी अधिक लोकप्रियता 'आधुनिक एकांकी' को प्राप्त है। विकास के नूतन स्रोतों को पाकर यह विधा उत्तरोत्तर निखर रही है।

उपन्यास

आधुनिक युग में प्राय: 'उपन्यास' अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं, क्योंकि इनमें सरल भाषा-शैली के माध्यम से जीवन का यथार्थ-चित्र प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दीं में 'उपन्यास' की विधा भी मुख्यतया आंग्ल प्रभाव से आई हुई है। 'उपन्यास' शब्द 'बंगला' से होकर हिन्दी में आया है, जो अंग्रेजी के 'नाविल' (Novel) का ही रूपान्तर है। इसका शब्दार्थ है—नया या नूतन। 'नाविल' में काल्पनिक घटनाओं का चित्रण होता था, अत: इस अर्थ में उन्हें 'नूतन' या 'नवल' माना गया। फ्रांस में इस हेतु 'नोवास' शब्द का प्रयोग होता था, क्योंकि इस विधा में जीवन के यथार्थ का चित्रण किया जाता था। 'इटली' में इस हेतु 'नोविले' शब्द प्रयुक्त होता है। 'नोविले' में कथाय संक्षिप्त, यथार्थ प्रधान, किन्तु, छन्दोबद्ध होती थीं अंग्रेजी में इन्हीं का अनुवाद हुआ। इस प्रकार 'इटली' से आया हुआ 'नोविले' अंग्रेजी में 'नाविल' के रूप में प्रयुक्त होने लगा। इसके पूर्व गद्य कथाओं के लिए अंग्रेजी में 'फिक्सन' (Fiction) शब्द प्रचलित था, जिसका अर्थ 'गल्फ' या 'कल्पितकथा' होता है। इसका शब्दार्थ 'रोमांस' (Romance) भी होता है, परन्तु रोमांस' और नाविल में अन्तर है। 'रोमन' शब्द से 'रोमांस' की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ 'असाधारण' घटनाओं एवं पात्रों का चित्रण होता है, जबकि उपन्यास में भी जीवन की साधारण सम्भव घटनाओं का

चित्रण होता है। इसके अतिरिक्त 'रोमांस' पद्यात्मक होते हैं और 'उपन्यास' या 'नाविल' गद्यात्मक। इस सम्बन्ध में 'क्लारारीव' (Clarareeve) का कथन दृष्टव्य है–

"उपन्यास अपने युग का चित्रण करता है, रोमांस उदात्त भाषा में उसका वर्णन करता है, जो न घटित है, न घटमान उन्यास दैनिक जीवन की घटनाओं का सम्बन्ध बतलाता है, जो हमारे मित्रों तथा हमारे जीवन में सम्भव हो। उपन्यास की सफलता इसमें है कि प्रत्येक दृश्य इस सरलता और स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत हो और उसे इतना सामान्य बनाया जाय कि उसकी वास्तविकता में विश्वास हो जाय।"

परिभाषा

'उपन्यास की अनेक परिभाषायें दी गई हैं। 'न्यू इंगलिस डिक्सनरी' के अनुसार–बृहत् आकार गद्य-आख्यान या वृतान्त, जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाना 'उपन्यास' है। प्रसिद्ध विद्वान क्रोसे के अनुसार–'नोवेल' (उपन्यास) से अभिप्राय उस गद्यमय गल्पकथा से है, जिसमें वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्रण रहता है। 'बेकर' के अनुसार–"उपन्यास को हम गद्यमय कल्पित आख्यान के माध्यम से की गई जीवन की व्याख्या कहते हैं।" फ्रांसीसी विद्वान 'चेवल' के अनुसार 'उपन्यास निश्चित आकार का गद्यमय आख्यान है।' 'आर बर्टन' के अनुसार–"उपन्यास गद्य में रचित कवि के समकालीन जीवन का अध्ययन है, जिसकी रचना लेखक समाज के उत्थान-पतन की भावना से अनुप्राणित होकर करता है। इसके लिए वह प्रेमतत्व को प्रधानतया ग्रहण करता है, क्योंकि अपने सामाजिक सम्बन्धों में मानव इसी से परस्पर बँधे हुए हैं।" 'वेवस्टर' के अनुसार–"उपन्यास एक ऐसा कल्पित विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है, जिसमें एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और उनके क्रियाकलापों का चित्रण रहता है।"

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं में से 'वेवेस्टर' की परिभाषा अधिक पूर्ण, सुव्यवस्थित एवं सरल प्रतीत होती है। वैसे तो 'उपन्यास' की परिपूर्ण परिभाषा प्रस्तुत करना कठिन है, क्योंकि जब यह जीवन की व्यख्या है, तो जीवन की अनेक रूपता भी इसमें आती है और जीवन की अनेकरूपता को कुछ पक्तियों में कैसे बांधा जा सकता है! यह बात दूसरी है कि उसकी कुछ रूपरेखा प्रस्तुत कर दी जाय। यही बात इन परिभाषाओं में भी लागू होती है।

भारतीय विद्वानों ने भी 'उपन्यास' की परिभाषायें दी हैं, कुछ का उल्लेख किया जा रहा है–

1. मुन्शी प्रेमचन्द लिखते हैं–"मैं उपन्यास को मानवचरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानवचरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्य को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।"

2. डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार–"मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा 'उपन्यास' है।"

3. हमारे विचार से उपन्यास की अधिक संगत एवं समन्वित परि-भाषा इस प्रकार हो सकती है–

"उपन्यास वृहत् आकार की वह गद्यविधा है, जिसमें मानव जीवन सुखदु:खात्मक अनुभूतियों को यथार्थ और कल्पना के मिश्रण से कलापूर्ण कथात्मकरूप देकर अभिव्यक्त किया जाय।"

उपन्यास का स्वरूप

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने में उपन्यास के रूप का यत्किं-चित आभास हो जाता है, अत: उसके स्वरूप के विस्तृत विवेचन की आवश्य-कता है। वस्तुत: उपन्यास जनसाधारण के लिए लिखा जाता है, अत: उसकी भाषा सरल एवं स्पष्ट होनी चाहिए। उसमें जो भी कथावस्तु हो,वह काल्पनिक होती हुई भी जीवन के यथार्थ से ली गई हो और अवान्तरकथाओं के मेल रहने पर भी उस मूलकथा का स्वरूप स्पष्ट हो। उपन्यास को हम गद्यात्मक महा-काव्य भी कह सकते हैं, उसके अन्तर्गत लेखक अपने जिन विचारों को व्यक्त करता है ,उनके व्यक्त करने की दो विधियाँ अपनाता है–प्रत्यक्ष विधि, अप्रत्यक्ष-विधि। प्रत्यक्षविधि में लेखक अवकाश निकालकर स्वयं किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगता है और अप्रत्यक्षविधि में वह पात्रों के मध्य से बोलता है। प्राय: सफल लेखक अपने प्रधान पात्रों के माध्यम से ही बोलते हैं। कला की दृष्टि से यही विधि उत्तम है, क्योंकि उपन्यासकार को साक्षात् उपदेष्टा बनने से बचना चाहिए। उसे मानव जीवन की यथार्थ घटनाओं को लेकर कल्पना का जामा पहनाकर एक नवीनरूप में प्रस्तुत करना पड़ता है, जिसमें स्वाभाविकता एवं सुचारुता के साथ ही तटस्था का दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। जीवन की विविधा का चित्रण करने में उसे जितनी ही प्रखर अनुभूति होगी, उतनी ही सफलता मिलेगी।

उपन्यास के तत्त्व

(1) कथावस्तु (2) पात्र तथा चरित्र-चित्रण (3) कथोपकथन (4) देशकाल-वातावरण (5) भाषाशैली (6) उद्देश्य।

कथावस्तु

'उपन्यास' में कथावस्तु का सर्वाधिक महत्व होता है। यह कथावस्तु ऐतिहासिक हो या काल्पनिक किन्तु लेखक को न्यूनाधिकरूप में अपनी कल्पना का आश्रय लेकर उसे सरसता एवं प्रभावकारिता प्रदान करनी होती है। इसके अतिरिक्त लेखक कथावस्तु का निर्माण करने के लिए समाचार पत्रों, प्रामाणिक लेखों एवं विभिन्न विषय की पुस्तकों का भी आश्रय लेता है। इस प्रकार उसकी कथावस्तु जीवन से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की हो सकती है। चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक, साहित्यिक हो या सांस्कृतिक ऐतिहासिक हो या पौराणिक, रोमाण्टिक हो या जासूसी।

उत्तम कथावस्तु में संघटन, अनुपात, घटनाओं का सहज विकास, रोचकता, गति, स्वाभाविकता, मौलिकता तथा सत्यता के गुण विद्यमान रहते हैं। किसी भी उपन्यास की कथावस्तु में मानवजीवन की परिस्थितियों एवं उनकी समस्याओं का ऐसा सजीव चित्रण होना चाहिये, जो बिल्कुल सत्य हो और यथार्थ होता हुआ भी रोचक हो। उपन्यास की कथावस्तु जीवनमूल्यों का विश्लेषण करती है, चरित्रों के माध्यम से समाज के आदर्शों की व्याख्या करती है। जीवन के उत्थान-पतन का मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित करती है। इसकी कथावस्तु में जो भी अवान्तर कथायें हों, उन्हें मूलकथावस्तु की पोषिका बनकर ही रहना चाहिये। इसी प्रकार उपन्यास की घटनायें भी सीमित रूप में प्रस्तुत की जानी चाहिये, क्योंकि अधिक विस्तार से उनकी रोचकता के नष्ट होने का भय रहता है। इसके अतिरिक्त सभी घटनाओं में एक शृंखला होनी चाहिये, जिससे वे समन्वित रूप में एक प्रतीत होती हों।

सामान्यतया उपन्यास का कथानक 'प्रत्यक्ष प्रणाली या आत्मकथा प्रणाली' अथवा 'पत्र प्रणाली' के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रणालियाँ भी हो सकती हैं।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

उपन्यासकार पात्रों के माध्यम से ही कथावस्तु को विकसित करता है। इसमें एकांकी की भाँति संकुचित क्षेत्र नहीं होता, पर्याप्त संख्या में 14 या 20 तक भी पात्र सरलतापूर्वक स्थान पा जाते हैं। पात्रों का चयन समाज के सभी वर्गों से किया जा सकता है। लेखक को चाहिये कि वह पात्रों का स्वाभाविक विकास होने दे, उन्हें अपने हाथों की कठपुतली न बनाये। पात्रों की सहायता से ही लेखक जीवन की बहुमुखी व्याख्या करता है, अतः उसे विभिन्न प्रकृति और प्रवृत्ति के पात्रों को प्रस्तुत करना होता है। पात्रों में

गुण भी होते हैं, अवगुण भी। दोनों का उद्घाटन करना कलाकार का कर्त्तव्य है। पात्रों का क्रियाकलाप उनके चरित्र पर प्रकाश डालता है, अत: उनके क्रियाकलापों में सजीवता, यथार्थता एवं आकर्षण होना चाहिये। चरित्र-चित्रण की कुशलता इसी बात में है कि उपन्यास का पाठक विभिन्न पात्रों को सरलता से पहचान सके और उनसे तादात्म्य स्थापित कर सके। एक आलोचक ने लिखा है–

"मनुष्य प्रकृति के विभिन्न पक्षों और स्तरों के सूक्ष्म अध्ययन और कम-से-कम शब्दों में चित्र को पूरा-पूरा उपस्थित कर सकने की योग्यता ही सफल चरित्र-चित्रण की सफलता के लिये पात्रों को कथानक के अनुकूल ही प्रस्तुत करना चाहिये और उनमें मौलिकता, सजीवता एवं स्वाभाविकता की सृष्टि करनी चाहिये। इस हेतु कलाकार को मानवजाति की मनोदशाओं प्रकृतियों एवं परिस्थितियों का विस्तृत ज्ञान होना चाहिये।

चरित्रों के प्रकार

चरित्र-चित्रण की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं, किन्तु मुख्यरूप में वर्णनात्मक प्रणाली और अभिनयात्मक-प्रणाली, ये दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लेखक को यथासम्भव दोनों से समुचित लाभ उठाना चाहिये। सामान्यतया चरित्र 4 प्रकार के होते हैं–(1) वर्गप्रधान चरित्र (2) व्यक्तिप्रधान चरित्र (3) आदर्श चरित्र (4) यथार्थ चरित्र। वर्गप्रधान चरित्रों में जातीय विशेषताओं की विशेषता होती है, व्यक्तिप्रधान चरित्रों में स्वतन्त्र रूप से व्यक्तिगत विशेषतायें अंकित की जाती हैं। आदर्श चरित्र में किसी पात्र विशेष के जीवन में आदर्शवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की जाती है और यथार्थवादी चरित्रों में पात्र विशेष के माध्यम से जीवन की यथार्थता का अंकन किया जाता है। इसमें पात्र देव, असुर अथवा मानव, किसी भी कोटि के हो सकते हैं।

कथोपकथन

उपन्यास के कथोपकथन नाटकादि की तुलना में विस्तृत होते हैं, किन्तु लेखक को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कथोपकथन संगत, सजीव एवं स्वाभाविक हों। अधिक लम्बे कथोपकथन नीरस लगने लगते हैं। उनकी सार्थकता इस बात में है कि वे पात्रों के व्यक्तित्व का प्रकाश करते हों और कथाक्रम को भी गति देते हों। कथोपकथन से उपन्यास में नाटकीयता आ जाती है, अत: यथासम्भव उनमें पात्रों के मनोभावों, संकल्प-विकल्पों, प्रतिक्रियाओं आदि का भव्यचित्र प्रस्तुत करना चाहिये। "देशकाल और पात्र के अनुकूल स्वाभाविकता, मनोविज्ञान की उपयुक्तता और उपन्यास

की रोचकता और आकर्षण को बनाने वाली अभिनयात्मकता और सरसता आवश्यक है। किन्तु अतिशय स्वाभाविकता भी हेय है, इससे नवीनता नहीं आती। कथोपकथन के द्वारा तीन विशेषतायें आती हैं–(1) कथानक का विकास (2) चरित्र-चित्रण में साहाय्य (3) लेख के दृष्टिकोण की झांकी। इस महत्व को ध्यान में रखते हुये कथोपकथनों को सूक्ष्म, स्वाभाविक, सशक्त, प्रभावशील एवं हृदयावर्जक बनाना चाहिये।

देशकाल तथा वातावरण

उपन्यास में इनका पालन होने से लेखक की चातुरी एवं बहुज्ञता पर प्रकाश पड़ता है। कथावस्तु का सम्बन्ध जिन-जिन स्थानों से हो, लेखक को उनकी वास्तविकता, परिस्थिति, भौगोलिक पर्यावरण आदि से परिचित होना चाहिये। इसके अतिरिक्त जिस समय का चित्रण हो, उस समय की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्थितियों का भी ज्ञान होना चाहिये, तभी वह उनकी अभिव्यक्ति कर सकेगा। उपन्यास में किसी घटना की सजीवता में वृद्धि करने के लिये पृष्ठभूमि के रूप में भी 'वातावरण चित्रण' नितान्त उपयुक्त सिद्ध होता है। देशकाल तथा वातावरण के चित्रण में भी सूक्ष्मता का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न हो कि इसके आधिक्य से पाठक ऊबने लगे। इसको सरस बनाने के लिए इसमें कल्पना का भी पुट दे देना चाहिए। इससे उपन्यास में काव्यात्मकता भी आ जाती है। यह तत्व उपन्यास में समाज का वास्तविक रूप प्रस्तुत करने में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

भाषाशैली

शैली लेखक की अभिव्यक्ति का साधन है और भाषा उसकी सहायिका है। उपन्यास की भाषा जन-जीवन के जितने ही समीप होगी, वह उतना ह सरल लगेगा और पाठक आकृष्ट होंगे। इसकी सजीवता के लिए बीच-बीच में लोकोक्तियों एवं मुहावरों के भी स्वाभाविक प्रयोग होने चाहिए। हास्य और व्यंग्य का पुट भाषाशैली को अधिक ग्राह्य बना देता है, अत: लेखक को इनका भी यथोचित प्राविधान करना चाहिए। लेखक की उत्तम शैली पाठक को अनुरक्त रखती है। उसमें यथास्थान ओज एवं माधुर्य को भी स्थान देना चाहिए और 'प्रसाद' को तो सर्वाधिक स्थान देने की आवश्यकता होती है। शैली की सजीवता के लिये उसमें पात्रानुकूलता का भी ध्यान रखना पड़ता है। पात्रानुकूल भाषाशैली से उपन्यास में प्रवाह एवं प्रांजलता जैसे गुण स्वत: आ जाते हैं। शैली जहाँ एक ओर लेखक के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती है, वहाँ दूसरी ओर पाठक को भी विमुग्ध रखती है। उपन्यास लेखन में प्राय: निम्नलिखित शैलियाँ प्रचलित हैं–

(1) वर्णनात्मक शैली (2) आत्मकथात्मक शैली (3) पात्रात्मक शैली (4) डायरी शैली।

वर्णनात्मक शैली में लेखक पात्रों एवं घटनाओं का वर्णन करता चलता है, बीच-बीच में अपनी बात भी कह देता है। यह शैली सर्वाधिक प्रचलित है। वस्तु वर्णन एवं प्रकृति वर्णन की सुविधा इस शैली में सर्वाधिक रहती है। आत्मकथा शैली में एक पात्र ही स्वतः सारी कहानी आप बीती के रूप में प्रस्तुत करता है। पत्रात्मक शैली में पत्रों के माध्यम से कथावस्तु विकसित की जाती है और 'डायरी शैली' में 'डायरी' के माध्यम से कथावस्तु का विकास किया जाता है। इसी प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से शैली के अनेक भेद किये जा सकते हैं।

उद्देश्य

यदि साहित्य को 'शुद्ध कला' की दृष्टि से देखें तो 'उपन्यास' का भी उद्देश्य 'आनन्द की सृष्टि करना' है, किन्तु यदि साहित्य को जीवन की दृष्टि से देखें, जैसा कि अधिक संगत प्रतीत होता है, तो उपन्यास का लक्ष्य 'जीवन दर्शन' की अभिव्यक्ति है। उपन्यासकार को जीवन की मीमांसा करते हुए कलात्मकता के सौन्दर्य की रक्षा भी करनी चाहिये, अतः वस्तुतः सौन्दर्य को सहगामी बनाकर जीवन दर्शन और आनन्द का समन्वयात्मक चित्रण करना उपन्यासकार का लक्ष्य होना चाहिये। मुन्शी प्रेमचन्द्र ने मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का लक्ष्य माना है, जो संगत होता हुआ भी कुछ संशोधन की माँग करता है। यदि इसी बात को कुछ इस प्रकार कहें कि–'मानवचरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलते हुए आनन्द की सृष्टि करना 'उपन्यास' का लक्ष्य है, तो अधिक संगत होगा। उपन्यास चाहे सुखान्त हो या दुःखान्त, दोनों से आनन्द की अनुभूति होती है और इसी अनुभूति की सिद्धि कर सकने पर लेखक का यत्न सफल हो जाता है। शाश्वत जीवन मूल्यों और प्रश्नों की व्याख्या करने वाले कलाकार की ही कृति अमर होती है। इस प्रकार इन्हीं की साधना करना उपन्यासकार का लक्ष्य होता है।

कहानी (आख्यायिका)

आधुनिक समय में 'कहानी' एक विशेष लोकप्रिय गद्यविधा के रूप में समादृत है। इसने लोकप्रियता में 'उपन्यास' को भी पीछे छोड़ दिया है। यद्यपि भारतीय-साहित्य में वैदिककाल से ही कहानियों का प्रचलन रहा है, किन्तु हिन्दी के क्षेत्र में आज 'कहानी' का जो रूप प्रचलित है, वह पाश्चात्य प्रभाव से ओतप्रोत है। कहानी ही 'आख्यायिका', गल्प, कथा आदि नामों

से जानी जाती है। यद्यपि दंडी आदि प्राचीन आचार्यों ने 'कथा' और 'आख्या'-यिका' में काल्पनिकता और ऐतिहासिकता को लेकर अन्तर माना है, किन्तु अन्तत: उन्होंने ही इस अन्तर को समाप्त कर दिया है। इस प्रकार 'कहानी' और 'आख्यायिका' में ऐक्य स्थापित हो गया है।

परिभाषा

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने 'कहानी' की अनेक परिभाषायें प्रस्तुत की हैं–

1. **एलरी का मत है**–छोटी कहानी ठीक घुड़दौड़ के समान होती है, आरम्भ और अन्त ही उसके महत्वपूर्ण होते हैं–

A Short Story is just like a horse-race. It is the Start and finish which Count most.

2. **वेल्स के अनुसार**–संक्षिप्त-गल्प (फिक्शन) का कोई भाग, जो बीस मिनट में पढ़ा जा सके, लघु कथा होगी।

"Any Piece of Short Fiction which can be read in twenty minutes would be a short Story."

3. **'एडगर एलन पो' के अनुसार**–'लघुकथा' एक संक्षिप्त वर्णन है। यह इतनी लघु होती है कि एक ही बैठक में पढ़ी जा सकती है। यह पाठक पर एक प्रभाव डालने के उद्देश्य से लिखी जाती है। इसमें उन सब बातों का वहिष्कार होता है, जो उस प्रभाव को अग्रसर न कर सकती हों। यह अपने आप में स्वत: पूर्ण होती हैं–

A Short Story is a narrative Short enough to be read in a Single Sitting written to make an impression on the reader excluding all that does not forward that impression complete and final itself."

4. **हैडफील्ड के अनुसार**–'कहानी की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संक्षिप्तता है।'

The short story that is not long.

5. **एनसाइक्लोपीडिया आफ ब्रिटानिका**–(वर्तानियाँ का विश्वकोष) में कहानी की परिभाषा का यह रूप दिया गया है–'अन्त में इसको एक अलग साहित्यिक-विधा के रूप में वर्णित करते हुए कोई इससे अधिक और क्या कहेगा कि यह सक्षिप्त होती है, अत्यन्त संगठित होती है और एक कथा का पूर्णरूप होती है–

"Ultimately in describing it as a distinct literary form

one can hardly do better than to say that it is short, highly organized complete form of picture."

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर ही भारतीय चिन्तकों ने कहानी की परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। यथा–

1. **मुन्शी प्रेमचन्द के अनुसार**–"कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास, सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं।"

2. **श्यामसुन्दरदास के अनुसार**–"आख्यायिका (कहानी) एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा हुआ नाटकीय आख्यान है।"

3. **चन्द्रगुप्तविद्यालंकार के अनुसार**–"घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम कहानी और साहित्य के सभी अंगों के समान 'रस' इसका आवश्यक गुण हैं।"

4. **गुलाबराय के अनुसार**–"छोटी कहानी एक स्वत: पूर्ण रचना है, जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्तिकेन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला वर्णन हो।"

5. **हमारे विचार से**–'लघुकथा एक बैठक में पढ़ी जाने योग्य वह गद्य रचना है, जिसमें किसी जीवन के प्रभावपूर्ण अंश, मनोभाव अथवा तीव्र सम्वेदन का कथात्मक रूप प्रस्तुत करने के लिए एक्य, सक्रियता, प्रभावान्विति और मनोवैज्ञानिकता के गुणों का आश्रय लेकर लेखक कलात्मक अभिव्यक्ति करता है।'

इस प्रकार कहानी की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है की कहानी का आकार लघु होता है, वह जीवन के किसी एक अंश की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करती है। उसमें कल्पना, नाटकीयता, सरलता, स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता, स्पष्टता और प्रभावकारिता के गुण विद्यमान होते हैं। वह अपने में स्वत: पूर्ण संगठित एवं व्यवस्थित रचना होती है। मुन्शी प्रेमचन्द ने लिखा है–"वह एक ऐसा गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नता रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

कहानी के तत्त्व

(1) कथावस्तु (2) पात्र तथा चरित्र चित्रण (3) कथोपकथन (4) वातावरण (5) भाषाशैली (6) उद्देश्य।

कथावस्तु

कहानी की कथावस्तु संक्षिप्त एवं प्रभावपूर्ण होती है। इसका क्षेत्र असीमित है, समाज, धर्म, राजनीति, इतिहास, मनोविज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र से वस्तु-चयन किया जा सकता है, किन्तु अधिकांश कहानियाँ काल्पनिक ही होती हैं। इसकी कथावस्तु में अनावश्यक घटनायें नहीं आने पातीं। मूलरूप में एक ही घटना होती है और यदि कुछ अवान्तर घटनायें होती भी हैं, तो वे मूलकथा के साथ ऐक्य स्थापित कर उसकी सहायिका बनकर ही रहती हैं। कहानी की कथावस्तु में कहीं तो प्रारम्भ, उत्कर्ष और अन्त ये तीन सोपान होते हैं। तीव्रगति की दौड़ के समान कथावस्तु प्रारम्भ होती है और अबाधगति से बढ़ती हुई उत्कर्ष तक पहुँचती है और उसी दिशा में गतिशील होती हुई कुतूहल जनक, अप्रत्याशित परिणाम पर समाप्त हो जाती है। कुछ कहानियों में प्रारम्भ और अन्त, ये दो ही सोपान होते हैं, क्योंकि उसका उत्कर्ष अन्त में ही होता है। ऐसी कहानियों में चमत्कार अधिक होता है। कुछ कहानियों में कथावस्तु होती ही नहीं, एक विचार होता है और उसका पर्यवसान ही महत्वपूर्ण होता है। कहानी की कथा-वस्तु में भी एक प्रकार का संघर्ष होता है, जो प्रारम्भ से अन्त तक ऐक्य बनाये रहता है। परिस्थितियाँ चाहे जितनी हों, किन्तु उनमें अन्विति तो होनी ही चाहिए। पाश्चात्य कहानियों की कथावस्तु प्राय: प्रसादान्त या दु:खान्त होती है और भारतीय पद्धति की कहानियाँ सुखान्त होती हैं। कुछ भी सही, किन्तु कहानी का अन्त कुतूहलप्रद होना चाहिये, ताकि पाठक की जिज्ञासा बनी रहे कि आगे क्या हुआ।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

कहानी में बहुत कम पात्र होते हैं, किन्तु जितने होते हैं, वे अत्यन्त आवश्यक एवं प्रभावपूर्ण होते हैं। उनके चरित्र का स्वाभाविक विकास चित्रित करना चाहिये, किन्तु कहानी के सूक्ष्म कलेवर में पूर्ण चरित्र-चित्रण सम्भव नहीं, केवल कुछ रेखाओं द्वारा चरित्र की एक झलक दिखला दी जाती है। कहानी के चरित्रों में स्वाभाविकता के साथ यथार्थता और मनो-वैज्ञानिकता भी आवश्यक है। इसके पात्र स्वतत्र होते हैं, लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं रहते।

कहानी में चरित्र-चित्रण की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं–(1) प्रत्यक्ष प्रणाली (2) परोक्ष प्रणाली।

प्रत्यक्ष प्रणाली- इसे विश्लेषणात्मक-प्रणाली भी कहते हैं। इसमें लेखक स्वयं किसी पात्र के कार्यों का वर्णन करता है और उनसे पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। यह प्रणाली स्थूल मानी जाती है।

परोक्ष-प्रणाली–इसे सांकेतिक प्रणाली या 'नाटकीय प्रणाली' भी कहते हैं। इसके पात्र स्वयं अपने चरित्र का विश्लेषण करता है और कभी-कभी अन्य पात्र द्वारा भी किसी पात्र के चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। चमत्कार की दृष्टि से यह 'नाटकीय प्रणाली' अधिक श्रेष्ठ मानी जाती है। डॉ० जगन्नाथ शर्मा ने इसी की पुष्टि की है–"कहानी का सर्वाधिक प्रभावशाली और व्यवहारोपयोगी चरित्रांकन पद्धति वह होती है, जिसमें नाटकीय विधि का उपयोग हो।"

कथोपकथन

इसके द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु कहानी के कथोपकथन अति सूक्ष्म, आवश्यक एवं साभिप्राय होने चाहिये। इसमें एक भी वाक्य अनावश्यक न हो। पात्रानुकूलता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के गुणों से कथोपकथन में सजीवता आती है। ये कथोपकन कथावस्तु को गति प्रदान करते हैं, अतः इनकी रोचकता पर ध्यान देना आवश्यक है। इनसे वातावरण के निर्माण में भी सहायता मिलती है। इस प्रकार कहानी के कथोपकथनों में सूक्ष्मता, कुतूहल, सांकेतिकता, चमत्कारिता पटुता, अनुकूलता आदि गुणों का होना आवश्यक है। पात्रों के कथोपकथनों में 'चरित्र-चित्रण' के भी अंश व्यक्त हुआ करते हैं। जो पात्र कोई बात करता है, अपने विचार प्रकट करता है, उससे उसके आन्तरिक भावों का अनुमान लगाना सरल होता है। यदि वह किसी दूसरे पात्र के बारे में कहता है, तो उस अन्य पात्र के भी चरित्र पर प्रकाश पड़ जाता है। इस प्रकार कहानी में कथोपकथन भी महत्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है।

वातावरण

कहानी की स्वाभाविकता के लिये ही उचित वातावरण की सृष्टि की जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने कहानी के वातावरण में स्थानीय चित्रण को अधिक महत्ता प्रदान की है। इससे भावों के जाग्रत करने में सरायता मिलती है। कहानी में 'वातावरण' तीन कार्य करता है–1. भावोद्दीपन 2. सौन्दर्यानुभूति की तृप्ति कराना 3. सहानुभूति की उत्पत्ति करना। यह वातावरण मानसिक तथा भौतिक दोनों प्रकार का होता है। मानसिक वातावरण में किसी पात्र की मानसिक परिस्थिति का सजीव चित्रण किया जाता है और भौतिक वातावरण में स्थान तथा प्रकृति का प्रभावोत्पादक चित्रण होता है। मनोवैज्ञानिक कहानियों में प्रथम प्रकार और शेष कहानियों में द्वितीय प्रकार अधिक उत्तम माना जाता है।

भाषाशैली

कहानी की भाषा सरल, चुटीली एवं सशक्त होनी चाहिये। उसमें लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से प्रभावकारिता आती है। सजीवता और व्यावहारिकता कहानी की भाषाशैली के अनिवार्य गुण हैं। कहानी की शैली में तार्किकता एवं चमत्कारिता का होना भी आवश्यक है। उचित पद-विन्यास चित्रात्मकता, प्रभावशीलता, सजीवता, कलात्मकता, प्रभावकारिता एवं रोचकता कहानी की भाषाशैली के गुण माने जाते हैं। वैसे तो शैली के अनेकरूप प्रचलित हैं, किन्तु मुख्य प्रचलित शैलियाँ इस प्रकार हैं–

(1) आत्मकथात्मक शैली (2) कथात्मक शैली (3) सम्वादात्मक शैली (4) पत्रात्मक शैली (5) डायरी शैली।

प्रथम में लेखक 'आत्मकथा' की भाँति सारी कहानी 'आपबीती' के रूप में कहता है। द्वितीय में लेखक केवल वर्णकर्त्ता के रूप में घटनाक्रम का उल्लेख करता है। तृतीय में नाटक की भाँति पात्रगत सम्वादों के आधार पर अधिक बल दिया जाता है। चतुर्थ में एक या अनेक पात्रों की सहायता से कथावस्तु का निर्माण किया जाता है और पंचम में किसी व्यक्ति की 'डायरी' के लेख को आधार बनाकर कथावस्तु निर्मित की जाती है। इनमें 'कथात्मक शैली' ही सर्वाधिक प्रचलित है।

उद्देश्य

कहानी का उद्देश्य जीवन के किसी मार्मिक पक्ष का उद्घाटन करना होता है, चाहे वह पक्ष धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक किसी भी प्रकार का हो। लेखक उद्देश्य का स्पष्ट कथन न कर, उसकी व्यंजनामात्र करता है। कभी-कभी 'सूक्ति' के रूप में भी 'उद्देश्य' लिख दिया जाता है। पाश्चात्य आलोक 'फ्राओलोन' के अनुसार 'मानव चरित्र का विश्लेषण करना' कहानी का उद्देश्य है। उद्देश्यविहीन कहानी ही नहीं, कोई रचना व्यर्थ होती है। अपने प्रारम्भिक विकास में कहानी का लक्ष्य केवल 'मनोरंजन' था, किन्तु सम्प्रति वह जीवन की समस्याओं के साथ सहयोग दे रही है ,जीवन सत्यों का उद्घाटन करती है, मानव के चरित्र वैविध्य पर प्रकाश डालती है, उसकी प्रत्येक स्थिति को आँकने की चेष्टा करती है और उसके मानसिक रहस्य को खोलती है। कहानीकार कहानी का लक्ष्य निश्चित कर लेता है, तत्पश्चात उसी की दिशा में पात्रों एवं घटनाक्रमों को तीव्रता से करता है और लक्ष्य की प्राप्ति में पहुँचकर एक ऐसे बिन्दु पर पाठक को छोड़ देता है कि वह कुतूहल में मस्त हो जाता है। इस प्रकार कहानी का लक्ष्य या उद्देश्य आकस्मिक ढंग से अभिव्यक्त होता है।

उपन्यास और कहानी में अन्तर

(1) उपन्यास जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या है, किन्तु कहानी जीवन के किसी एक मार्मिक अंश की व्याख्या है। (2) कहानी की कथा-वस्तु सूक्ष्म एवं संक्षिप्त होती है उसमें एक ही घटना का प्रभावपूर्ण चित्रण किया जाता है, किन्तु उपन्यास की कथावस्तु विस्तृत होती है, उसमें अनेक अवान्तर कथायें भी रहती हैं और घटनावैविध्य के कारण अनेकरूपता भी रहती है। (3) उपन्यास में पर्याप्त पात्रों की गुंजाइश रहती है, किन्तु कहानी में कुछ ही गिनेचुने अत्यावश्यक पात्र होते हैं। (4) उपन्यास में पात्रों के चरित्रचित्रण का पूर्ण अवकाश रहता है, पर कहानी में चरित्रचित्रण अधूरे होते हैं, वहाँ बहुत कम अवकाश रहता है, केवल चरित्रचित्रण की हल्की रूपरेखा ही अंकित हो पाती है। (5) उपन्यास के सम्वाद लम्बे-लम्बे हो सकते हैं, यहाँ तक कि उनमें साधारण लेक्चर तक आ जाते हैं, किन्तु कहानी के सम्वाद लघु एवं सूक्ष्म होते हैं, उनमें वक्तृता के लिए स्थान नहीं होता। वे उपन्यास के सम्वादों की अपेक्षा अधिक चुस्त एवं नाटकीय होते हैं। (6) उपन्यास की भाषाशैली में वैविध्य हो सकता है, पर कहानी की भाषाशैली में एकरूपता रहती है। उपन्यास की शैली की तुलना में कहानी की शैली अधिक प्रवाहपूर्ण एवं प्रभावशील होती है। (7) उपन्यास में देश काल तथा वातावरण का चित्रण करने के लिए पर्याप्त स्थान रहता है, किन्तु कहानी में इसके लिए बहुत कम स्थान रहता है, फलतः इस अंश में उपन्यास अधिक गौरवशील प्रतीत होता है। (8) उपन्यास का उद्देश्य जीवन की विविधता के साथ आनन्दात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति करना होता है, किन्तु कहानी का उद्देश्य जीवन के आंशिक रूप का ही उद्घाटन करना होता है।

'हडसन' ने कहानी और उपन्यास के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"कहानी में हम पात्रों से केवल कुछ क्षण के लिए ही मिलते हैं। उन्हें कुछ ही सम्बन्धों और परिस्थियों में देखते हैं, किन्तु उपन्यास इससे भिन्न है। इसमें पात्रों के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी मिलती है।" इसके अतिरिक्त उपन्यास में कल्पना के लिए पर्याप्त स्थान होता है, किन्तु कहानी में सीमित होता है। उपन्यास में अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट भी रहता है और सांकेतिक भी, कहानी में यह सांकेतिक ही रहता है।

इस प्रकार वाह्यतत्त्वों की एकता होने पर भी उपन्यास और कहानी में पर्याप्त अन्तर है। मूलरूप में उपन्यास घटनाप्रधान होते हैं, पर कहानी व्यंजनाप्रधान होती है। वस्तुतः दोनों स्वतन्त्र विधायें हैं, कहानी को 'कटा-

छटा उपन्यास कभी नहीं कहा जा सकता।

कहानियों के प्रकार

सम्प्रति विभिन्न प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं, जिनका वर्गीकरण करना आसान कार्य नहीं है। सामान्यतया कहानियाँ चार प्रकार की होती हैं–(1) कथाप्रधान (2) वातावरणप्रधान (3) प्रभावप्रधान (4) विधि (ऐतिहासिक, सांस्कृति, राजनीतिक, हास्यात्मक आदि) 'कथाप्रधान' कहानी में कहानी की कथावस्तु ही मुख्यतया वर्णनात्मक शैली प्रस्तुत की जाती है। 'वातावरणप्रधान कहानी' में किसी स्थान, प्रकृति और वातावरण का ऐसा प्रभावोत्पादक चित्रण किया जाता है कि जिसकी तुलना में अन्य तत्त्व गौण हो जाते हैं। 'प्रभावप्रधान कहानी' में किसी ऐसे प्रभावविशेष का चित्रण किया जाता है, जिसमें उसी की मुख्यता होती है और अन्तिम वर्ग में अनेक-रूपतापूर्ण कहानियाँ आती हैं।

स्वरूप की दृष्टि से कहानियाँ सात प्रकार की होती हैं–(1) वर्णन-प्रधान (2) घटनाप्रधान (3) चरित्रप्रधान (4) वातावरणप्रधान (5) प्रभावप्रधान (6) भावप्रधन (7) समस्याप्रधान।

1. **वर्णनप्रधान कहानियाँ**–इनमें लेखक किसी स्थान, समय या पात्र का वर्णन करना ही अपना लक्ष्य मानता है।

2. **चरित्रप्रधान कहानियाँ**–इनमें लेखक का लक्ष्य किसी घटनाविशेष का रोमांचक चित्रण करना रहता है और वह मुख्य घटना से सम्बद्ध अनेक लघु घटनायें भी प्रस्तुत कर देता है। इनमें चरित्रचित्रण आदि तत्त्व गौण रहते हैं।

3. **चरित्रप्रधान कहानियाँ**–इनमें लेखक की दृष्टि पात्रों के यथार्थ चरित्र-चित्रण पर केन्द्रित रहती है। लेखक आन्तरिक एवं वाह्य दोनों प्रकारों से पात्र के व्यक्तित्व का अंकन करता है, इनमें घटनाओं का अधिक महत्व नहीं होता। यथा–'बूढ़ीकाकी' (प्रेमचन्द)।

4 **वातावरणप्रधान कहानियाँ**–इनमें किसी प्रसंग को लेकर वाता-वरण का सजीव एवं यथार्थ चित्रण करना कलाकार का लक्ष्य होता है। ऐसा करने से उसे परिस्थिति चित्रण में सहायता मिलती है। यथा–'शतरंज के खिलाड़ी' (मुन्शी प्रेमचन्द)।

5. **प्रभावप्रधान कहानी**–इनमें घटनादि को महत्व न देकर किसी प्रभाव को दिया जाता है। यथा–'कवि' (मोहनलाल मेहता)।

6. **भावप्रधान कहानी**–इनमें स्वाभाविक ढंग से किसी मनोभाव का सजीव चित्रण किया जाता है। 'अन्तर्द्वंद्व' ऐसी कहानियों का बीज होता

है, इनमें घटनाओं का बहुत कम महत्व होता है।

7. **समस्याप्रधान कहानी**–इनमें लेखक किसी सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक आदि समस्या को प्रधानता देता है, फलत: लेखक का चिन्तनपक्ष मुखर हो पाता है, समस्या का समाधान दे या न दे, यह लेखक की इच्छा पर निर्भर रहता है।

इसके अतिरिक्त प्रतीकप्रधान, हास्यव्यंग्यप्रधान आदि अनेक प्रचलित हैं, कुछ का रूप प्रकाशोन्मुख है और कुछ का प्रकाश में आ चुका है। इस प्रकार कहानी की अनेकरूपता भविष्य के लिए शुभलक्षण है।

रचनाशैली की दृष्टि से, प्रतिभा की दृष्टि से, आधार की दृष्टि से कहानी के अनेक भेद-प्रभेद किये गए हैं। 1950 ई० से हिन्दी में 'नई कहानी' का प्रचलन हो गया है, जो पूर्वकहानी से भिन्न मानी जाती है। यथा–"पुरानी कहानी में व्यक्ति शारीरिक रूप से आता था और वैचारिक रूप से कथाकार। 'नई कहानी' में यह विचार उस शरीर में अवस्थित बुद्धि से उपजता है जिसे प्रस्तुत किया जाता है।······तब विचारों को हाड़-मांस प्रदान किया जाता था अब हाड़-मांस के इंसान के विचारों को प्रस्तुत किया जाता है।"

–'कमलेश्वर'

आज 'विसंगतिबोध' और 'सिद्धान्तवाद' के आग्रह से पूर्ण कहानियाँ निर्मित हो रही हैं। ये वर्तमान की विकृति का चित्रण करती हैं। समाज, परिवार और मुक्तजीवन की सम्वेदना से दूर 'नई कहानी' का यह प्रचलन स्वस्थ परम्परा नहीं। इस दोष के त्यागने से ही 'नई कहानी' समृद्ध हो सकेगी।

निबन्ध और उसके प्रकार

'निबन्ध' गद्यसाहित्य की सर्वोत्कृष्ट विधा है। यदि गद्य कवियों की कसौटी है, तो 'निबन्ध' का शाब्दिक अर्थ बाँधना या रोकना अथवा संग्रह करना है। गद्य की अन्य विधाओं की भाँति निबन्ध भी पाश्चात्य-साहित्य की देन है।

अंग्रेजी में निबन्ध का पर्याय 'इसे' (Essay) शब्द माना जाता है। यह 'लैटिन' भाषा के 'एग्जीजियर' (निश्चय परीक्षण करना) शब्द से निर्मित फ्रेंच के 'ऐसाई शब्द का पर्याय है। इसका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग अथवा परीक्षण करना होता है, अंग्रेज विद्वान मोन्टेन ने (Essay) का अर्थ 'प्रयत्न' किया है। विविध विद्वानों ने निबन्ध की परिभाषायें की हैं–

परिभाषा

आधुनिक निबन्धों के जन्मदाता 'मोन्टेन' ने निबन्ध को विचारों

उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि यह मेरी भावनायें हैं, इनके द्वारा मैं किसी सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मैं अपने को पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूँ।

'जानसन' के अनुसार निबन्ध मस्तिष्क की एक शिथिल तरंग है और अनियमित कथा, अपाचितकृति मात्र होती है, कोई नियमबद्ध और क्रमबद्ध रचना नहीं।

A loose sally of mind, an pergular, Indigested Piece not a regular and orderly performance.

'ओस्बर्न्स के अनुसार निबन्ध' किसी सामयिक विषय पर हल्के अनौपचारिक लेख को कहते हैं–

"Essay is a light gossipy article on topical subject"

'प्रिस्टले' के अनुसार "निबन्ध किसी मौलिक व्यक्तित्व की निश्छल आत्माभिव्यक्ति होती है।"

Essay is a genuine expression of an original personality, artful and ending kind of talk.

'बेकन' के अनुसार "निबन्ध केन्द्रभूत ज्ञान के वे कतिपय पृष्ठ हैं, जिनमें विचारों की सहज अभिव्यक्ति होती है।"

'क्रेब्बे' के अनुसार "निबन्ध लेखनकला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है और न ज्ञानवृद्धि की जिज्ञासा, वही निबन्ध लेखक में प्रवृत्त होता है तथा विविधता और हल्की रचनाओं में आनन्द लेने वाला पाठक ही उसे पढ़ता है।

'सेण्टब्यूव' के अनुसार 'निबन्ध साहित्याभिव्यक्ति का अत्यन्त कठिन परन्तु प्रमोदपूर्ण अंग है, क्योंकि इसमें लेखक की गम्भीरता और उसकी गागर में सागर भरने की शक्ति (समाहारशक्ति) का संकेत मिलता है।'

'अलेग्जेंडरस्मिथ' का मत है कि 'निबन्ध प्रगतिकाव्य से इस बात में साम्य रखता है कि प्रगति की भाँति यह भी किसी व्यक्तिगत अनुभूति, मानसिक परिस्थिति विशेष से, वह सनकपूर्ण हो या गम्भीर या व्यंग्यात्मक, सम्बन्धित रहता है निबन्ध मानसिक स्थिति को केन्द्रित करके ऐसे लिखा जाता है जैसे सिल्क के कीड़े चारो ओर कोकून घिर जाता है।"

"The essay as a literary form resembles the lyrie in so for as is meulded by some sentral mood, whimsical, serious or satirical. Give the mood and the essay from the fist sentence to the lost grows around. It as the cocoon around the silk–warm.

'हालवर्ड' और 'हिल' ने निबन्ध के स्वरूप का अच्छा विश्लेषण किया है। यथा–

"साहित्यिक निबन्ध किसी विषय का कोई संक्षिप्त रूप ही नहीं होता, अपितु उसे हम लेखक के मस्तिष्क से उत्पन्न वस्तुविशेष के प्रति उद्भूत प्रतिक्रियात्मक चित्र की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता वैयक्तिकता अथवा अहंभाव का प्रकाशन है।"

"The essay Proper or the literary essay is not merely a short analysis of a subject, nor a mere epitone, but rather a picture of wandering minds affected for the moment by the subject with which he is dealing Its most distinctive feature is the egostical element."

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "आधुनिक लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह है, समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रृंखला रखी ही न जाय, या जानबूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।"

आचार्य रामदहिन मिश्र के अनुसार–"किसी विषय विशेष पर सविस्तार लिखे गये लेख का नाम प्रबन्ध या निबन्ध है। प्रबन्ध में विवेचन सयुक्तिक, सुव्यस्थित और प्रभावपूर्ण हो, जिससे लेखक के उद्देश्य की सिद्धि सहज हो जाय। भाषा विषयोपयुक्त हो–प्रभावोत्पादक, भावोद्बोधक, स्पष्ट और सुन्दर।"

आचर्य श्यामसुन्दरदास के अनुसार–"निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए, जिसमें किसी विषय पर गहन और पांडित्यपूर्ण विवाद किया गया हो।

निबन्ध की उपर्युक्त परिभाषाओं एवं व्याख्याओं के पश्चात् हम इसकी एक लघु परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं–"निबन्ध, गद्य की वह लघु रचना है, जिसमें भाषा के साथ विचारों तथा भावों का सुव्यवस्थित चित्रण हो।"

निबन्ध की विशेषताएँ

निबन्ध की परिभाषाओं की आलोचन करने से उसकी विशेषतायें इस प्रकार प्रतीत होती हैं–निबन्ध में निबन्धकार आत्मीयता, अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वैक्तिकता के साथ किसी एक विषय या उसके किन्हीं

अंशों अथवा प्रसंगों पर अपनी निजी भाषाशैली में भाव या विचार प्रकट करता है। स्वच्छता, सरलता और आडम्बरहीनता के साथ ही घनिष्ठता और आत्मयीता को लेकर अपने वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण को भी व्यक्त करता है। निबन्धकार स्वच्छन्दता की उच्छृंखलता नहीं है, उसकी अनियमितता में भी एक नियम और अव्यवस्था में भी एक व्यवस्था होती है। विषय की दृष्टि से निबन्ध की कोई सीमा नहीं होती। शून्य से लेकर अनन्त तक उसका विषय-क्षेत्र है। यथा–

Apparently there is no subject from the stors to the heep which may not be dealt with in essay. (अर्थात् तारों से लेकर अनन्त तक कोई ऐसा विषय नहीं है, जो निबन्ध का विषय न हो सके।)

निबन्ध के तत्त्व

(1) संघटित विचार परम्परा (2) निबन्धकार का व्यक्तित्व (3) नवीन विचारों की उदभावना (4) साहित्यिकता (5) गम्भीरता (6) भाषा-वैशिष्ट्य। इनको इस प्रकार समझ सकते हैं–

(क) आकार की दृष्टि से निबन्ध लघु रचना है, जिसे अवकाश के क्षणों में सरलता से पढ़ और समझ सकते हैं।

(ख) निबन्ध में सिद्धान्त-प्रतिपादन न करके अनेक बातों का क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत किया जाता है।

(ग) निबन्ध में कलात्मकता के साथ किसी एक भाव विचार का विश्लेषण होना चाहिए।

(घ) आन्तरिक शृंखला या सामञ्जस्य किसी भी निबन्ध में अनिवार्य है।

(ङ) निबन्ध में निबन्धकार के व्यक्तित्व की छाप होती है, उसका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही एकसूत्रता का आधार होता।

(च) निबन्ध में निबन्धकार की शैली वैदग्ध्यपूर्ण, रोचक, सुन्दर एवं विषयानुकूल होनी चाहिए।

(छ) निबन्ध में लेखक की बुद्धि और हृदय का सामञ्जस्य अपेक्षित होता है।

मुख्यतया निबन्ध के 3 तत्त्व माने जाते हैं–1. विषय 2. भाव 3. शैली।

विषय

निबन्ध का विषय कुछ भी हो सकता है, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म

किन्तु लेखक को उस विषय का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त लेखक की बुद्धि उसकी व्याख्या करने में सक्षम होनी चाहिए। जब तक लेखक उस विषय में रुचि न लेगा और स्वत: अपने विचारों में स्पष्ट न होगा, तब तक निबन्ध सफल नहीं हो सकता।

भाव

मानव अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर अनेक भावों एवं विचारों का संचय करता है, उन्हीं को वह अपनी कृतियों में अभिव्यक्त करता है। निबन्ध लेखक के लिए ज्ञान, अनुभव, अध्ययन एवं मनन का उच्चस्तरीय कलाकार होना आवश्यक है, तभी वह अपने भावों एवं विचारों से पाठक को मुग्ध कर सकेगा।

शैली

शैली भावों एवं विचारों का परिधान है। अभिव्यक्ति-कौशली को ही शैली कहते हैं। इसमें लेखक के व्यक्तित्व एवं कुशलता की छाप अंकित रहती है। वैसे विषयानुसार शैली भी भिन्न-भिन्न होती है। भाषा विचारों तथा भावों की वाहिका होती है, तद्नुकूल शैली निर्मित होती है। निबन्ध में प्राय: पाँच प्रकार की शैलियाँ अपनाई जाती हैं–1. व्यास शैली 2. समास-शैली 3. धारा शैली 4. तरंग शैली 5. विक्षेप शैली।

व्यास शैली–इस शैली में लेखक किसी बात की विस्तृत व्याख्या करता है, उसे अनेक दृष्टान्तों एवं उद्धरणों द्वारा पुष्ट करता चलता है। डा० श्यामसुन्दरदास के लेख प्राय: इसी शैली के मिलते हैं।

समास शैली–विस्तृत बात को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करने की पद्धति का नाम समास शैली है। इसे 'सूत्रात्मक शैली' भी कहते हैं। इस शैली के निबन्धों के एक-एक वाक्य अर्थगाम्भीर्य से पूर्ण होते हैं, उनकी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित होती है। उदाहरणार्थ–"बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।" (चिन्तामणि भाग 1) हिन्दी में आचार्य रामचन्द शुक्ल के निबन्ध इस शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

धारा शैली–इसका मुख्य प्रयोग 'भावात्मक निबन्धों में होता है। इसमें लेखक के विचार धारा की भाँति अनवरत गति से अग्रसर होते रहते हैं। यह ऐसे ही सरल एवं कोमल विषयों के लिए उपयुक्त होती है। इस प्रकार इस शैली में अभिव्यक्ति में भी सरलता होती है और बौद्धिक तत्वों की न्यूनता रहती है।

तरंग शैली–जिस प्रकार सरिता में छोटी-बड़ी तरंगे आती हैं, उसी

प्रकार इस शैली में भी लेखक के विचारों का उतार-चढ़ाव दृष्टिगोचर होता है। यह शैली भी भावात्मक निबन्धों में अधिक उपयुक्त होती है।

विक्षेप शैली–इसमें लेखक इतना भावुक हो जाता है कि वह उन्मत्त की भाँति प्रलाप-सा करने लगता है। ऐसे भावात्मक-निबन्धों में बुद्धितत्त्व की अतिशय कमी रहती है। विचारों में भी संगति नहीं रहती और भाषा भी अपने व्यवस्थित रूप को खो देती है। यह शैली उपन्यासों के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती है।

निबन्धों के प्रकार

निबन्धों की विषय सीमा अनन्त है। लेखक कभी किसी वस्तु पर, कभी किसी व्यक्ति पर, कभी किसी भाव पर और कभी किसी उपकरण पर निबन्ध लिखता है। इस प्रकार निबन्ध के लक्षण के आधार पर उसके भेद कल्पित होते हैं।

सामान्यतया आधार भेद से निबन्ध दो प्रकार के होते हैं–1. विषय-प्रधान 2. विषयीप्रधान।

विषयप्रधान निबन्ध

इसमें निबन्ध लेखक का व्यक्तित्व गौण होता है और वर्ण्यविषय की प्रधानता रहती है। अंग्रेजी में 'बेकन' के निबन्ध और हिन्दी में आचार्य राम-चन्द्र शुक्ल' के निबन्ध इसी कोटि में आते हैं।

विषयीप्रधान निबन्ध

इन्हें 'आत्मप्रधान' या 'व्यक्तित्वप्रधान' निबन्ध भी कहते हैं। इनमें लेखक का व्यक्तित्व सर्वत्र मुखर रहता है, उसकी प्रधानता के कारण वर्ण्य-विषय गौण हो जाता है। इस प्रकार के निबन्धों में सरसता, सरलता एवं कोमलता अधिक होती है यही कारण है कि पाठक इनसे शीघ्र प्रभावित होता है। इनमें तर्कवितर्कों की कमी होती है और मनोभावों की तरंगें प्रमुख रहती हैं। यथा–बालकृष्ण भट्ट का 'चन्द्रोदय निबन्ध।

अभिव्यक्ति के आधार पर निबन्धों के चार भेद किये जाते हैं–

(क) वर्णनात्मक निबन्ध (Narrative Essay)
(ख) विवरणात्मक निबन्ध (Descriptive Essay)
(ग) विचारात्मक निबन्ध (Reflective Essay)
(घ) भावात्मक निबन्ध (Emotional Essay)

वर्णनात्मक निबन्ध

ऐसे निबन्धों में किसी स्थान, प्रकृति, दृश्य अथवा मेले आदि का वर्णन किया जाता है। निबन्धों में इस वर्ग के निबन्ध लिखना सर्वाधिक

सरल माना जाता है। इनमें परिस्थिति वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। इन निबन्धों में 'व्यास शैली' का आश्रय लिया जाता है, फलत: किसी एक बात को अनेक वाक्यों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया जाता है। इसप्रकार के निबन्धों में कल्पना के लिए भी स्थान होता है और अलंकृत भाषा प्रयुक्त होती है।

विवरणात्मक निबन्ध

इन निबन्धों में प्राय: किसी घटना अथवा कहानी का विवरण प्रस्तुत किया जाता है इनमें कथात्मकता के कारण कुतूहल का आधिक्य रहता है, अत: रोचकता का आ जाना स्वाभाविक है। युद्ध एवं यात्रा से सम्बद्ध विवरण भी इसके विषय हो सकते हैं। इनमें भी कल्पना का पुट होता है और शैली प्रयुक्त होती है। इन निबन्धों को 'कथात्मक निबन्ध' भी कहते हैं। यथा–
'हिमालय की झलक'। –सियारामशरण गुप्त

विचारात्मक निबन्ध

वस्तुत: ऐसे निबन्ध उच्चस्तरीय एवं बौद्धिक होते है। इनमें तार्किकता का प्रमुख स्थान होता है और भावुकता गौण रहती है। इनमें 'समाज' तथा 'व्यास' दोनों प्रकार की शैलियों का समन्वय रहता है। स्वतन्त्र रूप में भी ये शैलियाँ अपनाई जा सकती हैं। उदाहरणार्थ–रामचन्द्र शुक्ल ने अपने विचार प्रधान निबन्धों में समास शैली अपनाई है और ऐसे ही निबन्धों में डा० श्यामसुन्दरदास ने व्यास शैली अपनाई है।

ऐसे निबन्धों में लेखक के गहन अध्ययन, मौलिक सूझ-बूझ एवं पर्यवेक्षणशक्ति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इनकी परिधि अत्यन्त विस्तृत है। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं अन्य चिन्तनप्रधान विषय इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे निबन्धों में लेखक को अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ती है और बौद्धिकता की रूक्षता से बचाने के लिए उसे बीच-बीच में हृदयपक्ष के लिए भी स्थान निकालना पड़ता है। निबन्धकार इन निबन्धों में तटस्थ रहकर विचार करता है और एक न्यायाधीश की भाँति साधक-बाधक प्रमाणों को देता हुआ अपना मत स्थापित करता है।

विचारात्मक निबन्धों के भेद

1. आलोचनात्मक 2. गवेषणात्मक 3.विवेचनात्मक।

आलोचनात्मक निबन्धों में किसी कवि, लेखक या कृति अथवा सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। ये दो प्रकार के होते हैं–1. सैद्धान्तिक निबन्ध, 2. व्यवहारिक निबन्ध।

जिन निबन्धों में लेखक किसी साहित्यिक सिद्धान्त पर अपने विचार व्यक्त करता है और उस विषय पर प्रस्तुत किये गये अन्य आचार्यों के विचारों का खण्डन-मण्डन करता हुआ स्वमत निर्धारित करता है, वे निबन्ध 'सैद्धांतिक निबन्ध' कहलाते हैं। यथा—'वक्रोति और अभिव्यंजनावाद'—रामचन्द्र शुक्ल।

जिन निबन्धों में लेखक किसी कवि या लेखक पर या किसी कृति विशेष पर अपनी आलोचना प्रस्तुत करता है, उसे 'व्यावहारिक निबन्ध' की संज्ञा दी जाती है। यथा—कबीर, सूर तथा तुलसी पर लिखी गई शुक्ल जी की आलोचनायें।

गवेषणात्मक निबन्धों में तर्क की प्रधानता होती है। लेखक एक अन्वेषक की भांति एक-एक तथ्य की खोज में व्यस्त प्रतीत होता है। इस निबन्ध में गहनता के साथ-ही-साथ रुक्षता का आ जाना स्वाभाविक होता है। मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विषय के निबन्ध 'गवेषणात्मक' कोटि में ही आते हैं ।

विवेचनात्मक निबन्धों में भी तार्किकता की प्रधानता होती है और वर्ण्य-विषय के गुण-दोषों के साथ ही उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। इसमें भाषा का परिष्कृत रूप तो होता है, किन्तु वाक्यों का आकार लघु रखा जाता है और विषय को सरस बनाने के लिए बीच-बीच में अलंकृत-शैली का भी पुट दे दिया जाता है । सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक निबन्ध इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

भावात्मक निबन्ध

इन निबन्धों में भावुकता अथवा हृदयपक्ष की प्रधानता रहती है और बुद्धि पक्ष गौण रहता है। इनमें भाषा का रूप अलंकृत रहता है और वाक्य भी अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होते हैं। इन निबन्धों में गाम्भीर्य की न्यूनता होती है। इन निबन्धों के विषय प्राय: अमूर्त अथवा इन्द्रियातीत होते हैं। इनमें अभिधावृत्ति का प्राधान्य होता है, लाक्षणिक वाक्यों की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। इन निबन्धों में तीन प्रकार की शैलियां अपनाई जाती हैं—1. धाराशैली 2. तरंगशैली 3. विक्षेपशैली। इनका विवरण गत पृष्ठों में दिया जा चुका है।

निबन्धों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। यथा (क) 1. सांस्कृतिक 2. विचारात्मक 3. व्याख्यात्मक 4. तार्किक 5. भावात्मक।

(ख) 1. आत्मकथात्मक 2. विचारात्मक 3. नाटकीय।

(ग) 1. स्वप्नकथा रूप में 2. आत्मचरित 3. कहानी शैली में।

विषयवस्तु की दृष्टि से

ऐतिहासिक 2. गवेषणात्मक 3. चारित्रिक 4. धार्मिक 5. सामाजिक 6. राजनीतिक 7. यात्रा सम्बन्धी 8. प्रकृति सम्बन्धी 9. व्यंग्य-हास्यप्रधान 10. आत्मकथा के रूप में।

भाषाशैली की दृष्टि से

1. प्रांजलशैली 2. आलंकारिकशैली 3. प्रदर्शन शैली 4. प्रवाहशैली 5. सम्वादशैली।

चिन्तनात्मक निबन्ध

1. विचारात्मक 2. भावात्मक 3. उभयात्मक।

अभिव्यक्ति शैली की दृष्टि से

1. वर्णनात्मक शैली 2. व्यंग्यात्मक शैली 3. चित्रात्मक शैली 4. भाषण शैली 5. आलंकारिक शैली 6. मुहावरा शैली 7. उद्धरण शैली 8. काव्यात्मक शैली 9. शब्दक्रीड़ा शैली 10. खण्डन शैली 11. मण्डन मैली।

हमारे विचार से निबन्ध के पूर्वोक्त चार प्रकार ही अधिक उचित हैं। अधिक भेद-विभेद पाठक को उलझा देते हैं। लेखक बहुसंख्यक हैं, अतः उनकी शैलियाँ बहुसंख्यक हैं।

उत्तम शैली के निबन्ध की विशेषताएँ

1. प्रसादगुण 2. क्रम, संगति, संगठन और अन्विति में एकता 3. आकांक्षा योग्यता तथा सन्निधि का प्राविधान 4. पुनरावृत्ति का अभाव 5. अलंकारों के भार से मुक्ति 6. लाघव की प्रवृत्ति 7. प्रभावोत्पादकता 8. लक्षणा-व्यंजना का उचित प्रयोग 9. हृदयपक्ष तथा बुद्धिपक्ष में सामञ्जस्य 10 परिपूर्णता 11. कुशल अभिव्यक्ति।

इस प्रकार निबन्ध में गद्य की समस्त विधाओं की मुख्य विशेषाएँ केन्द्रित प्रतीत होती हैं। तभी तो आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"शब्दों की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में सबसे अधिक सम्भव है, यह कविता, नाटक उपन्यास आदि से सम्भव नहीं।"

हिन्दी के सुधी समीक्षक आचार्य गुलाबराय ने निबन्ध की जो परिभाषा दी है, उसमें स्पष्ट रूप से निबन्ध की प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

"निबन्ध उस गद्यरचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन, एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।

—काव्य के रूप, पृ० 236

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध (चिन्तामणि भाग 1 तथा 2) विशेष प्रसिद्ध हैं। वैसे इधर नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डॉ० नगेन्द्र ने इस विधा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। युग की बढ़ती हुई प्रवृत्तियों के साथ निबन्ध के साथ भी नूतन क्षेत्रों की खोज हुई है। यात्री सम्बन्धी निबन्ध एवं आखेट सम्बन्धी निबन्धों के अतिरिक्त वैज्ञानिक निबन्धों का भी द्वार खुल गया है। 'चन्द्रविजय' के पश्चात् हिन्दी साहित्य के निबन्धों में भी एक नया मोड़ आ गया है। इस प्रकार हिन्दी निबन्ध की गति आशाजनक है।

गद्य की नूतन विधाएँ

आधुनिक काल में हिन्दी गद्य की विशेष प्रगति हुई है। पाश्चात्य-साहित्य के प्रभाव से हिन्दी-गद्य में भी नवीन विधाएँ विकसित हुई हैं। गद्य-काव्य, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, लघुकथा, रिपोर्ताज, संस्मरण पर्यटन-साहित्य, आखेट-साहित्य, इण्टरव्यू (दैनन्दिनी), पत्रसाहित्य आदि विभिन्न-रूपों में नूतन-गद्य विकसित हो रहा है। अभी अनेक के तत्त्वों का निश्चय नहीं हो पाया, क्योंकि कृतियों के प्रौढ़रूप तक सृजन होने में कुछ समय लगता है और किसी विधा की पर्याप्त कृतियों के होने पर ही मानदण्ड स्थिर किये जाते हैं। यहाँ पर हिन्दी गद्य की कतिपय प्रमुख विधाओं का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

गद्य-काव्य

जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में 'पद्य' का महत्व है, उसी प्रकार 'गद्य' का भी। प्राचीन आचार्यों ने तो गद्य को कविता की कसौटी माना है—"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।" इसका कारण यह है कि गद्यकाव्य में पद्य की अपेक्षा कवि या लेखक को अधिक स्वतन्त्रता रहती है। हिन्दी में गद्य रचनायें तो बहुत पहले से होती आई हैं, किन्तु पारिभाषिक 'गद्यकाव्य' आधुनिक युग की देन है।

'गद्यकाव्य' में 'छन्दोबद्धता' के अतिरिक्त काव्य के समस्त उपादान विद्यमान रहते हैं। यदि गद्यकाव्य को 'भावात्मकशैली का निबन्ध' कहें, तो वास्तविकता से अधिक दूर न होंगे। वैसे सूक्ष्म अन्तर तो है ही। 'भावात्मक निबन्ध' में भावुकता की प्रधानता तो अनिवार्य होती है, पर उसकी शैली प्रायः सुनिश्चित रहती है। 'गद्यकाव्य' में लेखक या कवि का कथ्य सांकेतिक या प्रतीकात्मक रहता है। वह चुने हुए शब्दों के माध्यम से अपने भावों एवं विचारों की अभिव्यंजना मात्र करता चलता है और भावों तथा विचारों की वितत तथा क्रमबद्ध श्रृंखला प्रस्तुत करता हुआ उद्देश्य पूर्ति पर उसकी समाप्ति कर देता है। इसके लेखन में कलाकार अर्थगाम्भीर्य का ध्यान

बराबर बनाये रहता है, किन्तु भावात्मकता की प्रधानता के कारण बुद्धितत्त्व को गौण स्थान देता है। इसमें 'कल्पना' के साथ ही अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक एवं मानवीकरण आदि अलंकार भी अपने स्वाभाविकरूप में दृष्टि-गोचर होते हैं। 'कथावस्तु' तो नाममात्र की होती है, परिपार्श्व के रूप में देशकाल का चित्रण रहता है। इसमें भावात्मकशैली की—धाराशैली, तरंग-शैली और विक्षेपशैली, इन तीनों का प्रयोग सम्भव रहता है।

गद्यकाव्य के तत्त्व

1. भावतत्त्व 2. कल्पनातत्त्व 3. बुद्धितत्त्व 4. शैलीतत्त्व।

इनमें बुद्धितत्त्व गौण रहता है और भावतत्त्व के साथ कल्पनातत्त्व की प्रधानता रहती है। शैलीतत्त्व में छन्द, लय, संगीतात्मकता आदि का अभाव रहता है, उसमें लक्षणा और व्यंजना की प्रधानता रहती है। प्रतीकात्मकता एवं संकेतात्मकता के साथ सूक्ष्मता एवं प्रभावकारिता की स्थिति अनिवार्य होती है।

परिभाषा

"गद्यकाव्य गद्य की वह साहित्यिक विधा है, जिसमें कलाकार किसी विषय की भावात्मक-अतिरेक परम्परा में आकर कल्पना, संकेतों एवं प्रतीकों के माध्यम से अपने विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है।" —स्वरचित्

यद्यपि हिन्दी में 'द्विवेदीयुग' से ही गद्यकाव्य का प्रणयन होने लगा था, किन्तु वस्तुत: 'गीताञ्जलि' के प्रभाव से 'रायकृष्णदास' के 'छायापथ' से इसका प्रारम्भ मानना संगत है। वियोगीहरि का 'अन्तर्नाद' एक श्रेष्ठ 'गद्यकाव्य' है। इनके अतिरिक्त चतुरसेनशास्त्री, तेजनारायण, डॉ० रघुवीर सिंह, रावी, अज्ञेय, रामकुमार वर्मा, रजनीश, शान्तिप्रसाद वर्मा एवं राज-नारायण मेहरोत्रा हिन्दी के उत्तम 'गद्यकाव्य-लेखक' माने जाते हैं।

रेखाचित्र

'रेखाचित्र' हिन्दी-साहित्य की नूतन गद्यविधाओं में विशेष उल्लेख-नीय है। यह शब्द 'चित्रकला' से साहित्य-जगत् में प्रविष्ट हुआ है। चित्र-कला में रेखा, रूप और रंग, इन तीन अंगों का प्राधान्य होता है। रेखाओं द्वारा भावाङ्कन का कार्य होता है और रूप तथा रंग सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं। चित्रकला में तो रंगों का प्रयोग होता है, पर 'रेखाचित्र' में रंगों का प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार चित्र में चौड़ाई सम्भव है, पर 'रेखाचित्र' में नहीं। इसमें तो रेखाओं द्वारा ही मनोगत भावों का चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

साहित्य में 'रेखाचित्र' अंग्रेजी के Sketch शब्द का समानार्थक है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका की कलात्मकगति से रेखाओं में सजीवता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार 'रेखाचित्रकार' भी अपनी लेखनी की कलात्मक-गति से शब्दों में ऐसी सजीवता उत्पन्न करता है, जिससे वर्ण्यवस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार "एकात्मक विषय विशेष की विशेषताओं का थोड़े में मार्मिक रूप से शब्द रेखाओं के माध्यम द्वारा एक सजीव चित्र उरेह देना 'रेखाचित्र' कहलाने लगा।"

परिभाषा

"'रेखाचित्र' वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का शब्दों द्वारा विनिर्मित वह मर्मस्पर्शी और भावमय रूपविधान है, जिसमें कलाकार का सम्वेदनशील हृदय और उसकी सूक्ष्मपर्यवेक्षणशक्ति अपना निजीपन उड़ेलकर प्राण प्रतिष्ठा कर देती है।"

'रेखाचित्र' पाश्चात्य साहित्य से समागत 'हिन्दी-साहित्य' की नूतन गद्यविधा है, अत: अभी तक कहानी आदि की भाँति इसके मूलतत्त्वों का स्पष्ट निर्धारण नहीं हो पाया है। प्राय: इतना तो सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं कि 'रेखाचित्र' में अनुभूति की संवेदनशीलता, समुचित शब्द-चयन एवं अभिव्यक्ति कौशल का होना अनिवार्य है।

रेखाचित्र का स्वरूप

'रेखाचित्र' के तत्त्वों में वर्णन की वास्तविकता का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यथार्थता की विश्वसनीयता और विषय की अनुभूत वास्तविकता उसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। घटनाओं एवं परिस्थितियों का उतना ही वर्णन अपेक्षित होता है, जितना पाठक की सम्वेदना को जाग्रत करने के लिए जरूरी हो। कथा विस्तार के लिए यहाँ स्थान नहीं होता और न किसी प्रकार की विशेष सजावट ही उपयुक्त समझी जाती है।

'रेखाचित्र' में एकात्मकता होती है। उसमें विविधता के लिए स्थान नहीं होता; अर्थात् लेखक का अपने वर्ण्य विषय से चिपटा रहना आवश्यक हो जाता है, उसको थोड़े समय के लिए भी कहीं बहक जाने का अवकाश नहीं रहता। उसकी लाइन टेढ़ी-मेढ़ी और स्थूल न होकर, सीधी और सूक्ष्म होती है। डा० नगेन्द्र का मत है—"रेखाचित्र में दो 'डायमेन्शन' होती हैं, एक लेखक और उसके एकात्मक विषय के बीच की संयोजक रेखा, और दूसरी, इससे सम्बद्ध रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा। रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है, उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है।"

इसी प्रकार 'रेखाचित्र' की शैलीगत विशेषताओं में तीन बातें आवश्यक होती हैं–1. मार्मिकता 2. तीव्रता 3. लाघव की प्रवृत्ति इनमें मार्मिकता और तीव्रता (पैनापन) का सम्बन्ध केवल शब्दों से नहीं होता, किन्तु 'लाघव की प्रवृत्ति' का सम्बन्ध 'शब्दगत' ही अधिक होता है। इस हेतु लेखक "है, था" आदि सहायक क्रियाओं का भी परित्याग कर देते हैं।

विषय

यद्यपि 'रेखाचित्र' के तीन विषय हो सकते हैं–1. व्यक्ति 2. वस्तु 3. घटना, किन्तु अधिकांश रेखाचित्र व्यक्तिनिष्ठ ही होते हैं। उनमें व्यक्ति की मुद्राओं एवं चेष्टाओं के रूपवर्णन के साथ ही उसकी चारित्रिक विशेषताओं का भी चित्र खींचा जाता है।

रेखाचित्र की विशेषतायें

उच्चस्तरीय रेखाचित्र में निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं–

1. व्यंग्यात्मक शैली 2. लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग 3. सरल एवं सशक्त भाषा 4. स्थूल एवं सूक्ष्म चित्रण (वाह्य एवं आन्तरिक चित्रण) 5. स्वानुभूति की सत्यता 6 विम्ब ग्रहण 7. सम्वेदनात्मक पुट 8. जीवन की गम्भीर विवृत्ति 9. काव्यात्मकता 10. ज्ञानवैविध्य 11. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण 12. तीव्र प्रभावकारिता।

महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों में उपर्युक्त समस्त विशेषतायें न्यूनाधिक रूप में पाई जाती हैं। इस दृष्टि से उनका 'भक्तिन' शीर्षक रेखाचित्र अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीत होता है। रेखाचित्र की विशेषताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए उसके निम्नलिखित तत्त्व कल्पित किये जा सकते हैं–

रेखाचित्र के तत्त्व

1. विषयवस्तु की सजीवता 2. शब्द चित्रात्मकता 3. स्थूल तथा सूक्ष्म चित्रण 4. तीव्र अभिव्यंजना 5. वैयक्तिक प्रभाव 6. काव्यात्मकता 7. सशक्त भाषाशैली।

इन तत्त्वों के ही अन्तर्गत तीन तत्त्व ऐसे हैं, जो किसी भी रेखाचित्र के लिए अपरिहार्य होते हैं–1. अनुभूति की सम्वेदनशीलता 2. सशक्त शब्द चयन 3. अभिव्यक्त कौशल।

रेखाचित्र के प्रकार

1. वर्णन प्रधान रेखाचित्र 2. संस्मरणात्मक रेखाचित्र 3. सम्वेदनात्मक रेखाचित्र 4. व्यंग्यात्मक रेखाचित्र 5. रूपात्मक रेखाचित्र 6. मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र।

इनमें प्रथम में वर्णन की प्रधानता होती है। द्वितीय में पूर्वस्मृति के आधार पर लेखक किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना का चित्रण करता है। तृतीय में वर्ण्यविषय के प्रति लेखक की सम्वेदना प्रकट रहती है। चतुर्थ में किसी पात्र विशेष के रूप कार्य अथवा स्वभाव पर व्यंग्य किया जाता है। पंचम में रूपक के माध्यम से वर्ण्यविषय को स्पष्ट किया जाता है और षष्ठ में किसी पात्र विशेष की मनोवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक पद्धति से प्रकाशन किया जाता है।

रेखाचित्र तथा संस्मरणादि में अन्तर

रेखाचित्र 'संस्मरण' में भिन्न होता है। संस्मरण में तो किसी व्यक्ति के सम्पर्क की याद को लेखक अनुभूति का संबल बनाकर उसे आत्मकथन के रूप में प्रस्तुत करता है, परन्तु रेखाचित्र में लेखक उसका चरित्रचित्रण भी करता है। इसके अतिरिक्त संस्मरण में देशकाल का चित्रण अधिक होता है, रेखाचित्र में कम। संस्मरण में लेखक अधिक आत्मनिष्ठ रहता है, रेखाचित्र में उतना नहीं। संस्मरण के लिए चित्रात्मक शैली अनिवार्य नहीं, किन्तु रेखाचित्र के लिए अनिवार्य है।

इसी प्रकार 'रेखाचित्र' तथा 'रिपोर्ताज' इन दोनों में पर्याप्त साम्य होने पर भी अन्तर है। सम्वेदनात्मक अनुभूति का चित्रण तथा यथार्थता की विश्वसनीयता दोनों में होती है, किन्तु 'रिपोर्ताज' में घटना अथवा दृश्य की प्रधानता होती है, जबकि रेखाचित्र में व्यक्ति एवं चरित्र की प्रधानता होती है। रिपोर्ताज में वातावरण और परिस्थिति का चित्रण अनिवार्य होता है, किन्तु रेखाचित्र में चित्रित विषय के अन्तर्गत ही वातावरण तथा परिस्थिति पृष्ठभूमि के रूप में आ जाती है, अर्थात् गौण रहती है।

इसी प्रकार रेखाचित्र 'कहानी' से भी भिन्न है। कहानी 'कल्पना' पर आश्रित हो सकती है, पर रेखाचित्र तो अनुभूति प्रधान ही होता है। रेखाचित्र की प्रकृति स्थिर है और कहानी की 'गतिशील'। रेखाचित्र अधिक वैयक्तिक कला है, कहानी सामाजिक।

हिन्दी में रेखाचित्र का प्रारम्भ पद्मसिंह शर्मा के 'पद्मराग' निबन्धों से (1929) माना जाता है, किन्तु वस्तुत: श्रीराम शर्मा (1937) की रचना 'बोलती प्रतिमा' से इसका वास्तविक रूप प्रकट हुआ है। इस क्षेत्र में महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' (1941) स्मृति की रेखायें (1947) तथा 'पथ के साथी' (1956) संग्रह विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त रामवृक्ष बेनीपुरी, पी० सी० गुप्त, बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ० विनयमोहन शर्मा, कन्हैयालाल मिश्र, देवेन्द्र सत्यार्थी एवं प्रेमनारायण टंडन के नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण

आधुनिक हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में 'संस्मरण' भी एक नूतनविधा मानी जाती है। इसका प्रचलन पाश्चात्य-साहित्य के प्रभाव से ही हिन्दी क्षेत्र में हुआ है। जब हम अपनी अनुभूति का आश्रय लेकर किसी महान व्यक्ति का उज्ज्वल चित्र खींचने लगते हैं, तो वही 'संस्मरण' हो जाता है। इस प्रकार 'संस्मरण' एक प्रकार का रेखाचित्र ही है। यह बात दूसरी है कि कुछ बातों में संस्मरण और रेखाचित्र परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ–संस्मरण में लेखक अधिक आत्मनिष्ठ होता है, इसमें 'स्व' की भावना अधिक रहती है, जबकि रेखाचित्र में वह इतना आत्मनिष्ठ नहीं रहता।

परिभाषा

'संस्मरण' गद्य की वह नूतनविधा है जिसमें भावुक कलाकार अपने अतीत की अनन्त स्मृतियों में से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरंजित कर व्यंजनामूलक संकेत शैली में अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से विशिष्ट बनाकर रोचक ढंग से यथार्थ रूप में व्यक्त करता है।

संस्मरण के तत्त्व

1. रमणीय अनुभूति 2. तीव्र अभिव्यंजना 3. आत्मनिष्ठता 4. यथार्थ चित्रण 5. सशक्त भाषाशैली 6. देश-काल 7. ऐतिहासिकता।

विशेष–यद्यपि 'संस्मरण' के उक्त तत्त्व अभी तक स्थिरता नहीं प्राप्त कर सके, किन्तु इनकी सत्ता तो संस्मरणों में होती ही है, अतः इन तत्त्वों को स्वीकार करने में अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिए।

संस्मरण का स्वरूप

'संस्मरण' में लेखक प्रत्यक्षदर्शी रहता है। वह जिन दृश्यों एवं घटनाओं अथवा व्यक्तियों से विशेष प्रभावित होता है, कालान्तर में उन्हें अपनी स्मृति के आधार पर कलात्मक ढंग से लिखता है। इस प्रकार लेखक की स्मृतियाँ अपने अंचल के इतिहास एवं सत्य को लेकर आती हैं। संस्मरण में कुछ कल्पना का भी अंश रहता है, इसके मिश्रण से उसमें सौन्दर्य की वृद्धि होती है। संस्मरण के लेखन में लेखक अधिकतम आत्मनिष्ठ रहता है। इसमें वह जिस देश काल का चित्रण करता है, वह भी सत्य होता है।

संस्मरण एवं रेखाचित्रादि का अन्तर

संस्मरण 'रेखाचित्र' से साम्य रखता हुआ भी भिन्न होता है इसमें कल्पना की मात्रा कम और ऐतिहासिकता की मात्रा अधिक होती है। रेखाचित्र में 'ऐतिहासिकता' की मात्रा न्यून रहती है। संस्मरण में रेखाचित्र

की अपेक्षा 'देशकाल' का चित्रण अधिक रहता है। संस्मरण में लेखक 'आत्म-कथा' के रूप में चित्रण करता है, रेखाचित्र में वह इतना आत्मनिष्ठ नहीं होता। संस्मरण के लिए 'चित्रात्मक शैली' अनिवार्य नहीं, किन्तु 'रेखाचित्र' के लिए तो 'चित्रात्मकशैली' अनिवार्य है। जब संस्मरण में लेखक प्रधान होता है, तब उसे (Reminiscence) (रेमिनिसेंस) कहते हैं और जब कोई अन्य व्यक्ति प्रधान होता है, तब उसे Memories या (मेम्वायर्स) कहते हैं। 'मेमोयर्स' में इतिहासतत्त्व अनिवार्य होता है, पर 'रेमिनिसेंस' में अनिवार्य नहीं होता।

'संस्मरण' प्राय: 'आत्मकथा' के अधिक समीप होता है। 'आत्मकथा' में लेखक का दृष्टिकोण अपनी 'जीवन-गाथा' के वर्णन की ओर अधिक झुका रहता है, जबकि 'संस्मरण' में उसका दृष्टिकोण मधुर स्मृतियों के चित्रण की ओर झुका प्रतीत होता है। 'आत्मकथा' में लेखक के जीवन की प्रधानता अनिवार्य होती है, पर 'संस्मरण' में लेखक के जीवन की उतनी प्रधानता नहीं रहती। इसी प्रकार 'यात्रा-साहित्य' भी 'संस्मरण' से साम्य रखता है। अन्तर यह है कि 'यात्रा-साहित्य' में लेखक का दृष्टिकोण अधिक भावात्मक न होकर 'वर्णनात्मक' होता है, जबकि 'संस्मरण' में 'वर्णनात्मकता' गौण होती है और भावात्मकता मुख्य होती है।

हिन्दी में 'संस्मरण-लेखन' का कार्य तो द्विवेदी-युग से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उस समय इसमें प्रौढ़ता नहीं आई थी। श्रीनारायण चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी, देवेन्द्र सत्यार्थी, महादेवी वर्मा, शान्ति प्रिय द्विवेदी आदि लेखकों के संस्मरण उत्तमकोटि के माने जाते हैं।

जीवनी

भारतवर्ष में 'जीवनी-साहित्य' प्राचीनकाल से ही प्रचलित रहा है। हिन्दी में 'वार्ता-साहित्य' 'चौरासी-वैष्णवों की वार्ता, दो सौ वैष्णवों की वार्ता, गुसाईं चरित आदि एक प्रकार का जीवनी-साहित्य ही हैं, परन्तु आज जिस रूप में यह साहित्य प्रचलित है, वह पाश्चात्य-साहित्य की देन है। अंग्रेजी में जिसे Biograghy (बाइग्राफी) कहते हैं, हिन्दी में उसी को 'जीवनी' कहते हैं। यह आधुनिक हिन्दी-गद्य की नूतनविधा है।

परिभाषा

पाश्चात्यविद्वानों ने 'जीवनी' या (बाइग्राफी) की अनेक परिभाषायें की हैं। डॉ० जानसन के अनुसार "जीवनी का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रिया-कलापों का रंजक वर्णन करना होता है, जो व्यक्ति-विशेष की

बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातों तक से सम्बन्धित होती है।"

'शिप्ले' के अनुसार "जीवनी किसी व्यक्ति विशेष की जीवन-घटनाओं का विवरण है। अपने आदर्शरूप में वह प्रयत्न पूर्वक लिखा गया इतिहास है, जिसमें व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी अंश से सम्बन्धित बातों का विवरण मिलता है। ये आवश्यकतायें उसे एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करती हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से 'जीवनी' का पूर्णरूप तो स्पष्ट नहीं हो पाता, किन्तु उसकी एक रूपरेखा का मान अवश्य हो जाता है। वस्तुतः "जीवनी, वह साहित्यिक विधा है, जिसमें भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन या जीवन के किसी भाग का वर्णन परम सुपरिचित ढंग से इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस व्यक्ति की सच्ची जीवन-गाथा के साथ-साथ कलाकार का हृदय भी मुखरित हो उठता है।"

जीवनी का स्वरूप

लेखक किसी व्यक्ति विशेष के जीवन को जिस रूप में देखता और अनुभव करता है, उसी को वह साहित्यिक रूप में व्यक्त कर देता है। इसमें व्यक्ति के जीवन का इतिहास ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। जीवन के दो पक्ष होते हैं–1. आन्तरिक पक्ष 2. वाह्य-पक्ष। आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध स्वभाव, चेष्टा एवं चरित्रादि से होता है और वाह्य पक्ष का सम्बन्ध उसके रूप, आकृति एवं वाह्य क्रियाकलापों से होता है। इसी प्रकार 'जीवनी' में भी वर्ण्य व्यक्ति के आन्तरिक एवं वाह्य व्यक्तित्व का यथार्थ चित्रण किया जाता है। इसके लेखन में लेखक जितना ही तटस्थ एवं निष्पक्ष रहेगा, वह उतना ही सफल होगा। इसके अतिरिक्त उक्त व्यक्ति के विषय में लेखक की पूर्ण जानकारी भी अपेक्षित होती है। इसमें लेखक वर्ण्यपात्र के जीवन की छोटी से छोटी बातों का भी उल्लेख करता है। वह घर में कैसा है और बाहर सामाजिक जीवन में कैसा है, इसका उल्लेख करने से ही व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। जीवनी-लेखक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह वर्ण्यपात्र के जीवन का क्रमिक अन्वेषण प्रस्तुत करे, उसके वर्णन सत्य पर आधारित एवं प्रामाणिक हों। जीवनी लेखन में लेखक को 'सहृदयता' की भी आवश्यकता पड़ती है। इसके अभाव में 'जीवनी' न होकर 'इतिहास' हो जायगी।

जीवनी के तत्त्व

1. ऐतिहासिक आधार 2. क्रमबद्धता 3. रोचकता 4. कोमलता

5. मसृणता 6. अभिव्यक्ति कौशल 7. स्थूल एवं सूक्ष्म चित्रण ।

विशेष–उपर्युक्त तत्त्व अभी सर्वमान्य नहीं हैं, किन्तु किसी भी उच्च स्तरीय 'जीवनी' में प्राप्त हो सकते हैं ।

जीवनी लेखन के स्रोत

प्रो० कैलस ने जीवनी लेखन के निम्नलिखित पंचस्रोत बतलाये हैं–

1. उस विषय पर या उससे सम्बद्ध लिखित पुस्तकें । 2. मूल सामग्री-पत्र, डायरी आदि 3. समकालीनों के संस्मरण 4. जीवित व्यक्तियों से उपलब्ध सामग्री 5. चरितनायक के निवास स्थूलों का भ्रमण एवं पर्यवेक्षण ।

वस्तुत: उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर लिखी गई जीवनी प्रामाणिक होती है । यदि लेखक इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा करता है, तो हो सकता है कि कोई तथ्य विशेष छूट जाय अथवा सत्य से कुछ दूर भटक जाय ।

जीवनी के प्रकार

जब कलाकार स्वयं अपनी जीवनी लिखता है, तब उसे 'आत्मकथा' (आटोबाईग्राफी) कहते हैं और जब किसी अन्य की जीवनी लिखता है, तब उसे 'जीवनी' कहते हैं । इस प्रकार जीवनी के उक्त दो भेद होते हैं । 'आत्म-कथा' के लिखने में जहाँ लेखक को यह सुविधा होती है कि उसे तथ्यों की जानकारी के लिए किसी स्रोत की खोज में 'भटकना' नहीं होता । वहाँ उसके समक्ष 'ईमानदारी' का प्रश्न एक जटिल-समस्या उत्पन्न कर देता है । उसे अपनी कमजोरियों या दुर्बलताओं के चित्रण में भी उतनी ही रुचि लेनी चाहिए, जितनी रुचि वह अपने गुणों के चित्रण करने में लेता है । यदि वह ऐसा नहीं कर पाता, तो वह 'आत्मकथा' के लक्ष्य से बहुत दूर भटक जाता है । 'कार्लाइल' ने लिखा है–

"एक सफल चरित्र का लिखना उतना ही कठिन है, जितना एक सफल जीवन का अपने जीवन में निभाना ।" पाश्चात्य विद्वानों ने 'जीवनी-लेखन के विषय में अनेक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं–

1. आत्मीय जीवनी 2. लोकप्रिय जीवनी 3. विद्वत्तापूर्ण जीवनी 4. मनोवैज्ञानिक जीवनी 5. कलात्मक जीवनी 6. व्यंग्यात्मक जीवनी ।

प्रथम में लेखक या तो अपनी जीवनी लिखता है, जिसे आत्मकथा कहते हैं अथवा अपने किसी प्रिय पारिवारिक या सम्बन्धी का जीवन प्रस्तुत करता है, जिसे 'जीवनी' कहते हैं । इसमें लेखक की तटस्थता का विशेष मूल्य होता है । द्वितीय में किसी ऐसे पात्र की जीवनी लिखी जाती है, जो लोक में अपने चरित्र एवं कार्यकलाप द्वारा प्रसिद्ध हो । तृतीय में किसी

विद्वान की जीवनी लिखी जाती है, जो किसी विद्या विशेष के लिए विख्यात रहा हो। चतुर्थ में लेखक अपने वर्ण्यपात्र के वाह्य चित्रण की अपेक्षा उसके आन्तरिक चित्रण (स्वभाव, चरित्र, मनोवेग, प्रवृत्ति आदि) पर अधिक ध्यान देता है। पञ्चम में लेखक का ध्यान कलात्मकता की ओर अधिक रहता है। इसमें वह वास्तविकता से कुछ दूर हटता हुआ प्रतीत होता है। षष्ठ में लेखक अपने वर्ण्यपात्र के रूप, स्वभाव, चरित्र आदि का वर्णन व्यंग्यात्मक शैली द्वारा करता है। इसमें प्रभावकारिता अधिक होती है और लेखक को अपनी मूल अभिव्यंजना में विशेष सहायता मिलती है।

उक्त सभी प्रकार की जीवनियों का लक्ष्य 'मानव जीवन' को उपदेश प्रदान करना होता है, अत: 'शिप्ले' ने सभी को 'उपदेशात्मक जीवनी' के रूप में मान्यता प्रदान की है। कुछ लोग जीवनी के तत्त्व इस प्रकार मानते हैं–

1. कथावस्तु 2. चरित्र चित्रण 3. देशकाल 4. उद्देश्य 5. शैली। विचार करने पर हमारे द्वारा प्रदर्शित सात तत्त्वों के अन्तर्गत ही ये पंचतत्त्व आ जाते हैं। ऐतिहासिक आधार और क्रमवद्धता में कथावस्तु आ जाती है, 'स्थूल तथा सूक्ष्म चित्रण' के अन्तर्गत 'चरित्र चित्रण' आ जाता है और 'देशकाल' भी स्थूल चित्रण में स्थान पा जाता है। रोचकता, कोमलता और मसृणता का सम्बन्ध उद्देश्य से ही है। इसी प्रकार 'अभिव्यक्ति कौशल' के अन्तर्गत 'शैलीतत्त्व' का भी समावेश हो जाता है।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में जीवनी-साहित्य एवं आत्मकथा-साहित्य विकास के पथ पर है। महात्मा गान्धी, पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, डा० राधाकृष्णन, लोकमान्य तिलक एवं लाला लाजपतराय आदि महापुरुषों पर लिखी गई जीवनगाथायें हिन्दी-साहित्म में अमर हैं।

रिपोर्ताज (सूचनिका)

हिन्दी गद्य-साहित्य के क्षेत्र में 'रिपोर्ताज' एक नूतन गद्यविधा मानी जाती है। 'रिपोर्ताज' शब्द 'फ्रेंच' भाषा का है और अंग्रेजी के 'रिपोर्ट' शब्द से साम्य रखता है। इसे हिन्दी में 'सूचनिका' अथवा 'वृत्त-निर्देश' कहते हैं। इसमें किसी 'घटना' की रिपोर्ट को साहित्यिक रूप प्रदान किया जाता है। लेखक उस 'घटना स्थल' पर स्वयं उपस्थित रहता है, अत: इसमें तथ्य की प्रधानता रहती है और कल्पना के लिए बहुत कम स्थान रहता है। इसका लेखक अधिकाधिक जनसम्पर्क में रहता है, अत: उसे किसी घटना की वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान रहता है।

परिभाषा

"'रिपोर्ताज' गद्य की वह विधा है, जिसमें किसी घटना का वर्णन इस

कलात्मक ढंग से किया जाता है कि पाठक उसके सत्य से सहज ही प्रभावित हो सके।"

तत्त्व

1. घटना प्रधान कथावस्तु 2. तथ्याङ्कन 3. भावात्मकता 4. चित्रात्मक शैली 5. देशकाल तथा वातावरण 6. उद्देश्य।

स्वरूप विश्लेषण

'रिपोर्ताज' का लेखक एक ही साथ 'पत्रकार' एवं 'साहित्यकार' होता है। जहाँ वह किसी घटना के मूल तथ्यों का आकलन करता है, वहाँ उसे और अधिक प्रभावशील बनाने के लिए उसे साहित्यिक रूप प्रदान करता है, जिसमें भावुकता और स्वल्पकल्पना का भी मिश्रण हो जाता है। रिपोर्ताज की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि उसमें वस्तु सत्य को किस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है। इस अभिव्यक्ति के लिए लेखक को चित्रात्मक शैली का प्रभावपूर्ण आश्रय लेना पड़ता है।

इसके लेखक को 'वर्ण्यघटना' का यथार्थ परिचय प्राप्त करना होता है और उक्त घटना से सम्बद्ध पात्रों का प्रभावपूर्ण चित्रण करने के लिए उसे मनोवैज्ञानिक पुट भी देना होता है। 'रिपोर्ट' और 'रिपोर्ताज' में मूल अन्तर यही है कि 'रिपोर्ट' में किसी घटना का ऐसा यथार्थ चित्रण होता है, जिसमें साहित्यिकपुट नहीं होता, किन्तु 'रिपोर्ताज' में घटना की यथार्थता के साथ ही साहित्यिकपुट भी रहता है। तात्पर्य यह कि 'रिपोर्ट' के कलात्मकरूप का नाम 'रिपोर्ताज' है। इसमें लेखक की सम्वेदनानुभूति भी सम्मिलित रहती है।

रिपोर्ताज और कहानी

यद्यपि दोनों में घटनाओं के चित्रण के कारण साम्य प्रतीत होता है, पर रिपोर्ताज, कहानी से कई बातों में भिन्न होता है। कहानी में घटना या अन्य तत्त्व एक ही लक्ष्य की ओर तीव्रता से बढ़ते हैं, किन्तु रिपोर्ताज में अनेक घटनाओं एवं उद्देश्यों का समन्वय रहता है। कहानी काल्पनिक हो सकती है, पर रिपोर्ताज नहीं।

निष्कर्ष यह कि रिपोर्ताज की रचना में लेखक को घटना का पूर्ण विवरण ज्ञात होना चाहिए और उक्त घटना से सम्बद्ध पात्रों का प्रभावपूर्ण तथा परिष्कृत चित्रण करना चाहिए। लेखक को घटना का विवरण प्रस्तुत करने में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे पाठक प्रभावित हो सके।

हिन्दी में इस विधा का श्रीगणेश 'बंगाल के अकाल' को लेकर हुआ है। पी० सी० गुप्त, डा० रांगेयराघव, डा० प्रभाकर माचवे, अमृतराय एवं शिवदानसिंह चौहान प्रभृत्ति लेखक इस विधा के मुख्य उन्नायक माने जाते हैं।

इण्टरव्यू (साक्षात्कार)

यह हिन्दी गद्य की अभिनव विधा है। इसके लेखन के लिए लेखक किसी व्यक्ति विशेष से स्वयं जाकर मिलता है और उससे अनेक प्रश्न करता है। इस प्रकार वह उससे प्राप्त उत्तरों की सहायता से उक्त व्यक्ति के विचारों का आकलन और विश्लेषण करता है। इसमें "सम्वाद" की प्रधानता अनिवार्य होती है। इस नूतन युक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन या चरित्र को स्पष्ट किया जाता है। इस विधा में तार्किकता स्पष्ट रहती है। लेखक को ऐसे प्रश्नों का चयन करना पड़ता है, जिनके उत्तर से इण्टरव्यू देने वाले व्यक्ति का चरित्र स्वत: उभरकर सामने आ जाय।

स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए 'इण्टरव्यू' के लेखक को बहुत सतर्क रहना होता है। उसे इण्टरव्यू देने वाले व्यक्ति से ऐसी भी बातें सुनने को मिल सकती हैं, जो प्रतिकूल, असंगत एवं भ्रामक हों। इस स्थिति में लेखक ने अपनी प्रतिक्रिया किस प्रकार व्यक्ति की, इसका भी उल्लेख करना होता है। इस विधा में लेखक स्वत: कम से कम बोलता है, वह प्रश्नों के माध्यम से इण्टरव्यू देने वाले को ही बात करने का अधिक अवसर देता है।

परिभाषा

'इण्टरव्यू' गद्य की वह नूतन विधा है, जिसमें लेखक किसी व्यक्ति विशेष के चरित्र, विचार या जीवन को समझने के लिए उससे स्वयं मिलकर अनेक सम्बद्ध प्रश्नों द्वारा उत्तर संकलित करता हुआ निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। (स्वरचित)

इण्टरव्यू के तत्त्व

(1) सतर्कसम्वाद (2) क्रमवद्धता (3) संक्षिप्तता (4) मनोवैज्ञानिक पुट (5) स्वाभाविकता (6) परिष्कृत प्रश्नावली (7) सशक्त भाषाशैली।

महत्ता

आज के व्यस्त युग में 'इण्टरव्यू' की बड़ी महत्ता है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी कवि से मिलकर किसी विषय में उसका दृष्टिकोण जानना चाहते हैं, तो प्रश्नों के माध्यम से अल्पसमय में ही मूल जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार किसी की जीवनी समझने में भी 'इण्टरव्यू' द्वारा बड़ी सरलता होती है।

'इण्टरव्यू' की यह विधा भी अंग्रेजी-साहित्य की देन है। हिन्दी में, पद्मसिंह शर्मा कमलेश एक उच्चकोटि के 'इण्टरव्यू' लेखक हैं। "मैं इनसे मिला" शीर्षक संग्रह में इन्होंने अनेक साहित्यकारों के साथ लिए गए इण्टरव्यू का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त श्री शिवदानसिंह चौहान, डा० रामचरण महेन्द्र एवं लक्ष्मीनारायण शर्मा प्रभृति लेखक 'इण्टरव्यू-साहित्य' के अच्छे लेखक माने जाते हैं।

वस्तुत: 'हिन्दी-गद्य' के क्षेत्र में 'इण्टरव्यू' अभी शैशवावस्था में है, परन्तु इसके विकास की सम्भावनायें हैं। जिस प्रकार उपन्यास का स्थान 'लघुकथा' ने ले लिया है, इसी प्रकार 'जीवनी-साहित्य' का स्थान 'इण्टरव्यू' भी ले सकता है, किन्तु अभी इसकी टेकनिक के लिए विकास अपेक्षित है।

पद्यकाव्य

काव्य के दृश्य और श्रव्य, ये दो भेद हैं। दृश्य के अन्तर्गत नाटक, एकांकी आदि विधायें आती हैं और 'श्रव्य' के अन्तर्गत गद्य, पद्य तथा मिश्र (चम्पू) विधायें आती हैं। पिछले पृष्ठों में 'गद्य' की प्रमुख विधाओं के रचनासिद्धान्तों का विवेचन किया जा चुका है, अत: अब 'पद्यकाव्य' के प्रमुख भेदों का विवरण प्रस्तुत है। 'पद्यकाव्य' में बन्ध की दृष्टि से तीन भेद माने जाते हैं-1. प्रबन्ध काव्य 2. मुक्तककाव्य 3. मुक्तककोशकाव्य। इनमें आकार एवं उद्देश्य की दृष्टि से 'प्रबन्धकाव्य' का विशेष महत्व है। इसके तीन भेद किये जाते हैं–1. महाकाव्य 2. खण्डकाव्य 3. एकार्थकाव्य। मुक्तक के भी दो या तीन भेद किये जाते हैं–1. गीत 2. छन्द 3. गीति। प्रस्तुत प्रकरण में महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य तथा गीत या गीतिकाव्य पर विचार किया जायगा।

महाकाव्य

सामान्यतया महाकाव्य वृहदाकार की वह महती काव्य रचना है, जिसमें जीवन का अत्यन्त व्यापक चित्रण उदात्त मानवीय अनुभूतियों के रूप में कलात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया हो। संस्कृत-साहित्य में महाकाव्य की परिभाषा एवं स्वरूप पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने (5वीं शताब्दी) 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में 'महाकाव्य' के विषय में लिखा है–

"महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। वह महत्ता का प्रकाशक महान् होता है। इसमें अग्राम्य शब्दार्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। उसमें विचार-विमर्श, दूत, प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय–ये पंचसन्धियाँ होनी

चाहिये । अधिक गूढ़ता न हो, उत्कर्ष युक्त हो, चतुर्वर्ग के प्रतिपादन होने पर भी अर्थ मुख्य हो । लोक स्वभाव का वर्णन और सभी रसों का पृथक चित्रण हो । नायक के कुल, बल, शास्त्रज्ञान आदि का उत्कर्ष बताकर किसी के उत्कर्ष के लिये नायक का वध नहीं कराना चाहिये ।" (1 । 19–1 । 22)

इनके अनन्तर आचार्य दण्डी (6वीं शताब्दी) ने कुछ विस्तार किया । उन्होंने महाकाव्य के प्रारम्भ, वर्ण्यवस्तु, व्यापार सर्ग और छन्द के सम्बन्ध में अधिक ध्यान दिया है । दण्डी ने यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह कही है कि "महाकाव्य के इन अंगों में से यदि किसी की न्यूनता भी हो, तो भी कथा-सम्पत्ति का सौन्दर्य आकर्षक होने पर दोष नहीं माना जायगा ।" तात्पर्य यह कि महाकाव्य की रसात्मकता मुख्य है, अन्य लक्षणा गौण हैं ।

आगे चलकर आचार्य 'आनन्दवर्द्धन' ने 'महाकाव्य' की परिभाषा में कथा-संगठन तथा रस की महत्ता पर विशेष बल दिया । 'भोजरेव' ने 'दण्डी' के ही लक्षणों का अनुसरण किया । इनके अनन्तर आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में महाकाव्य के विस्तृत रूप पर समन्वित प्रकाश डाला । यथा–

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर: ।
सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित: ।। 1 ।।
एकवंशभवा भूपा: कुलजा बहवोऽपि वा ।
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।। 2 ।।
अंगानि सर्वेऽपि रसा: सर्वा नाटकसन्धय: ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।। 3 ।।
चत्वार स्तस्य वर्गा:स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।।4।।
क्वाचिन्निन्दाखलादीनां सतां च गुण कीर्तनम् ।
एकवृत्तमयै: पद्यैख सानेऽन्यवृत्तयकै: ।।5।।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा: सर्गाअष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमय: क्वापि सर्ग: कश्चन दृश्यते ।।6।।
सर्गांते भाविसर्गस्य कथाया: सूचनं भवेत् ।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासरा: ।।7।।
प्रातर्मध्वाह्ना मृगया शैलर्त वनसागरा: ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्तरा: ।।8।।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय: ।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगाअमी इह ।।9।।

कवे र्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकं स्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनामतु ।।10।।

अर्थात् महाकाव्य सर्गबद्ध होता है, उसमें एक नायक है, जो देवता या कुलीन क्षत्रिय होता है और धीरोदात्तगुणों से युक्त होता है ।। 1 ।। कहीं-कहीं एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा महाकाव्य के नायक होते हैं। श्रृंगार, वीर अथवा शान्त रस में से कोई एक रस अंगी (मुख्य) होता है ।।2।। शेष सभी रस अंगभूत (सहायक) होते हैं और नाटक की सभी सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण) होती हैं। महाकाव्य का वृत्त (कथानक) इतिहासोद्भव हो अथवा किसी अन्य स्रोत से लिया गया हो, किन्तु वह सज्जनाश्रित हो ।। 3 ।। चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) का उल्लेख हो, पर एक कोई, इसका फल हो। ग्रन्थ के आदि में नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण होना चाहिए ।। 4 ।। कहीं पर खलनिन्दा और साधुप्रशंसा भी होनी चाहिए। हर सर्ग में एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग हो, किन्तु सर्ग के अन्त में अन्य छन्दों का भी प्रयोग होना चाहिए ।। 5 ।। इसमें न छोटे न बहुत बड़े (मध्यम आकार के) आठ से अधिक सर्ग हों। कोई सर्ग ऐसा भी हो, जिनमें अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हो ।। 6 ।। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिए। सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन प्रात: ।। 7 ।। मध्याह्न, मृगया (शिकार) पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग एवं विप्रलम्भ (वियोग) श्रृंगार का वर्णन होना चाहिये और मुनि, स्वर्ग, पुर तथा यज्ञ का वर्णन भी हो ।। 8 ।। युद्ध, यात्रा, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि का यथायोग्य सांगोपांग वर्णन होना चाहिये ।। 9 ।। (महाकाव्य) का नाम कवि के नाम पर, चरित्र (वृतांत) के नाम पर, नायक के नाम पर अथवा किसी अन्य प्रमुख पात्र के नाम पर हो और प्रत्येक सर्ग का नाम सर्ग की वस्तु के आधार पर होना चाहिये ।। 10 ।। (सा० दर्पण–6।315–324 श्लो०)

उपर्युक्त लक्षणों में कुछ तो अनिवार्य हैं, जिन्हें आन्तरिक कह सकते हैं और कुछ वैकल्पिक हैं, जिन्हें वाह्य या गौण लक्षण कह सकते हैं। अनिवार्य लक्षण इस प्रकार हैं–

1. **कथावस्तु सम्बन्धी**–(क) इतिहास प्रसिद्ध अथवा लोकप्रसिद्ध कथावस्तु (ख) मध्यम आकार के सर्गों से परिबद्ध कथानक (ग) प्रकृति-चित्रण तथा वस्तु चित्रण (घ) नाटक की पंच सन्धियों से युक्त व्यवस्थित कथा।

2. **नायक सम्बन्धी**–धीरोदात्त नायक (कुलीन उत्तम गुणयुक्त सज्जन पुरुष)।

3. **रस सम्बन्धी**–शृंगार, वीर तथा शान्त रस में से किसी एक की प्रधानता, शेष सभी रसों की गौणस्थिति।

4. **भाषा शैली सम्बन्धी**–छन्द वैविध्य (प्रतिसर्ग का छन्द भिन्न होना चाहिये।)

5. **उद्देश्य सम्बन्धी**–अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्राप्ति। 'महाकाव्य' के वैकल्पिक लक्षण इस प्रकार हैं–

(क) मंगलाचरण की स्थिति (ख) आठ से अधिक सर्गों का बन्धन
(ग) सर्गांत में छन्द परिवर्तन (घ) सर्गांत में अगले सर्ग की कथा की सूचना (ङ) महाकाव्य का नामकरण और सर्गों के नाम।
(च) वर्ण्य विषय की सूची (प्रकृति चित्रण और वस्तु चित्रण) आवश्यक तो है, किन्तु सूची की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार आलोचना की कसौटी पर कसने से यह प्रतीत होता है कि भारतीय महाकाव्य के लक्षण अत्यन्त विस्तृत हैं फिर भी इनमें 'चरित्र-चित्रण' तथा 'सम्वाद' तत्त्व पर ध्यान नहीं दिया गया। जहाँ तक इनके अस्तित्व का प्रश्न है, प्रायः सभी प्राचीन महाकाव्यों में पात्रों के चरित्रों का विकास दिखलाया गया है और सम्वादों की भी सरस अवतारणा की गई है।

महाकाव्य के पाश्चात्य लक्षण

पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य के सम्बध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम 'अरस्तू' ने इस प्रकार विचार व्यक्त किये हैं, भले ही परिभाषा न दी हो–

1. महाकाव्य दीर्घकाल का कथात्मक अनुकरण है। उसकी कथा-वस्तु संगठित एवं सुव्यवस्थित होती है। उसमें कार्यान्विति आवश्यक होती है। प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथा से सम्बद्ध होती हैं, कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक होता हुआ भी कल्पना मिश्रित होता है। इसमें असम्भव घटनाएँ नहीं रखनी चाहिए, वर्णनों की स्वाभाविकता की रक्षा होनी चाहिये।

2. महाकाव्य में जीवन का व्यापक चित्रण होता है, इसके लिये किसी इतिहास प्रसिद्ध महान् व्यक्ति को नायक चुना जाता है।

3. इसमें 'षष्ठपदी' छन्द का प्रयोग होता है। इसकी भाषा शैली सरल, अलंकृत तथा जटिल भी होती है।

4. महाकाव्य घटनाप्रधान या उपदेश प्रधान होता है। प्रथम का उद्देश्य 'मनोरंजन' और द्वितीय का 'नैतिकता' है।

परवर्ती आलोचकों ने अरस्तू की महाकाव्य विषयक मान्यताओं की आलोचना की है। पुनर्जागरणकाल में अति प्राकृत तत्त्वों का विरोध हुआ है और इनके स्थान पर युगीन-संस्कृति के चित्रण पर बल दिया गया है।

'टिलियर्ट' ने महाकाव्य में गौरव-गरिमा (GRANDEUR), उत्कर्ष, भाषाशैली, युगीन संस्कृति की संगीतात्मक अभिव्यक्ति आदि पर विशेष बल दिया है। 'डबल्यू० पी० कर' ने महाकाव्य में 'चरित्रचित्रण एवं कल्पना-वैचित्र्य' पर बल दिया है। 'एबरक्रोम्बी' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Epic (दि इपिक) में लिखा है कि कोई रचना बड़े आकार से ही नहीं, शैली से महाकाव्य बनती है। महाकाव्योचित शैली वही कहलाती है, जिसमें कवि-कल्पना एवं विचारधारा का उदात्त रूप विद्यमान हो। इसमें एक स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है, जो महाकाव्य की गति का आदि से अन्त तक संचालन करता है।

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्यीय परिभाषाओं में 'वाल्टेयर' की परिभाषा व्यापक एवं समीचीन मानी जाती है। इन्होंने महाकाव्य में गरिमामयी घटना को प्रधानता दी है। इनकी दृष्टि से महाकाव्य वाह्य लक्षणों एवं रूढ़ियों पर आधारित नहीं होता, वह समाज की स्वीकृति पर आधारित होता है।

समन्वित रूप

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्य विषयक परिभाषाओं का समन्वित रूप इस प्रकार है—

'महाकाव्य' पद्यबद्ध वह विस्तृत प्रबन्ध काव्य है, जिसमें गरिमामयी उदात्त भाषाशैली के माध्यम से इतिहास प्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध महती जीवन कथा का उदात्त भावों एवं विचारों, युगसंस्कृति के पोषकतत्वों, जातीय चित्रवृत्तियों तथा विशिष्ट चरित्रों के साथ संगीतात्मक चित्रण किया जाता है।

संक्षेप में पाश्चात्य महाकाव्यों में निम्नलिखित तत्व पाये जाते हैं—

1. रोचक एवं विस्तृत एवं संगठित कथावस्तु, जो इतिहास प्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध होती है।

2. इसमें जातीय भावनाओं एवं राष्ट्रीय आदर्शों का प्रतिपादन होता है।

3. इसमें महत्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध विकास प्रदर्शित किया जाता है।

4. इसकी मुख्यकथावस्तु यथार्थ एवं सजीव होती है।

5. महाकाव्य युगीन-संस्कृति का प्रतिबिम्ब होता है।

6. इसमें उदात्त विचारों एवं भावों के साथ वीर एवं विशिष्ट पात्रों के महत्वपूर्ण जीवन का अंकन किया जाता है।

7. संगीतात्मकता एवं पद्यबद्धता के साथ उदात्त भाषाशैली का प्रयोग किया जाता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य महाकाव्यीय लक्षणों में अन्तर

भारतीय महाकाव्य-लक्षणों एवं पाश्चात्य महाकाव्य-लक्षणों में अधिकांश साम्य है, केवल कुछ बातों में अन्तर है, उसका कारण अपनी-अपनी सभ्यता एवं संस्कृति है।

साम्य की दृष्टि से उभयत्र महाकाव्य को 'विशालकाय' एवं विस्तृत माना जाता है। दोनों में कथावस्तु का आधार इतिहास अथवा 'लोक प्रसिद्ध आख्यान' माना जाता है। दोनों में धीरोदात्त गुण युक्त नायक माना जाता है। दोनों वर्णन प्रधान होते हैं। दोनों में जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति दिखलायी जाती है। इतना साम्य होते हुए भी कतिपय तत्वों में अन्तर है। यथा–भारतीय महाकाव्यों में 'रस' एक अनिवार्य तत्व है, किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों में इसके स्थान पर जीवन का व्यापक, सम्वेदनात्मक चित्रण अनिवार्य है। भारतीय महाकाव्य महापुरुष निष्ठ होते हुए भी लोकपरक होते हैं, किन्तु पाश्चात्य महाकाव्य स्पष्ट ही 'जातिपरक' होते हैं। भारतीय महाकाव्यों, में आदर्श की प्रधानता रहती है, किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों में 'यथार्थ' की। भारतीय महाकाव्यों के लक्षण में प्रकृति-चित्रण को विशेष महत्व दिया गया है, किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों के लक्षणों में इसकी चर्चा तक नहीं की गयी। इसके अतिरिक्त भारतीय महाकाव्यों में वाह्यसंघर्ष प्रधान रहता है पर पाश्चात्य महाकाव्यों में 'अन्तः संघर्ष' प्रधान रहता है।

भारतीय एवं पाश्चात्य महाकाव्यीय लक्षणों के आलोचन के पश्चात् महाकाव्य के स्थायी लक्षणों की आवश्यकता प्रतीत होती है। अधिकांश विद्वान् स्थूल रूप से महाकाव्य के निम्नलिखित 8 तत्व मानते हैं–

(1) महदुद्देश्य, महतीप्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा।
(2) गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व।
(3) महत्वकार्य और युग जीवन का सम्पूर्ण चित्रण।
(4) सुसंगठित जीवन्त कथानक।
(5) इतिहास प्रसिद्ध या श्रेष्ठ कुलीन नायक एवं अन्य पात्र।
(6) गरिमामयी उदात्त शैली।
(7) तीव्र प्रभावान्विति और रस व्यंजना।
(8) अवरुद्ध जीवन शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रायः सभी प्रकार, सभी देशों एवं सभी कालों के महाकाव्यों के लिए 5 तत्व माने हैं–1. उदात्त कथानक 2. उदात्त पात्र 3. उदात्त उद्देश्य 4. उदात्त भाव 5. उदात्त शैली।

जहाँ तक इन तत्त्वों की व्यापकता का प्रश्न है, वस्तुतः इन्हें सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक मान सकते हैं, किन्तु भविष्य की परिवर्तनशील परिस्थितियों के लिए यह कैसे कहा जा सकता है कि यही मान्यतायें बनी रहेंगी। इसके अतिरिक्त इन पाँचों तत्त्वों में 'उदात्त' शब्द संपृक्त है। क्या 'उदात्तता' का कोई मानदण्ड है ? इसकी क्या परिभाषा मानी जाय ? हम यह कैसे समझें कि अमुक कथानक उदात्त है ? हो सकता है कि जिसे एक समाज 'उदात्त' मानता हो दूसरा समाज उसे उदात्त न माने।

इस प्रकार न तो महाकाव्य का कोई स्थायी लक्षण किया जा सकता है और न स्थायी परिभाषा। हमें चाहिए कि हम अपने युग के लिए महाकाव्य के लक्षण एवं उसकी परिभाषा का निर्धारण कर लें और भविष्य के लिए भविष्यत् में होने वाले आचार्यों एवं मनीषियों के लिए अवसर दे दें। क्या आज के ही आचार्यों ने भविष्य का भी ठेका ले लिया है ? यदि कोई ऐसा दावा करता भी है, तो वह सत्य से बहुत दूर है।

खण्डकाव्य

'खण्डकाव्य' भी प्रबन्ध काव्य की श्रेणी में आता है। जितना अन्तर उपन्यास और कहानी में या नाटक और एकांकी में होता है, उतना ही अन्तर महाकाव्य और 'खण्डकाव्य' में भी होता है। यदि महाकाव्य समस्त जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता है, तो खंडकाव्य जीवन के किसी एक महत्वपूर्ण अंश की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। महाकाव्य के मूलतत्त्व कथावस्तु, पात्र एवं चरित्र-चित्रण, सम्वाद, देशकाल-वातावरण, रस-भाव, उद्देश्य एवं भाषाशैली आदि का अस्तित्व 'खण्डकाव्य' में भी होता है, किन्तु इसका आकार लघु होता है, अतः दोनों में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। महाकाव्य में उक्त तत्त्व अत्यन्त विस्तृत रूप में पाये जाते हैं, पर खण्डकाव्य में संक्षिप्त एवं संकुचित रहते हैं।

कथावस्तु

खण्डकाव्य की कथावस्तु में जीवन की किसी एक घटना, एक परिस्थिति या किसी एक प्रसंग का वर्णन किया जाता है और इसमें प्रासंगिक कथाओं का भी आधिक्य नहीं होता। जो प्रासंगिक कथायें आती भी हैं, वे मूलकथा से अतिशय संपृक्त रहती हैं। कहीं-कहीं तो इन्हें स्थान ही नहीं दिया जाता। मूल कथावस्तु अत्यन्त चुटीली, चुस्त एवं प्रभावशील होती है, वह महाकाव्य की कथा की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं सुसगठित होती है। कथावस्तु इतिहास मूलक या लोक प्रसिद्धि मूलक होती है, किन्तु इसमें अधिक मोड़ नहीं होते।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

'खण्डकाव्य' में अत्यावश्यक सीमित पात्र रहते हैं। प्राय: इनकी संख्या 5 या 7 तक होती है। इनका चरित्र-चित्रण पूरी तरह सम्भव नहीं हो पाता, किन्तु चरित्रों की संक्षिप्त रूप रेखायें अवश्य अंकित की जाती हैं। इन रूपरेखाओं में मनोवैज्ञानिकता, सजीवता, स्वाभाविकता आदि गुणों का ध्यान रखा जाता है।

सम्वाद

खण्डकाव्य के सम्वाद संक्षिप्त, सारगर्भित, पात्रानुकूल, चुस्त, स्वाभाविक सरल एवं प्रभावपूर्ण होते हैं। इनमें मनोवैज्ञानिकता और परिस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त ऐसे सम्वादों की सृष्टि की जाती है, जिनमें नाटकीयता के साथ ही कथानक को गति देने की क्षमता हो।

देशकाल तथा वातावरण

'खण्डकाव्य' में इनके लिये अधिक स्थानता नहीं रहती, किन्तु कवि अवसर निकालकर कुछ पंक्तियों में इनका संकेत कर देता है, कभी-कभी पात्रों के माध्यम से ही इनकी व्यंजना कर देता है।

रसभाव

'खण्डकाव्य' में एक रस का ही परिपाक होता है, अन्य रसों की स्थिति सम्भव नहीं है। हाँ इतना अवश्य है कि कवि अनेक भावों का प्रदर्शन करता चलता है। प्राय: वीर, श्रृंगार एवं करुण रस के खण्डकाव्य सफल होते हैं।

उद्देश्य

'खण्डकाव्य' का उद्देश्य उदात्त मानवीय सम्वेदनाओं का प्रकाशन होता है। भारतीय दृष्टि से पाठकों को आनन्द की अनुभूति करना उद्देश्य होता है। कवि जीवन के एक खण्ड की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करके पाठकों को आकृष्ट करता है। इतना अवश्य है कि महाकाव्य जैसी गुरुता इसके उद्देश्य में नहीं होती।

भाषाशैली

'खण्डकाव्य' की भाषा में भी गुरुत्व एवं गाम्भीर्य आवश्यक है। उसमें ध्वन्यात्मकता एवं लाक्षणिकता से चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। सरलता, सजीवता, कलात्मकता, संगीतात्मकता आदि गुण इसमें भी होने चाहिए। खण्डकाव्य में प्राय: एक ही प्रकार का छन्द प्रयुक्त होता है। यदि कई सर्ग हुए तो प्रसंगानुकूल छन्द भी परिवर्तित हो जाता है।

परिभाषा

'खण्डकाव्य' की परिभाषा भी एक समस्या है, किन्तु उसके तत्त्वों एवं उसकी विशेषताओं के आधार पर इसका रूप इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है–

"'खण्डकाव्य' वह वर्णनप्रधान प्रबन्धकाव्य है, जिसमें जीवन की किसी एक घटना, परिस्थिति या प्रसंग का चित्रण करने के लिए किसी इतिहास प्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध व्यक्ति को आधार बनाकर तीव्र प्रभावान्विति एवं रस व्यंजना का आश्रय लेकर गरिमामयी उदात्त शैली का प्रयोग किया जाता है।"

यह परिभाषा हिन्दी के सभी खण्डकाव्यों में घटित हो सकती है। सिद्धराज, यशोधरा, पञ्चवटी, नहुष, तुलसीदास आदि खण्डकाव्य इस तथ्य के प्रमाण माने जा सकते हैं।

एकार्थकाव्य

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने प्रबन्धकाव्य के दो ही भेद स्वीकार किये हैं–महाकाव्य, खण्डकाव्य किन्तु आचार्य विश्वनाथ मिश्र जी ने 'एकार्थकाव्य' को भी प्रबन्धकाव्य का एक भेद माना है।

स्वरूप

'एकार्थकाव्य' सामान्यतया एक सीमित एवं चुस्त कथानक को लेकर लिखी जाने वाली एक विस्तृत कविता ही कही जा सकती है। इसमें कथावस्तु संक्षिप्त, संगठित और तीव्रप्रभावपूण होती है। दो चार पात्रों से अधिक पात्रों के लिए स्थान नहीं रहता। उनमें केवल एक मुख्यपात्र के चरित्र की स्थूल रेखायें उभर पाती हैं, शेषपात्रों पर कोई विस्तार नहीं प्रदर्शित किया जाता। 'सम्वाद' भी अतिसीमित हो सकते हैं, किन्तु सर्वत्र नहीं। 'वातावरण' का चित्रण नाममात्र का ही होता है। कभी-कभी कवि प्रभावकारिता की वृद्धि के लिए कुछ पंक्तियों में वातावरण का चित्रण कर देता है। जैसे 'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने 'अमावस्या की कालिमा' का चित्रण किया है। इसमें किसी एक मुख्य रस का परिपाक किया जाता है और उसके सहयोगी भाव भी अतिसंक्षिप्त रूप में वर्णित रहते हैं। इनके लेखन में लेखक लक्ष्य की ओर तीव्रता से बढ़ता है, अतः उसकी भाषाशैली अत्यन्त प्रभावशील, परिष्कृत एवं उदात्त होती है।

हिन्दी में 'उद्धव शतक' 'राम की शक्तिपूजा', 'ग्रंथि' एवं 'किसान' (गुप्तजी) ऐसी ही रचनायें हैं।

परिभाषा

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'एकार्थकाव्य' की परिभाषा इस प्रकार

दी जा सकती है–"'एकार्थकाव्य' वह संक्षिप्ततम् प्रबन्धकाव्य है, जिसमें जीवन के किसी प्रभावपूर्ण लघुतम अंश की तीव्रतम कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए कवि रागात्मकता, एकध्येयता एवं मौलिकता का आश्रय लेता है।"

तत्त्व

एकार्थकाव्य के निम्नलिखित तत्त्व माने जा सकते हैं–

1. संक्षिप्ततम कथावस्तु 2. अल्पतम पात्र 3. रस-भाव 4. भाषाशैली 5. उद्देश्य।

मुक्तककाव्य

मुक्तककाव्य पूर्वापर प्रसंग से रहित खंड-अनुभूतियों का काव्य कहलाता है। मुच्यते इति 'मुक्तकम्' इस व्याख्या से भी इसकी पुष्टि होती है। इसमें एक तथ्य, वस्तु या परिस्थिति का एक ही छन्द–दोहा, सवैया, सोरठा, गीत आदि में सीमित पंक्तियों में चित्रण होता है। मुक्तक स्वयं में पूर्ण होता है, उसकी खंड अनुभूति में ही उसका सर्वस्व होता है। यह लघु आकार में अर्थगाम्भीर्य से पूर्ण रहता है और तीव्र प्रभावकारी होता है।

मुक्तक की रचना में उसी कवि को सफलता मिलती है, जो बौद्धिक न होकर 'भावप्रवण' हो और खण्ड-अनुभवों को पूर्ण बनाकर उनके चित्रण करने का अभ्यासी हो। कविवर बिहारी के दोहे इसी हेतु लोकप्रिय हैं। दीनदयाल की अन्योक्तियाँ, गिरधर की कुण्डलियाँ इसी गुण के कारण लोक और समाज में प्रिय हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि 'गागर में सागर भरने' की क्षमता जिस कवि में होती है, उसी सरस एवं भावुक कवि के मुक्तक लोकप्रिय हो पाते हैं, अन्यथा नहीं। इस सरसता की सृष्टि के लिए मुक्तककार को जीवन की विविध झाँलियों के बिम्ब प्रस्तुत करने के लिए तदनुकूल भाषा शैली का आश्रय लेना पड़ता है। यदि उसमें समाहार शक्ति न हुई, तब भी सफलता मिलने में सन्देह हो जाता है। इन सबके मूल में कवि की व्यक्तिगत अनुभूति का भी बड़ा महत्व होता है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि की अपेक्षा कवि की दृष्टि सूक्ष्म होती है। वह किसी स्थिति का सूक्ष्म आकलन करने में चित्रकार की भाँति जागरूक रहता है। जो कवि मुक्तक में बिम्बग्रहण नहीं प्रस्तुत कर पाता, उसके मुक्तक कभीप्रभावशील नहीं बन पाते।

मुक्तककार में उद्भावना शक्ति के चमत्कार का होना भी आवश्यक है। इस शक्ति के बिना मुक्तक में तीव्र प्रभावकारिता का गुण नहीं आ पाता। इसी प्रकार उक्तिवैचित्र्य, वाग्विदग्धता, संगीतात्मकता, भाषा सौंदर्य, स्वाभाविक अलंकृति और स्पष्टता मुक्तक की आवश्यक विशेषतायें हैं। मुक्तक रचना के छन्द पाठ्य और गेय दो प्रकार के होते हैं, जो पाठ्य होते

हैं, जैसे दोहा, सवैया आदि उन्हें भी गुनगुनाया जा सकता है, किन्तु आजकल ऐसे पाठ्य मुक्तक प्रचलित हो रहे हैं, जिनमें 'लयात्मकता' भी नहीं होती, वे कोरे गद्य होते हैं।

ये मुक्तक दो प्रकार के होते हैं–1. विषयप्रधान 2. विषयीप्रधान।

विषय प्रधान मुक्तकों में वाह्यविषय की प्रधानता रहती है, कवि के व्यक्तिगत जीवन के सुख या दु:ख से उसका निकटतम सम्बन्ध नहीं रहता। इनमें कवि निरपेक्ष दृष्टामात्र रहता है। उदाहरणार्थ सूक्तिमुक्तकों में कवि तटस्थ रहता है। इसके विषय नीति, शृंगार, प्रकृति आदि होते हैं।

विषयीप्रधान मुक्तक कवि की व्यक्तिगत सुखदु:खात्मक अनुभूतियों से सम्बद्ध होते हैं। 'आत्माभिव्यञ्जना' इन मुक्तकों का अनिवार्य तत्व है। यथा–मीरा के पद, महादेवी वर्मा के गीत, तुलसी की विनयपत्रिका के पद आदि। सरसता एवं रागात्मकता के कारण ऐसे मुक्तक विषयप्रधान मुक्तकों की अपेक्षा तीव्रतर प्रभावकारी होते हैं। इस श्रेणी में गीतों अथवा गीतियों का महत्वपूर्ण स्थान है, जिन्हें 'प्रगीतमुक्तक' भी कहते हैं।

मुक्तक की परिभाषा

"मुक्तक पूर्वापरप्रसंग रहित वह संक्षिप्त एवं प्रभावपूर्ण रचना है, जिसमें कवि एक छन्द के माध्यम से किसी तीव्र अनुभूति को काव्योचित उपकरणों के माध्यम से व्यक्त करता है।" (स्वरचित)

गीतकाव्य

'मुक्तककाव्य' के अन्तर्गत 'गीतकाव्य' को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि इसकी तुलना में पाठ्यमुक्तक उतने प्रभावशील नहीं होते।

स्वरूप

गीतकाव्य में कवि अपने व्यक्तिगत सुख दु:ख की तीव्रतम अनुभूति को व्यक्त करने के संगीत प्रधान कोमल शब्दावली को चुनता है। इसमें सरसता, कोमलता, रागात्मकता, लाघव, मार्मिकता और वैयक्तिकता के गुण विद्यमान होते हैं। गीतकाव्य कवि के हृदय का स्पन्दन है, इसमें वह प्रेम-कलह, वेदना, हर्ष-विषाद आदि का चित्रण करता है। इसकी रचना करने के लिए कवि वाह्य जगत को अपने अन्त:करण में ले जाकर इसे भावपूर्ण बनाता है। गीत के रूप में उसकी आत्माभिव्यंजना अत्यन्त सशक्त होती है। वह शब्द-साधना के साथ स्वर साधना भी करता है। महादेवी वर्मा के अनुसार–

"सुखदु:ख की भावावेशमयी अवस्था विशेष को गिनेचुने शब्दों में चित्रित कर देना ही गीत है। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर

वैयक्तिक सुख-दु:ख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता सुखदु:ख की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।"

परिभाषा

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने गीत या प्रगीत की अनेक परिभाषायें प्रस्तुत की हैं–

1. "मन में जब एक वेगवान् अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीतिकाव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते।" (रवीन्द्रनाथ टैगोर)

2. "साधारणत: गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदु:खात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" (महादेवी वर्मा)

3. "गीत काव्य या प्रगीत कवि की वह निजी सुख-दु:खमयी तीव्र संकल्पात्मक भावानुभूति का कोमल शब्दावली में संक्षिप्त खण्ड उच्छ्वास है, जो ध्वन्यात्मकता में गेय एवं संगीतात्मक होता है।" (स्फुटिक)

4. "गीतकाव्य कवि की व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूति का वह प्रभावपूर्ण संगीतात्मक प्रकाशन है, जिसमें प्रेषणीयता, घनत्व, लाघव, स्पष्टता एवं ध्वन्यात्मकता के गुणों का समुचित समावेश हो।" (डॉ० कृष्णदत्त अवस्थी)

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई प्रमुख परिभाषायें इस प्रकार हैं–

1. "सच्चा गीत वही है, जो भावात्मक विचार का भाषा में स्वाभाविक विस्फोट हो।" (अर्नेस्ट राइस)

2. गीतिकाव्य वह अन्तर्वृत्ति निरूपिणी कविता है, जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है, जिसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं, अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होता है।" ('गोमर')

3. गीत वह रचना है, जिसमें सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति हो अथवा व्यक्तिगत अनुभूतियों की प्रतिक्रिया का वह रूप है, जो एकान्त आनन्द में जाग्रत होता है।" (हर्बर्ट रीड)

4. गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी वैयक्तिकता की छाप है। किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है, जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।" ('हडसन')

गीतकाव्य की विशेषतायें

1. संगीतात्मकता 2. वैयक्तिकता 3. भावप्रवणता 4. सहज अन्त:-प्रेरणा 5. रसात्मकता 6. पूर्वापर सम्बन्ध शून्यता 7. संक्षिप्तता 8. मार्मिकता

9. स्वाभाविक भावाभिव्यक्ति 10. प्रवाहमयी शैली 11. सरलकोमल-कान्तपदावली 12. समाहित प्रभाव।

गीतकाव्य के तत्त्व

1. संगीतात्मकता 2. तीव्रभावानुभूति 3. आत्मभिव्यक्ति 4. रागात्मक अन्विति 5. प्रवाहमयी शैली 6. सहज अन्त:प्रेरणा।

संगीतात्मकता–गीत का सहजरूप उसकी संगीतात्मकता है। इससे उसकी प्रभविष्णुता में वृद्धि होती है। संगीतात्मकता के लिए शास्त्रीयता का पालन आवश्यक नहीं, उसमें नाद सौन्दर्य की आवश्यकता होती है। यह नाद सौन्दर्य कोमलकान्त पदावली, वर्णमैत्री आदि द्वारा सांध्य शब्द संगीत का जनक होता है। गीति में इसी आन्तरिक संगीत की महत्ता है।

तीव्रभावानुभूति-काव्यमात्र के लिए 'भावप्राधान्य' आवश्यक है, किन्तु गीत में कवि की तीव्रतम सुखात्मक या दु:खात्मक अनुभूति ही मुख्य होती है। एक ही भाव गीत की प्रतिपंक्ति में अनुस्यूत रहता है। यह अन्विति गीत की प्रभावकारिता में वृद्धि करती है।

आत्माभिव्यक्ति–'वैयक्तिकता' से ही गीत में तीव्र प्रभावकारिता आती है। इसी को आत्मतत्त्व भी कहते हैं। जब कवि के हृदय में आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, सुख-दु:ख आदि मनोवेगों का ज्वार तीव्रगति से उमड़ता है, तब कवि उसे व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है। यह आत्मभिव्यक्ति जितनी तीव्र होती है, गीत उतना ही रोचक, रसात्मक ग्राह्य लगता है।

रागात्मक अन्विति–कवि के मन में जो मूलभाव अपनी रागात्मकता को लेकर प्रथम पंक्ति में व्यक्त होता है, अगली पंक्तियों में उसी का विस्तार व्यक्त होता है। इस प्रकार गीत में आदि से अन्त तक एक ही मनोराग व्याप्त रहता है। यह गीत के लिए अन्यावश्यक है।

प्रवाहमयी शैली–शैली के माध्यम से ही गीत में प्रेषणीयता आती है। अत: शैली में प्रवाह आवश्यक होता है। इस हेतु कवि को सुन्दर एवं कोमल शब्दों का चयन करना पड़ता है, पद विन्यास में माधुर्य का ध्यान रखना होता है। स्वाभाविक अलंकरण, मूर्तविधान, ध्वन्यात्मकता एवं लाक्षणिकता आदि कलात्मक उपकरणों को आत्मसात् कर उनकी अभिव्यक्ति करनी पड़ती है।

सहज अन्त:प्रेरणा–गीत में सहज अन्त:स्फूर्ति आवश्यक होती है, वह कोरी कल्पना द्वारा साध्य नहीं होता। इसी का नाम 'हार्दिकता' है। जब तक आवेश के रूप में यह हार्दिकता व्यक्त नहीं होती, तब तक गीत सफल नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार गीत 'भावप्रधान' और 'विचार प्रधान' दो प्रकार के होते हैं। प्रथम में कवि के मानसिक उद्वेग की प्रधानता होती है, जिन्हें 'गीति या 'प्रगीत' कहते हैं और द्वितीय में 'विचार' को प्रधानता दी जाती है, इन्हें 'गीत' कहना संगत लगता है।

गीतों का वर्गीकरण वृत्ति, शैली, आकार आदि की दृष्टि से किया जाता है। इनमें वृत्ति के आधार पर प्रेमगीत, व्यंग्यगीत, शोकगीत, शिशु-गीत, नृत्यगीत, भक्तिगीत, वीरगीत, विरहगीत सम्बोधन गीत एवं आख्या-यिकागीत, ये 10 भेद प्रचलित हैं।

साहित्यिक गीत कलात्मक गीत कहलाते हैं, किन्तु ग्राम्यगीत 'लोक-गीत' के नाम से प्रख्यात हैं। सहजगेयता इनका मुख्य गुण है। दोनों प्रकार के गीतों का अपना-अपना महत्व है। □

परिशिष्ट

प्रश्नावली

1–'साहित्य' किसे कहते हैं ? इसकी प्रेरक शक्तियो एवं उद्देश्यों का विस्तृत वर्णन कीजिये ।

2–साहित्य का समाज के साथ सम्बन्ध बतलाते हुये, 'साहित्यिक सत्य' की मीमांसा कीजिये ।

3–'कला' की परिभाषा देते हुये ललित कलाओं में 'काव्यकला' का सर्वोच्च स्थान सिद्ध कीजिये ।

4–'ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि से सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं ।' इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिये ।

5–'कला कला के लिये' एवं 'कला जीवन के लिये' इन सिद्धान्तों के स्वरूप पर विचार कीजिये ।

6–क्या 'काव्य' और 'विज्ञान' वस्तुत: परस्पर विरोधी हैं ? युक्तियुक्त उत्तर दीजिये ।

7–'काव्य के सत्य' और 'विज्ञान के सत्य' का अन्तर बतलाकर दोनों की मूलभूत एकता का प्रतिपादन कीजिये ।

8–'काव्यात्मा' के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों के मतों की समीक्षा कीजिये ।

9–'अलंकार-सम्प्रदाय' का परिचय दीजिये और काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारित कीजिये ।

10–'वक्रोक्ति' और 'अभिव्यंजनावाद' के साम्य-वैषम्य पर विस्तृत प्रकाश डालिये ।

11–'रसनिष्पत्ति' के सम्बन्ध में प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों के मतों की समुचित समीक्षा कीजिये ।

12–साधारणीकरण' का क्या तात्पर्य है ? काव्य के क्षेत्र में इसकी स्थिति स्पष्ट कीजिये ।

13–शब्द शक्तियों का संक्षिप्त परिचय दीजिये और काव्य में इनकी महत्ता प्रतिपादित कीजिये ।

14–'लक्षणा' शक्ति का सांगोपांग परिचय देकर व्यंजना के साथ इसका सम्बन्ध बतलाइये ।

15–'व्यंजना' के स्वरूप एवं उनके प्रकारों पर एक विस्तृत लेख लिखिये ।

16–भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की काव्य परिभाषाओं का उल्लेख करते हुये काव्य की एक 'समन्वित-परिभाषा' लिखिये ।

17–भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत 'काव्यतत्त्व' कौन-कौन हैं ? दोनों का परिचय देकर समन्वय स्थापित कीजिये ।

18–काव्य तत्त्वों का परिचय देते हुये भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई काव्य परिभाषाओं की समीक्षा कीजिये ।

19–काव्य में 'कल्पना' के महत्त्व पर विस्तृत विचार कीजिये ।

20–'शैली' किसे कहते हैं ? इसके विभिन्न रूपों का परिचय देते हुये इसकी महत्ता पर प्रकाश डालिये ।

21–'क्रोचे' के 'अभिव्यंजनावाद' का संक्षिप्त परिचय देते हुये इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये ।

22–'अरस्तू' के 'अनुकरण सिद्धान्त' का परिचय देते हुये इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये ।

23–'विरेचन-सिद्धान्त' (कैथार्सिस) का विस्तृत परिचय दीजिये और इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये ।

24–'प्लेटो' के 'काव्य सिद्धान्त' विषय पर संक्षिप्त प्रकाश डालिये ।

25–'रिचर्डस्' के 'मनोवैज्ञानिक विश्लेषणवाद' की व्याख्या कीजिये और इसके गुण-दोषों पर विचार प्रकट कीजिये ।

26–'टी॰ एस॰ इलियट' काव्यधारणाओं का आलोचनात्मक परिचय दीजिये ।

27–भारतीय दृष्टि से काव्य का वर्गीकरण कीजिये और 'दृश्यकाव्य' की महत्ता पर प्रकाश डालिये ।

28–'नाटक रचना' के सम्बन्ध में प्राक् एवं पाश्चात्य विचारधाराओं का परिचय दीजिये ।

29–'एकांकी' के तत्त्वों का परिचय दीजिये और नाटक तथा एकांकी के अन्तर को स्पष्ट कीजिये ।

30–'उपन्यास' किसे कहते हैं ? इसके तत्त्वों पर प्रकाश डालिये और कहानी के साथ इसकी तुलना कीजिये ।

31–'निबन्ध' के स्वरूप का परिचय देते हुये उसकी विशेषताओं एवं प्रकारों का परिचय दीजिये ।

32–'साहित्य' में आदर्श एवं यथार्थ की सीमायें निर्धारित कीजिये और दोनों के अन्तर स्पष्ट कीजिये ।

33–'आलोचना' की महत्ता बतलाते हुए उसके विविध भेदों का परिचय दीजिये ।

34–'आलोचना' किसे कहते हैं ? उत्तम आलोचक के गुणों पर प्रकाश डालिये ।

35–'जीवनी' और 'संस्मरण' का परिचय दीजिये और दोनों का अन्तर कीजिये ।

36–रेखाचित्र और संस्मरण का तुलनात्मक परिचय देते हुए दोनों के साम्य एवं वैषम्य पर प्रकाश डालिये ।

37–हिन्दी गद्य की नूतन विधाओं में से किन्हीं दो का परिचय दीजिये ।

38–'गद्यकाव्य' का परिचय दीजिये और 'भावात्मक निबन्ध' के साथ इसकी तुलना कीजिये ।

39–'इण्टरव्यू' और 'रिपोर्ताज' के स्वरूपों पर प्रकाश डालिये ।

40–संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–(क) गीतकाव्य (ख) महाकाव्य (ग) खण्ड-काव्य (घ) आत्मकथा (ङ) औचित्य सम्प्रदाय (च) शब्दशक्ति (छ) अभिव्यंजनावाद (ज) रीति सम्प्रदाय (झ) रसनिष्पत्ति (ञ) वक्रोक्ति सम्प्रदाय ।
